श्री जिनेन्द्र वर्णी स्मरणाञ्जलि

सम्पादक मण्डल

- डॉ० सागरमल जैन
- जमनालाल जैन
- गणेश प्रसाद जैन
- जयकृष्ण जैन (मुन्नी बाबू)
- कु० (डॉ०) निर्मला जैन
- सुनील जैन

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन समाज काशी

प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन समाज काशी
K. ३७/५१, ५२ ग्वालदास लेन, वाराणसी-२२१००१

वी० नि० सं० २५१०
सन् १९८४

मुद्रक :
बाबूलाल जैन फागुल्ल
महावीर प्रेस
भेलूपुर, वाराणसी

श्रद्धेय श्री जिनेन्द्र वर्णी

प्रकाशकीय

काशी का यह गौरव रहा है कि जिनेन्द्र वर्णी जैसे संत ने अपनी कठोर साधना के १५ वर्ष यहाँ व्यतीत किये। विगत वर्षों में हम सबको उनको अत्यन्त करीब से देखने का अवसर मिला, उनकी भाव गंभीर वाणी सुनने को मिली। धर्म के मूल तत्त्वों को जिस सरलता एवं सहजता से वे समझाते रहे यह उस महामानव के व्यक्तित्व का ही कमाल था।

वर्णी जी का जीवन अत्यन्त सरल एवं त्यागमय रहा। सत्य प्रेम एवं त्याग की आप प्रतिमूर्ति रहे। लोक दिखावे से दूर रहने वाले परम संत हमें समणसुत्तं एवं जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश जैसे अप्रतिम साहित्य दे गये।

काशी के जनमानस पर आपका विशेष प्रभाव रहा है। अस्तु, काशी के दि० जैन समाज ने आपको श्रद्धा-सुमन चढ़ाने हेतु आपका एक स्मारक दि० जैन मंदिर, सारनाथ के प्रांगण में बनवाया है, वहीं आपके जीवन संबन्धी मौलिक संस्मरण, निबन्ध, साक्षात्कार इत्यादि का प्रकाशन 'जिनेन्द्र वर्णी स्मरणांजलि' में प्रकाशित कर रहा है। वर्णी जी की प्रेरणा को जीवंत रखने हेतु 'जिनेन्द्र वर्णी विद्या संस्थान' की स्थापना भी की जा रही है। इस बृहद् आयोजन में समाज के विभिन्न वर्गों से जो सहयोग मिला है उसके लिए हम हृदय से कृतज्ञ हैं। यह आप सबकी लगन एवं कर्मठता का ही परिणाम है कि इतना बड़ा सफल आयोजन हो पा रहा है। निश्चय ही आप सब धन्यवाद के पात्र हैं।

अन्त में, भौतिक रूप से वर्णी जी हमारे बीच नहीं हैं किन्तु हम सबको वे एकदर्शन दे गये हैं। उनका जीवन ही दर्शन है जिसमें भोगा हुआ सत्य है, अपने सिद्धान्तों से साक्षात्कार है। वे ऐसे पुष्प थे जिसकी सुगंध आज भी हमारे बीच है। ऐसे सन्त को शतशः नमन।

श्री रिसब दास जैन
अध्यक्ष दि० जैन समाज, काशी

सम्पादकीय

पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी के समाधिमरण की प्रथम वर्षी के अवसर पर उनके प्रति समर्पित और श्रद्धाशील वाराणसी के सुश्रावकों ने एक स्मरणाञ्जलि प्रस्तुत करने का निश्चय किया है वह श्लाघ्य ही कहा जाएगा, क्योंकि महापुरुषों का पुण्य-स्मरण सदैव ही मंगल कारक होता है वह हमारी चेतना को प्रबद्ध और साधना सम्बद्ध बनाता है। स्मरणाञ्जलि के रूप में प्रकाशित इस कृति के लिए हमें समाज के सभी वर्गों से भावाञ्जलियाँ प्राप्त हुई हैं। चाहे उनमें अनेक साहित्य और भाषा की दृष्टि से चाहे प्राथमिक स्तर की रही हों किन्तु उसके पीछे प्रेषकों की जो अप्रतिम सहज श्रद्धा रही है वह अधिक महत्त्वपूर्ण है और उसके कारण ही उन्हें छोड़ पाना हमारे लिए सम्भव नहीं हुआ। अतः हमने यथाशक्ति सभी की भावनाओं को समादर देते हुए उनकी भावाञ्जलियों को स्थान दिया है फिर भी अपनी सीमा और साधनों को ध्यान में रखकर कुछ लोगों के लेखों को संक्षिप्त करना पड़ा है और कुछ को छोड़ देना पड़ा है—इसके लिए हम उन लेखकों से क्षमा-प्रार्थी हैं और यही अपेक्षा रखते हैं कि वे इसे अन्यथा नहीं जानें। इस कृति के प्रकाशन मे चाहे मेरा नाम विशेष रूप से जोड़ा जा रहा है किन्तु मेरा प्रयत्न तो अकिंचित्कर ही है। मैं इसे एक सामूहिक प्रयत्न ही मानता हूँ। श्री मुन्नी बाबू, श्री गणेशप्रसाद जी, श्री जमनालाल जी जैन और भाई सुनील जैन के ही प्रयत्नों और पत्र-व्यवहार का ही यह फल है कि इतनी अधिक सामग्री सहज ही एकत्रित हो गई। कु० डॉ० निर्मला एव सुश्री डॉ० रजनी जैन ने इसके भाव और भाषा के सम्पादन और वर्गीकरण के हेतु श्रम किया है। यदि इन दोनों का यह सहयोग हमें उपलब्ध नहीं होता तो सम्भवतः यह कार्य आगे के लिए टालना पड़ता। मैं तो अपनी व्यस्तताओं और स्वास्थ्य के कारण इसमें सभी लेखों को पूरी तरह देख भी नहीं पाया। अतः प्रकाशन की वेला में उनके सहयोग को भुलाया नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त श्री नरेन्द्र कुमार जैन का भी महत्त्वपूर्ण सहयोग है।

हम अपने उन उदारमना दाताओं के आभारी हैं जिनके सहयोग के परिणाम स्वरूप यह कृति साकार होकर आप लोगों के हाथों में पहुँच रही है। पुनः प्रकाशन व्यवस्था करने में श्री गणेश प्रसाद जी जैन, श्री मुन्नी बाबू (जय कृष्ण जैन) और भाई सुनील जी ने अथक श्रम किया अतः हम उनके प्रति भी अपना धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

महावीर प्रेस ने जिस श्रद्धा भाव, तत्परता और सुन्दरता से इसके मुद्रण कार्य को पूरा किया है उसके लिए हम उनके अत्यन्त आभारी हैं। इसकी साज-सज्जा आदि में महावीर प्रेस के संचालक भाई बाबूलाल जी फागुल्ल का जो सहयोग है उसे केवल शाब्दिक धन्यवाद देकर भुलाया नहीं जा सकता। इसके प्रूफ रीडिंग आदि कार्यों में आचार्य पं० शिवदत्त मिश्र जी शास्त्री का जो सहयोग हमें मिला है उसे भी विस्मृत नहीं किया जा सकता है। अन्त में हम उन सभी के अत्यन्त आभारी हैं जिन्होंने इस पुण्य कार्य में व्यक्त या अव्यक्त रूप में कोई योगदान किया है।

डॉ० सागरमल जैन
एवं
सम्पादक मण्डल के सदस्यगण

संतों के आशीर्वचन

पूज्य १०८ आचार्य श्री समन्तभद्र जी महाराज

गुरुदेव श्री प० पू० समंतभद्र महाराज जी ने आप सभी को सद्धर्मपूर्वक आशीर्वाद कहा है। स्व० श्री १०५ जिनेन्द्र वर्णी जी कोल्हापुर में सद्भावपूर्वक पधारे। कुछ माह तक रहे। उनका जिनवाणी प्रेम, स्वाध्याय-रुचि तथा ज्ञान-साधना के प्रशस्त अध्यवसाय को प्रत्यक्ष देखकर प्रसन्नता हुई। आज समाज की एक विभूति असंभव हो गयी, परन्तु उन्होंने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के रूप में विचार शील और विवेकी जनों के हृदय में अपना स्थान सदा के लिए प्रतिष्ठित किया है। एक ही व्यक्ति के द्वारा भव्य और दिव्य इस रूप में जो महत्तम कार्य हुआ, वह बेजोड़ है। उसका जितना गौरव किया जाय, थोड़ा है।

सल्लेखना के अवसर पर

पूज्य १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी का उद्बोधक वचन, अप्रैल १९८३

"यदि कोई प्राणी तीर्थ-वंदना पर निकला हो और मार्ग में ही उसे किसी दृढ़-व्रती द्वारा सल्लेखना धारण करने का समाचार ज्ञात हो जाय, तो उसे तीर्थ-वन्दना स्थगित कर समाधि-स्थल पर जाकर उस महामना व्रतधारी का दर्शन सर्वप्रथम करना चाहिये, क्योंकि 'जीवन्त-तीर्थ' तो यही हैं—ये चेतन हैं, जब कि परम्परागत तीर्थस्थल 'अचेतन' हैं।"

१०८ मुनि संयमसागर जी महाराज

समाधि सराहनीय रही। साधना अटूट रही। लोगों को प्रेरणा मिली। चिन्तन-मनन नित होता रहा। 'स्व' पर दृष्टि लगी रही। ध्येय की दृष्टि से साधना सफल हुई।

आत्मस्थ व्यक्ति

आचार्य तुलसी, युवाचार्य महाप्रज्ञ

जिनेन्द्र वर्णी आत्मस्थ व्यक्ति थे। दुर्बल शरीर में प्रबल आत्मा / मनुष्य केवल शरीर नहीं है। उसके पास मन है, चित्त है और आत्मा है। उनका शरीर प्रतिनिधित्व करने वाला मस्तिष्क है। जिसका मस्तिष्क सुन्दर होता है, वही व्यक्ति वास्तव में सुन्दर होता है। जिनेन्द्र वर्णी वास्तव में सुन्दर पुरुष थे। उनके सौन्दर्य को हमने देखा था, भगवान् महावीर की पच्चीसवीं निर्वाण शताब्दी के अवसर पर।

'समण सुत्तं' का संकलन वर्णी जी ने कर लिया। उसके निरीक्षण के लिए हम बैठे। लगभग आधे संकलन का परिवर्तन हो गया। जैसे-जैसे गाथाओं का परिवर्तन सुझाया गया, वैसे-वैसे वे अपनी स्वीकृति देते गए। उस समय उनके अनाग्रही, सत्याग्रही, सहज-सरल, गुणग्राही और असाम्प्रदायिक व्यक्तितत्व की झलक हमें मिली। उस कार्य की अवधि में परस्पर इतना आत्मीय-भाव बन गया कि वैचारिक दूरी कहीं लगी ही नहीं। हमने उस अवधि में मुनिचर्या के सम्बन्ध में व्यक्तिगत बातें भी कीं। परस्पर एक दूसरे को समझने का बहुत अच्छा अवसर मिला। जिनेन्द्र वर्णी के स्वस्थ और सुन्दर व्यक्तित्व के प्रति हमारे मन में गहरा समादर का भाव बना हुआ है। उस स्वर्गीय आत्मा ने अपने पीछे अनुकरणीय पदचिह्न छोड़े हैं।

बिनोवा की शुभ कामनाएं

27-10-1976

बाबा की

शुभ कामना

अनुक्रम

खण्ड १ : जीवन दर्शन

खण्ड २ : साहित्य एवं कृतित्व

खण्ड ३ : पत्रावली में झाँकता वर्णी दर्शन

खण्ड ४ : संस्मरण एवं श्रद्धाञ्जलि

खण्ड ५ : समाधि साधना

■

जीवन दर्शन

• •

सन्तपुरुष जिनेन्द्र वर्णी

डॉ० सागरमल जैन, वाराणसी

पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी से मेरा साक्षात् परिचय मेरे वाराणसी आगमन के पश्चात् ई० सन् १९८० में ही हो सका, फिर भी मैं उनके कृतित्व से पूर्व परिचित था। उनकी विद्वत्तापूर्ण कृति 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के चारों खण्डों का उपयोग यद्यपि मैं अपने शोध-कार्य के दौरान तो मैं नहीं कर सका किन्तु बाद में वे मुझे उपलब्ध हो गये। उन्हें देखकर मैं उनकी एकनिष्ठ साधना और विद्वत्ता का कुछ अहसास कर सका। फिर मुझे उनकी दूसरी कृति 'जैनधर्म सार' प्राप्त हुई, जो 'समणसुत्तं' का पूर्व रूप थी, किन्तु इन सबसे मेरे समक्ष उनके व्यक्तित्व का वह रूप उजागर नहीं हो सका, जिसने मुझे आगे चलकर उनके प्रति श्रद्धान्वित बना दिया। अपने वाराणसी आगमन के बाद किस तिथि को मुझे उनके प्रथम दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ, यह तो मुझे पूर्णरूपेण याद नहीं है, किन्तु इतना निश्चित है कि उनके प्रथम दर्शन में ही उनकी सरलता एवं सहजता के कारण मैं उनके प्रति श्रद्धाशील बन गया। फिर तो अनेक बार उनके दर्शन और सान्निध्य का लाभ प्राप्त हुआ और मेरे आग्रह पर वे अस्वस्थ होते हुए भी दो-तीन बार विद्याश्रम में पधारे।

विद्वानों के प्रति मेरे मन में सम्मान का भाव तो रहता है, किन्तु जब तक उनके व्यक्तिगत जीवन में चारित्रिक ऊँचाई नहीं मिलती, वे मुझे अधिक प्रभावित नहीं कर पाते। मेरी दृष्टि में विद्वत्ता वही महत्त्वपूर्ण है जो हमारे व्यक्तिगत जीवन एवं चारित्र को ऊँचा उठा सके। अन्यथा ज्ञान को आजीविका का साधन बनाकर जीने वाले मुझ जैसे विद्या-व्यवसायी तो अनेक मिल जाते हैं।

श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णी मेरी दृष्टि में केवल इसलिए महान् नहीं थे कि वे असाधारण कोटि के विद्वान् थे या जैन विद्या की सेवा हेतु उन्होंने अथक परिश्रम किया, अपितु वे इसलिए महान् थे, उन्होंने अपनी अभीक्ष्ण प्रज्ञा से जो कुछ जाना था, उसे पूरी ईमानदारी से अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न किया था, उन्होंने जिनवाणी को मात्र पढ़ा ही नहीं अपितु जीवन में जिया। शाब्दिक ज्ञान और शब्द-सूचनाएँ तो आज मनुष्य से अधिक 'मशीन' देख सकती है, किन्तु वे हमारी श्रद्धा-केन्द्र नहीं बनती। वह पण्डित भी जो या तो विद्या का विक्रेता बना हुआ था उससे मात्र अपने अहंकार का पोषण करता है, आदरास्पद नहीं होता। ज्ञान वही है जो जीवन में बोले। ज्ञान वही है जो जीवन में जिया जाये, अन्यथा वह सूचना-समूह से अधिक कुछ नहीं। और ऐसा पण्डित जो ज्ञान को जानता है; जीता नहीं, अधिक खतरनाक होता है। क्योंकि उसके जीवन के सारे मानदण्ड दोहरे होते हैं। उसके जीवन में छल-छद्म तथा अहंकार प्रवेश कर जाते हैं। भगवान् महावीर ने बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहा है कि—

> भणन्ता अकरेंन्ता य, बन्ध-मोक्खपइण्णिणो।
> वाया विरियमेत्तेण, समासासेन्ति अप्पयं॥
> न चित्ता तायए भासा, कओ विज्जाणुसासणं ?
> विसन्ना पाव कम्मेहिं, बाला पंडिय माणिणो॥
>
> —उत्तराध्ययन (६-१०-११)

अर्थात्—जो बन्ध और मोक्ष के सिद्धान्तों की स्थापना तो करते हैं, कहते बहुत कुछ है किन्तु करते कुछ नहीं हैं, वे ज्ञानवादी केवल वाग्वीर्य से—अर्थात् वाणी के बल से अपने को

आश्वस्त करते रहते हैं। विविध भाषाएँ रक्षा नहीं करती हैं, विद्याओं का अनुशासन भी कहाँ सुरक्षा देता है ? जो इन्हें संरक्षक मानते हैं, वे अपने आपको पण्डित मानने वाले अज्ञानी जीव पाप-कर्मों में डुबे हुए हैं।

यह ठीक है कि स्व० जिनेन्द्र वर्णी जैन विद्या के गम्भीर विद्वान् थे। यह भी सत्य है कि जैन विद्या के क्षेत्र में उनका जो अवदान 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष'' और ''समण सुत्तं'' के रूप में है उसे कभी भी भुलाया नहीं जा सकता है। उनकी विद्वत्ता महत्त्वपूर्ण है किन्तु उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है उनकी संतता, साधुता। वे शतप्रतिशत एक साधुमना पुरुष थे। उनके जीवन का जो उज्ज्वलतम पक्ष रहा है वह है उनकी सरलता, सहजता और समन्वयवादी उदार दृष्टि। जैसे-जैसे वे ज्ञान की अतल गहराइयों में डूबते गये, वैसे-वैसे ही उनकी सरलता, सहजता घोर वृद्धिगत होती रही। सन्त जीवन की अगर कोई कसौटी हो सकती है तो वह है उसकी सरलता सहजता और लोक मंगल हेतु तत्परता। और इस अर्थ में स्व० वर्णी जी शतप्रतिशत संत थे। उन्होंने अपने जीवन में जो प्रमाणिकता और स्पष्टवादिता रखी उसकी कोई मिशाल मिलना ही दुर्लभ है। उन्होंने जो भी व्रत लिया उसका पूरी प्रामाणिकता के साथ पालन किया। और जब उन्होंने उसके पालन में शारीरिक परिस्थितियों के कारण अथवा जैन विद्या की सेवा की दृष्टि से कठिनाई महसूस की तो उसे बिना मान-अपमान और सामाजिक आलोचनाओं तथा प्रत्यालोचनाओं की परवाह किये बिना समाज के सम्मुख ही छोड़ भी दिया। अपने जीवन के प्रति निर्लिप्त रहते हुए उन्होंने अनेकबार 'समाधि मरण' हेतु निश्चय भी किया, किन्तु जैन विद्या की सेवा के अवसर और समाज के आग्रह को देख कर उसे तब-तक टालते भी रहे जब तक उन्हें यह लगा कि इस शरीर के माध्यम से माँ सरस्वती की कुछ उपासना की जा सकती है और विद्या के क्षेत्र में कुछ अवदान दिया जा सकता है या स्व-पर का कल्याण किया जा सकता है। किन्तु जब उन्होंने यह अनुभव कर लिया कि अब यह शरीर इस योग्य नहीं रह गया है कि वह विद्या और समाज की विशेष सेवा-कर सके तो उन्होंने सहज भाव से उसके विसर्जन का दृढ निश्चय कर लिया। उनका पूरा जीवन 'औघड़ दानी' का जीवन था, जिसने सदा ही दिया, लिया कभी नहीं। उनमें न तो लोकैषणा थी और न देह पोषण का भाव, अतः अपने जीवन को कभी भी उन्होंने समाज पर भार नहीं बनाया। जीवन में इतनी सहजता, अनासक्ति और निर्भीकता के दर्शन हमें महापुरुषों में ही होते हैं और इस अर्थ में पू० वर्णी जी शतप्रतिशत महापुरुष थे। उनकी निर्लिप्त जीवन--शैली के सम्बन्ध में किसी शायर का निम्न शेर बहुत ही मौजू है--

लायी हयात आ गये, कजाले चली चले चले।
न अपनी खुसी आयें, और न अपनी खुसी गये॥

आज जब समाज में---चाहे फिर वह मुनि वर्ग हो या गृहस्थ-वर्ग- जीवन का दोहरापन अर्थात् अन्दर और बाहर की भिन्नता स्पष्ट रूप से बढ़ती हुई जा रही है, ऐसी स्थिति में पूज्य वर्णी जी का अन्तर बाह्य एक रूप सहज और सरल जीवन निश्चित रूप से उनके प्रति जन-जन की श्रद्धा का केंद्र बना है। ऐसा व्यक्तित्व मानव समाज को दुर्लभता से ही प्राप्त होता है। उन्होंने जिस निष्ठा और अनाकुलता से ''समाधि मरण'' के सुमेरु पर आरोहण किया, उससे उनकी अनासक्ति, उनका निर्ममत्व और देह भाव से ऊपर उठा होना सहज ही सिद्ध हो जाता है। उनके जीवन-दर्शन को देख कर श्रीमद् राजचन्द्र का निम्न पद्य स्मृति-पटल पर अंकित हो जाता है--

देह छता जेहनी दशा, वर्ते देहातीत।
ते ज्ञानी नां चरण मां, वन्दन हो अगणीत॥

●

राजमार्गों का यात्री

डॉ० गोकुलचन्द्र जैन
अध्यक्ष, प्राकृत एवं जैनागम विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

उनके व्यक्तित्व के विकास की यात्रा दो राजमार्गों से एक साथ चल रही थी। एक वह जो बाहर दिखती थी, दूसरी वह जो अन्तरतम में चल रही थी।

आचार्यों ने आत्मा को 'ज्ञान' शब्द से अभिहित किया है—'णाणंअप्पत्ति मदं।' कर्म के आवरण की परतें जैसे-जैसे क्षीण होती चलती हैं ज्ञान का सूरज और, और अधिक प्रभामंडित प्रकट होता जाता है। मति और श्रुत क्षायिकज्ञान की ओर क्षिप्र गति से डग भरते हैं। अवधि और मनःपर्यय बीच के पड़ाव नहीं हैं, ज्ञान की भास्वरता के द्योतक मापदंड मात्र हैं। ज्ञान परोक्ष से प्रत्यक्ष के शिखर पर पहुँचने के लिए डग भरता है तो उसका पड़ाव तलहटी नहीं उत्तुंग शिखर का भाल ही होता है।

जिनेन्द्र वर्णी एक ऐसे ही विकास यात्रा के पथिक थे।

लगभग दो दशक पूर्व की बात है। काशी से बहुत दूर राजस्थान के एक अंचल में छोटी लाइन की एक लोकल ट्रेन धीरे-धीरे आगे सरक रही थी—नसीराबाद। गाड़ी थमी। दरवाजे से मैंने प्लेटफार्म पर नजर उठायी तो मेरे सामने दो व्यक्ति खड़े थे—"आप बनारस से आये हैं न? गोकुलचन्द्र जी साहब? हम आपको लेने आये हैं।"

ये थे सेठ टीकाराम जी। सफेद धोती, कमीज और राजस्थानी काली टोपी। प्रश्न भी किये और उत्तर भी स्वयं ही दे दिये। एकदम राजस्थानी लहजा; अत्यन्त विनम्र और सहज भाव।

"लेकिन आपने पहचाना कैसे? पहले तो हम लोग कभी मिले नहीं?" मैंने कहा।

"डॉक्टर साहब! कोई दिक्कत नहीं हुई। एक तो लोकल ट्रेन में सब थर्ड क्लास में ही चलते हैं; आप अकेले सेकेंड में बैठे थे। दूसरे आपका कोट पैंट, टाई। देखिए न, कोई पहने है?"

मैं भला इसका क्या उत्तर देता। मन ही मन उनकी समझ की प्रखरता और सहजता को सराहा। दोनों लोगों ने मेरा सामान ले लिया था और हम लोग प्लेटफार्म से बाहर निकल रहे थे। मुझे लगा—यात्रा का मंगलचरण शुभ हुआ। उद्देश्य भी अवश्य सफल होगा।

मैं जिनेन्द्र वर्णी जी से 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' की प्रेस कापी लेने नसीराबाद गया था।

वर्णी जी के पास पहुँचा। खादी का धौत धवल चादर। लँगोटी भर कहिये तो हर्ज नहीं, अनावृत धरती पर छोटी सी चटाई, चटाई नहीं उसे कुशासन ही कहें। सामने काठ की सादी चौकी। दोनों ओर सँवार कर रखे शास्त्र। तरह-तरह के पेन-पेन्सिल। लेखन में तन्मय वर्णी जी। "तो यह है जिनेन्द्र वर्णी की लेबोरेटरी। एकदम किसी वैज्ञानिक की प्रयोगशाला।" मैंने मन ही मन कहा। फिर 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के विषय में बात शुरू हुई। मैं कभी वर्णी जी को देखता, कभी कोश की प्रेस कापी को। कभी उनकी बातों को सुनता। छोटी-छोटी स्लिप पर एक-एक वाक्य अंकित करने से लेकर तीन हजार पृष्ठों की प्रेस कापी तैयार करने तक

का इतिहास एक अकेला आदमी और इतना बड़ा कार्य ! मेरे मानस में सुमेरु की संकल्पना कौंध गयी। मिश्र के पिरामिड याद आये। पुष्पदन्त और भूतबलि के षट्खण्डागम की संरचना का इतिहास आँखों के सामने उभर आया। इनसाइक्लोपीडिया—विश्व कोशों के निर्माण का ध्यान आया। और फिर कवीन्द्र रवीन्द्र की कविता उभर आयी 'एकला चलो।' और फिर आचार्यों की बातें—आत्मा अनन्त शक्तिमान् है। वह अपने पुरुषार्थ से जनम-जनम के कर्म बन्धन को तार-तार करके नष्ट कर सकता है। आत्मा परमात्मा बन सकता है।

सब संभव है, सब संभव है। विद्वानों की एक बड़ी टीम मिलकर कई वर्षों में जिस कार्य को सम्पन्न करती। लाखों रुपये जिसपर व्यय होते, उसे एक फ़क़ीर ने, एक गृह-विरत मनीषी ने अकेले और बिना व्यय के सम्पन्न कर दिया। जैसे 'जादुई कार्य हो।'

फिर जिनेन्द्र वर्णी से अनेक बार मिलना हुआ। अनेक विषयों पर चर्चायें हुईं। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के जन्म की कथा अपने आप चर्चा में से निर्मित होती जा रही थी। जैसे वही कह रहे हों "एक दिन मुझे सहसा लगा जैसे सामने से कोई दीवार चरमराकर बिखर गयी हो। आवरण की एक मोटी सी पर्त एक दम हट गयी। मुझे आचार्यों की बातें, शास्त्रचर्चा अच्छी लगने लगी। मेरी रुझान बढ़ी। मैं स्वाध्याय में प्रवृत्त हो गया।"

"कैसे लिखे होंगे आचार्यों ने इतने गहन और विशालकाय ग्रन्थराज प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, कन्नड़, राजस्थानी, गुजराती न जाने कितनी भाषाओं में हजारों-हजार वर्षों से अनवरत लिखते रहे। अथाह ज्ञान। कैसी रही होगी उनकी प्रज्ञा। मैं अपनी स्मृति में एक पंक्ति भी नहीं सँजो पाता। कितनी बार यह सब मन में आया। मुझे अपने ज्ञान की सीमा समझ में आने लगी। और तभी एक उपाय सूझ गया। क्लास में नोट बनाते थे न। जो उपयोगी लगता है, महत्त्वपूर्ण लगता है, जिसे स्मृति पटल पर अंकित करने का मन करता है, उसे क्यों न नोट कर लिया जाये। कागज का एक टुकड़ा रहेगा। जब चाहा उठाकर देख लिया। ग्रन्थ में से खोजना भी कठिन होता है और मैंने कागज के छोटे-छोटे एक साइज के टुकड़े बनाये। एक लिफाफे में सँवार कर रख लिये। स्वाध्याय का क्रम चल ही रहा था। पढ़ते-पढ़ते एक टुकड़ा निकालता। ग्रन्थ में से ज्यों का त्यों प्राकृत संस्कृत का वाक्य लिखता। सावधानी से उसे मिलाता। फिर उसी ग्रन्थ में से उस वाक्य का हिन्दी अनुवाद उतारता। और तब दूसरे लिफाफे में सहेज कर रख लेता।"

"तो यह था 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' का गर्भकल्याणक" मैंने कहा।

'आप इसे कुछ भी कहें मैंने तो अपनी अल्पज्ञान की बात कही।' उन्होंने अत्यन्त सहज भाव में कहा। वे कहते जा रहे थे—

"और इस तरह एक वर्ष, दो वर्ष, तीन वर्ष। पता नहीं फिर तो जैसे दिन, महीना, वर्ष की गणना ही समाप्त हो गयी। एक अनवरत क्रम चलता रहा। कागजों के टुकड़ों का अंबार लगता गया।

फिर अपने आप ही लगा कि एक-एक विषय की स्लिप अलग-अलग होनी चाहिए। फिर सब को अनुक्रम से रखने की बात आयी।

आज चार जिल्दों में बँधे ये तीन हजार पृष्ठ देख रहे हैं। कभी कल्पना भी नहीं की थी कि छोटे-छोटे कागज के टुकड़ों पर आचार्यों के जो वचन लिख रहा हूँ उन्हें एक दिन यह स्वरूप प्राप्त होगा।

इसका नाम 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' कब और कैसे हो गया, यह भी मैं ठीक-ठीक नहीं बता सकता।

कोई मेकेनिकल प्रोसेस नहीं। कहीं कुछ प्रयत्नपूर्वक और नियोजित नहीं। सब सहज भाव से अपने आप होता गया।

मैं तो अपनी आत्मा को मांज रहा था। ज्ञान को निखारने का प्रयत्न कर रहा था। डाक्टर सा०। मेरा इसमें कुछ भी नहीं है। सब आचार्यों की धरोहर है। मैं तो छद्मस्थ ठहरा। छद्मस्थ का ज्ञान होता कितना-सा है। वास्तविक ज्ञान तो नही है, जिसमे लोकालोक हस्तामलकवत् प्रतिभासित होते हैं।"

मैं मन ही मन मुग्ध था उनकी ऋजुता पर। उनके अभीक्ष्णज्ञानोपयोग पर। असीम निस्पृहता और अकर्तृत्व भाव पर। मुझे लगा आचार्य कुन्द-कुन्द का समयसार तो इस व्यक्ति के जीवन में समा गया है। अमृतचन्द्र की आत्मख्याति इसकी जीभ पर धरी है। आत्मा का स्वरूप इसे कंठस्थ हो गया है। मानव जीवन की महत्ता और सार्थकता को इसने सच्चे अर्थों में समझ लिया है। अब यह यात्री कही रुकेगा नही, पड़ाव नहीं डालेगा मंजिल पर पहुँच कर ही स्थिर होगा।

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के कारण जिनेन्द्र वर्णी काशी से जुड़ गये। भारतीय ज्ञानपीठ से उसका प्रकाशन होना था। मैं नसीराबाद से प्रेस कापी लाया था। मेरा कर्तव्य था, दायित्व था कि कोश कम से कम समय में अच्छे से अच्छा छपे।

एक बड़ी जिम्मेदारी और मेरे जैसा समान्य और अनुभव रहित व्यक्ति। डग-डग पर जटिलताएँ थीं। टाइप के चुनाव की, कम्पोजिंग की, ठीक-ठीक प्रूफ पढ़े जाने की, और न जाने क्या-क्या। पर एक मनोबल था। मेरे साथ एक पूरी टीम थी। साहूजी थे, रमाजी थीं, ज्ञानपीठ परिवार था। प्रेस के अनेक लोग थे। सब के मन में असीम निष्ठा थी।

आज जिनेन्द्र वर्णी नहीं हैं— उनकी नश्वर देह नहीं है। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' है। विश्व भर में देदीप्यमान कीर्तिमन्दिर की तरह। साहित्य जगत् उपकृत है उनके इस अवदान से। आगे आने वाली पीढ़ियाँ कृतज्ञ रहेंगी उनका यह दाय पाकर। आज जब यह स्मरणाञ्जलि लिख रहा हूँ तो मैंने अपने सेल्फ से 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' की चारों जिल्दें उठाकर अपनी मेज पर रखी हैं। उन्हें उलट-पलटकर देखा है। फ्लेप पर जो मैटर छापा था, उसे एक बार फिर पढ़ा है।

चार भागों में २३२० पृष्ठ

मूल्य मात्र ११० रुपये

छह हजार शब्दों और २१ हजार विषयों का सांगोपांग विवेचन किया गया है, इनमें। प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश के सौ से अधिक प्रामाणिक ग्रन्थों से संकलित सन्दर्भों, उद्धरणों और हिन्दी अनुवाद के साथ शब्दों और विषयों का विश्लेषण। लगभग तीन सौ सारणियों एवं चित्रों द्वारा विषय का स्पष्ट अंकन।

सन् १९७० से १९७३ तक चार वर्षों में भारतीय ज्ञानपीठ ने चारों भाग प्रकाशित कर साहित्य जगत् को जिनेन्द्र वर्णी का प्रसाद समर्पित कर दिया था।

आज फिर एक बार अतीत की ओर देखता हूँ तो बीस वर्षों के अनेक वृत्त चित्र आँखों के सामने उतर आते हैं।

'जैनेन्द्र कोश' के शुद्ध और सुन्दर मुद्रण के लिए उन्होंने काशी आने का आग्रह स्वीकार कर लिया था। १९६८ के ग्रीष्म में एक दिन वायुयान दिल्ली से उन्हें उड़ाकर भारत की सांस्कृतिक राजधानी ले आया। काशी में प्रथम आहार दान का पुण्य अर्जित किया श्रीमती सुनीता जैन ने। उस दिन अक्षय तृतीया रही हो या नहीं पर हमारे लिए वह दिन अक्षय तृतीया ही हो गया। काशी की जैन समाज निहाल हो गयी उन्हें पाकर। भाई जयकृष्ण की माता जी ने काशी वासियों की ओर से इक्षु रस के कलश में प्रथम हाथ लगाया था।

काशी को जिनेन्द्र वर्णी ने ज्ञान और चारित्र की आराधना के लिए अपना लिया। भगवान् सुपार्श्व की जन्मभूमि उन्हें साधना के लिए उपयुक्त स्थल लगी। भद्रावनि (भदैनी) और मंदाकिनि (मैदागिन) उनकी साधना और देशना दोनों के केन्द्र रहे।

उनकी साधना अनवरत चलती रही। वे सतत जागरूक थे। सर्वथा अप्रमत्त। 'समयं गोयम मा पमाइए।' का ध्यान उन्हें निरन्तर बना रहता।

उन्होंने अपनी मानव देह का सर्वश्रेष्ठ उपयोग किया।

और इस तरह पन्द्रह वर्ष तक अप्रमत्त रहकर काशी में उन्होंने साधना की। जब उन्हें लगा कि दर्शन, ज्ञान, चरित्र और तप की चारों आराधनाएँ पूर्ण हो रही हैं तो देह से भी उन्होंने ममत्व छोड़ दिया। सल्लेखना का संकल्प उनके मन में लगने लगा। वे कहते—'यह शरीर अब मेरी बात नहीं मानता तो मैं इसकी क्यों मानूं। जब तक इसने मेरा काम किया, मैंने इसका पोषण किया, सुरक्षित रहा। अब तो इसका रास्ता अलग, मेरा अलग।'

जिनेन्द्र वर्णी अपने विचारों में बहुत स्पष्ट थे। स्फटिक की तरह पारदर्शी। उन्होंने सम्मेद शिखर की ओर डग भरे। सम्मेदाचल बीस तीर्थंकरों और हजारों, हजार मुनियों के निर्वाण की निर्वाण स्थली। इसी सम्मेदशिखर की उपत्यका ईसरी-पारसनाथ में उन्होंने सल्लेखना धारण कर ली। और २४ मई १९८३ को राजमार्गी का यह यात्री अपनी मंजिल पर पहुँच गया। हर्ष और विषाद की एक मिश्रित अनुभूति के साथ काशी वासी अपने नीड़ में लौट आये। जिनेन्द्र वर्णी उन्हें सांस्कृतिक पुनर्जागरण का मन्त्र दे गये थे।

●

श्री जिनेन्द्र वर्णी : एक परिचय

श्री सुनील जैन, बी० कास (आनर्स) एम० बी० एम०, वाराणसी

●

जिनेन्द्र वर्णी ऐसे व्यक्तित्व का नाम है जिसका जीवन अत्यन्त सरल, प्रेममय, प्रेरणास्पद रहा है। शारीरिक दृष्टि से कृशकाय होने के बावजूद आप दृढ़ इच्छा-शक्ति के धनी रहे। ज्ञानार्जन की पिपासा आप में जन्मजात थी, फिर भी न पाण्डित्य का अहंकार और न वैचारिक आग्रह। अनेकान्तवाद के सिद्धान्त को पूर्णतया अपनाते हुए वे जीवन भर समन्वयवादी और सहिष्णु बने रहे।

अपने थोड़े से जीवन काल में वर्णी जी ने जैन साहित्य की जो सेवा की वह हमारी अमूल्य धरोहर है। जैन धर्म के विभिन्न सम्प्रदायों का सर्वमान्य सिद्धान्त ग्रन्थ 'समणसुत्त' की रचनाकर आपने असम्भव को सम्भव बना दिया है। वहीं, 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' तो ऐसा सागर है जिसमें आनेवाली पीढ़ियाँ अनुसंधान अवगाहन करेंगी। और इन सबसे बढ़कर आपका जीवन जो स्वयं दर्शन था जिनमें न बनावट थी, न छद्मना, न आडम्बर। आप तो एक मानव के रूप में इस धरती पर आये और सत्य, प्रेम, शांति का सन्देश देते हुए और उसे अपने जीवन में उतारते हुए एक अनासक्त जीवन-दृष्टि की तरह इस संसार को छोड़ गये।

जीवन परिचय :

श्री जिनेन्द्र वर्णी का जन्म पानीपत में ज्येष्ठ कृष्ण २, १९७८ में धर्मपरायण परिवार श्री जयभगवान् एडवोकेट के यहाँ हुआ था। पारिवारिक वातावरण धर्ममय होने से व श्री रूपचन्द जी गार्गीय के समर्ग से जिनेन्द्र वर्णी जी धार्मिक मार्ग पर अग्रसर हुए। युवा वर्णी ने एक दिन मंदिर जी में सुना, "हम माला के मनके तो गिनते हैं किन्तु यदि मन-का मनका गिनें तो आत्म-कल्याण हो सकता है।" एह एक ऐतिहासिक क्षण था जिसने वर्णी जी की जीवन-धारा ही मोड़ दी। सत्यान्वेषी पथिक शांति पथ के मार्ग पर बढ़ता गया और अन्ततः आचार्य विद्यासागर जी से सल्लेखना-व्रत लेकर दि० २४-५-८३ को परम पावन ईसरी से महाप्रयाण कर गया। वर्णी जी की सफल सल्लेखना व्रत के बाद आचार्य विद्यासागर जी का यह कथन 'ऐसी ही मेरी भी सल्लेखना हो' वर्णी जी के जीवन-दर्शन के सम्बन्ध में सब कुछ कह जाता है।

श्री जिनेन्द्र वर्णी सम्पन्न परिवार में जन्मे, उच्च शिक्षा प्राप्त की, सफलता-पूर्वक व्यापार किया किन्तु आपके अन्दर तो जीवन की कोई और ही अभीप्सा जाग चुकी थी। आत्मशांति की खोज में आप गृहस्थ आश्रम को छोड़कर साधना मार्ग पर चल पड़े एवं क्षुल्लक दीक्षा तक ग्रहण की।

स्वास्थ्य आपका प्रारम्भ से ही ठीक नहीं रहता था। तपेदिक के आप मरीज थे व आपका एक फेफड़ा निकाल दिया गया था, फिर भी कष्ट बना रहता था। साहित्य साधना के निमित्त विद्या नगरी काशी आये और सल्लेखना लेने से पूर्व तक आप काशी में ही रहे।

काशी और वर्णी जी :

काशी आपकी साधना भूमि थी, जहाँ आपने साधक जीवन के १५ वर्ष बिताये। यहीं आपकी कई साहित्यिक रचनाएँ लिखी गयीं व प्रकाशित हुईं। बीच-बीच में आप देश के अनेकों स्थानों का भ्रमण करते रहे, सत्संग करते रहे। आपके व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण रहा कि जहाँ

भी आप जाते लोग आपके प्रशंसक बन जाते। काशी का जनमानस तो आपसे आत्मीय रूप से जुड़ गया था। यहाँ का जैन एवम् जैनेतर समाज आपको आदर्श गुरु रूप में मानने लगा था; एक ऐसा गुरु जिसकी कथनी और करनी में फर्क नहीं था।

वर्णी जी का समग्र जीवन यों तो खुली किताब के समान स्पष्ट और अनेक गुणों का पुञ्ज था, किन्तु उसमें हम निम्न गुण विशेष रूप से पाते हैं :

(i) **सरलता** :

आपका जीवन अत्यन्त सरल त्यागमय रहा है। जो भी आपके पास प्रेम से चला आए, वह जैसा चाहे करा लेता था। स्वास्थ्य अनुकूल न रहने पर भी विभिन्न स्थानों पर बुलाने पर चले जाते, प्रवचन दे आते। भाषा भी आपकी इतनी सरल रहती कि छोटे-बड़े सभी को समझ में आ जाती। छोटे-छोटे आख्यानों के माध्यम से वे अपनी बात समझा देते, वहीं विषय की गूढ़ता को कहीं कम नहीं होने देते।

(ii) **कर्मठता** :

वर्णी जी का यह विशिष्ट गुण था वे जिस कार्य मे लग जाते पूरा करके ही छोड़ते। "समण सुत्तं" एवं "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश" की रचना एवं उसका पुन. संशोधन, संवर्धन उनकी एकाग्रता, कठोर परिश्रम एवं कर्मठता के द्योतक हैं।

(iii) **मौन साधक** :

वर्णी जी की खास विशेषता थी कि वे बोलते बहुत कम थे। दृष्टा की तरह ही इस संसार को देखते, महसूस करते रहे। किन्तु आपकी दृष्टि इतनी पैनी थी कि विषय के अतल गहराई तक पहुँच जाती थी। मौन साधक की ही साधना थी कि शहर से दूर भदैनी घाट पर एकान्त वास करते हुए सरस्वती की सेवा करते रहे।

(iv) **सत्य, प्रेम एवं त्याग की त्रिवेणी** :

'सत्य करना, सत्य देखना, सत्य विचारना और सत्य के लिए सब कुछ सह लेना' आपका जीवनादर्श रहा है। अस्तु कहीं भी सत्य के बदले किसी चीज से समझौते की बात आई तो आपने सत्य को ही माना। झूठे आडम्बरों से वे सर्वदा दूर रहते थे। जब उन्हें लगा कि क्षुल्लक पद का निर्वाह करने मे वे शारीरिक रूप से असमर्थ हैं तो उसको छोड़ दिया और न तो जीवन छद्म आचार को स्थान दिया और न इस बात की कत्तई-चिंता की कि समाज क्या कहेगा ? ऐसा आत्मबल वर्णी सरीखे संतों से ही मिलता है, अन्यथा किसी को कहीं कोई पद मिल जाये तो कितने कह सकते हैं, "मैं उसके योग्य नही हूँ।" वहीं वर्णी जी ने उच्च पद को स्वेच्छा से त्याग दिया कि वे उसके पालन में असमर्थ हैं।

वर्णी जी में जहाँ सत्य की इतनी दृढ़ता थी वहीं आप में सभी प्राणियों के प्रति असीम प्रेम का भाव लबालब रहता था। उनकी हमेशा यही कोशिश रहती थी कि उनके किसी कर्म से किसी भी प्राणी को तनिक भी कष्ट न हो। अहिंसा का ऐसा पुजारी जैन मतावलंबियों के लिए ही नहीं वरन् समग्र विश्व के लिए अनुपम उदाहरण रहा है। संसार में रहकर भी संसार से विरक्ति भाव वर्णी जी का जीवन दर्शन रहा; शायद-यही उन्होंने शांति का मार्ग खोजा।

(v) सम्प्रदायवाद से सर्वथा दूर :

सम्प्रदायवाद तथा रूढ़िवाद से आप सर्वदा दूर रहे । अपनी समस्त कृतियों में आपने इनकी घोर भर्त्सना की है। अनेकों बार आपके मुख से सुना गया, ''मैं न श्वेताम्बर हूँ, न दिगम्बर, न जैन, न अजैन, और न हिन्दू, न मुसलमान अथवा मैं सब कुछ हूँ।''

(vi) सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति :

वर्णी सहिष्णुता की प्रतिमूर्ति रहे । एक बार आपके जन्मजयंती समारोह में एक वक्ता ने आपके प्रति अनर्गल बातें की, आक्षेप किये किन्तु पूज्य वर्णी जी महाराज के चेहरे पर शिकन की किंचित् रेखा भी दृष्टिगत नहीं हुई और उनके मुख से यही निकला, ''शायद मुझसे कुछ त्रुटि हो गई जिसकी ओर विद्वान् वक्ता ने ध्यान आकर्षित किया हो।'' ऐसा व्यक्तित्व दोहरे जीवन के इस युग में कहाँ मिलेगा ? क्षमा की ऐसी मिसाल शायद ही मिले ।

(vii) प्रचार से दूर :

श्री जिनेन्द्र वर्णी माँ सरस्वती की सेवा जीवन पर्यन्त करते रहे किन्तु प्रचार से वे सर्वथा दूर रहते थे। अपनी रचनाओं पर भी नाम या चित्र देने के वे सर्वथा विरोधी रहते थे। उनके अभिनन्दन व अभिनन्दन-ग्रन्थ की कई योजनाएँ उनके विरोध के कारण ही पूरी न हो सकीं ।

विनोबा और वर्णी :

आचार्य विनोबा एवं वर्णी जी एक दूसरे से अत्यन्त प्रभावित रहे । विनोबा जी के आग्रह से ही जैन धर्म के संदर्भ ग्रन्थ 'समणसुत्तं' की रचना आपने की। विनोबा के शब्दों में :

''मेरे जीवन में मुझे अनेक समाधान प्राप्त हुए है। उनमें आखिरी अन्तिम समाधान जो शायद सर्वोत्तम समाधान है इसी साल प्राप्त हुआ। मैंने कई दफा जैनों से प्रार्थना की थी, जैसे वैदिक धर्म का सार गीता में सात सौ श्लोकों में मिल गया है, बौद्धों का 'धम्मपद' मे मिल गया है, जिसके कारण ढाई हजार साल के बाद भी बुद्ध का धर्म लोगों को मालूम होता है वैसा जैनों का होना चाहिए। मैं बार-बार उनको कहता रहा कि आप सब लोग मुनिजन इकट्ठा होकर चर्चा करो और जैनों का एक उत्तम सर्वमान्य धर्मसार पेश करो। आखिर वर्णी जी नाम का 'बेवकूफ' निकला और बाबा की बात उसको जँच गई।

उन्होंने ''जैन धर्म सार'' नाम की एक किताब प्रकाशित की। उस पर चर्चा करने के लिए बाबा के आग्रह से एक संगीति (Conference) बैठी जिसमें मुनि, आचार्य और दूसरे विद्वान् श्रावक मिलकर लगभग तीन सौ लोग इकट्ठे हुए। बार-बार चर्चा करके फिर उसका नाम भी बदला, रूप भी बदला। आखिर सर्वानुमति से ''समणसुत्तं'' बना जिसमें ७५६ गाथायें हैं। एक बहुत बड़ा कार्य हुआ जो हजार पंद्रह सौ साल में हुआ नहीं था।''

इसी तरह जीवन की अन्तिम अवस्था में जब आचार्य विनोबा का शरीर अत्यन्त दुर्बल हो गया था, तब उन्होंने वर्णी जी से पूछा था, यदि शरीर साथ न दे तो जैनागम क्या कहता है ? वर्णी जी ने 'सल्लेखनाव्रत' के बारे में चर्चा की थी। कहना न होगा, आचार्य विनोबा ने इसी मार्ग को अपनाकर महावीर के निर्वाण दिवस को इस संसार से महाप्रयाण किया।

साहित्य साधना :

वर्णी साहित्य से जहाँ उनके जीवनदर्शन की झाँकी मिलती है वहीं ये हमें जीवन को सफल, शांतिमय जीने में मार्गदर्शन भी करता है। वर्णी जी जीवन पर्यंत वाङ्मय की सेवा में तल्लीन रहे।

अपने अल्प जीवन काल में आप जितना साहित्य हमें दे गये हैं उतना शायद कई विद्वान् मिलकर, जीवन पर्यन्त लगकर भी न दे पाते।

शांति पथ प्रदर्शन :

यह जिनेन्द्र वर्णी की अत्यन्त सशक्त रचना है जिसमें जीवन में शांति प्राप्ति के उपाय अत्यन्त सरल एवं रोचक ढंग से वर्णित हैं। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि इसमें जैनदर्शन तथा जैन-धर्म का सांगोपांग विवेचन आ गया है।

साहित्यकार जैनेन्द्र कुमार के अनुसार—"शांति पथ प्रदर्शन" जीवन को धर्म--तत्त्व के नाम पर किसी एकान्तिक व्याख्या की ओर नहीं खींचता, अपितु तत्त्वका जीवन के साथ मेल साधने में योग देता है।"

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश :

शब्दकोशों तथा विश्वकोशों की परम्परा में यह एक अपूर्व एवं विशिष्ट कृति है जिसमें जैन तत्त्वसार, आचार-शास्त्र, कर्म सिद्धान्त, ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति, संप्रदाय, भूगोल आदि से सम्बधित इक्कीस हजार विषयों एवं छ : हजार शब्दों का सांगोपांग विवेचन है। यह ४ खण्डों में भारतीय ज्ञानपीठ से प्रकाशित हुआ है।

डॉ० नेमीचन्द के शब्दों में, "कोश कोई साधारण ग्रंथ नहीं होते। वे तो ऐसे अपूर्व सन्दर्भ ग्रंथ होते हैं जिनके माध्यम से हम आगम शास्त्र की विशिष्टताओं की स्पष्ट व्याख्या कर सकते हैं, उन्हें समझ सकते हैं।"

अन्य रचनाएँ :

'समण सुत्तं' जहाँ जैन दर्शन का सर्वमान्य संदर्भ ग्रंथ है, वहीं वर्णी जी की अन्य रचनाएँ यथा—पदार्थ विज्ञान, जैन सिद्धान्त शिक्षण, कर्म सिद्धान्त, नय दर्पण, कुन्दकुन्द दर्शन, श्रद्धा बिन्दु, महायात्रा, सत्य दर्शन, कर्म रहस्य इत्यादि शशक्त रचनाएँ हैं। इनमें जीवन के विभिन्न पक्षों का बड़ा ही सुन्दर एवं वैज्ञानिक चिन्तन, अत्यन्त सरल सुबोध भाषा में मिलता है।

वस्तुतः वर्णी जी का जीवन जो स्वयं दर्शन था, जिसमें सम्यक् जीवन जीने की कला थी, सांसारिक प्रलोभनों के प्रति अनासक्ति थी वहीं अपने दायित्व का बोध एवं निर्वाह उनके जीवन का मिशाल जो सत्य की ठोस आधार-भूमि पर स्थित था। नमन है उस संत पुरुष को! जो संत (वीतराग) होकर भी परम कारुणिक था—वस्तुतः वह महामानव था।

●

महामानव वर्णी

श्री जगन्नाथ उपाध्याय
जवाहर लाल नेहरू फेलो, अवकाश प्राप्त आचार्य एवं अध्यक्ष पालि विभाग,
स० सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी

●

एक बड़े उद्देश्य के लिए अपने जीवन को समर्पित करना और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिये परम्परागत मान्यताओं को अस्वीकार करके सामाजिक सम्मान की भी परवाह न करना, कोई साधारण बात नहीं है। अपने जीवन मे इस महान् आदर्श को चरितार्थ करके पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी ने हम सब लोगों के लिए मानव श्रेष्ठता के प्रति आस्था प्रकट करने का आधार प्रस्तुत किया है।

श्री वर्णी जी एक ओर 'एकला चलो' का आदर्श प्रस्तुत कर हिमालय के समान 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' के दुःसाध्य कार्य को सम्पन्न करके दिखाया, दूसरी ओर 'सर्वेषां अविरोधेन' के आधार पर जैन श्रमणों के परस्पर विरोधी मान्यताओं के बीच स्वयं निरपेक्ष हो कर अविरोधी समण सुत्तं का संगायन किया और उस पर सभी सम्प्रदायों की सहमति प्राप्त की। इस युगान्तकारी कार्य के लिए जिस व्यापक दृष्टि, स्वतन्त्र चिन्तन और तपस्वी जीवन की आवश्यकता होती है, वे सब गुण पूज्स वर्णीजी में विद्यमान थे।

अन्तरंग दृष्टि से गम्भीर एवं सूक्ष्म और विस्तार की दृष्टि से सर्वग्राही कार्य करने लिये एक ऐ निरहंकार और सहृदय व्यक्तित्व की आवश्यकता होती है जो कभी प्रमाद न करे और अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए जीवन को साधन मात्र स्वीकार करे। श्री वर्णी जी इसके दुर्लभ उदाहरण थे। इन सारे कार्यों के करने के बाद शरीर को योजनाबद्ध रूप से विसर्जित करके हंसते-हंसते उसे महाकाल को समर्पित कर देना वर्णी जी के व्यक्तित्व को आदर्श के शिखर तक पहुँचा देता है।

ऐसे पवित्र व्यक्तित्व को स्मरण कर मैं अपने को सौभाग्यशाली समझता हूँ।

●

एक महान व्यक्तित्व

प्रो० स० रिनपोछे, प्राचार्य केन्द्रीय उच्च तिब्बती
शिक्षा संस्थान सारनाथ, वाराणसी

●

भारतीय विचार धारा में विभिन्न संस्कृतियों का प्रवाह मिलता है। इससे कभी-कभी ऐसा लगता है कि ये सभी प्रवाह हमारी प्रमुख सांस्कृतिक धारा ही हैं। सूक्ष्म विश्लेषण के अनन्तर ही उनके दार्शनिक और व्यावहारिक पक्षों के भीतर असमानताएँ सामने आती हैं। जो "तत्त्व" को यथावत् ग्रहण न कर सकने के कारण अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न कर देतीं हैं जिनसे हम तत्त्व से प्रायः बहुत दूर चले जाते हैं।

मतवादियों के लिए जहाँ साम्प्रदायिक रंग गहरा दिखायी देता है वहाँ जीवन के कर्म को समझने वाले चिन्तक नाना मत-मतान्तरों के बीच में प्रायः समता और साधना के अकलुष तत्त्वों को ही ढूँढने का प्रयास करते हैं।

भारत की बौद्ध और जैन दोनों ही परम्पराएँ आज से लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व एक अनादि श्रमण परम्परा के अन्तर्गत विकसित हुयी हैं। दोनों की साधना और जीवन सरणी में अत्यन्त सादृश्य देखा जा सकता है। परन्तु जिस तरह बौद्ध धर्म का सारे जगत् में विस्तार हुआ जैन धर्म भारत वर्ष की सीमा के भीतर ही परिसीमित रह गया, बौद्ध धर्म के लिए यह गौरव की बात हो सकती है, किन्तु विस्तार के कारण जो दोष आगे चलकर प्रकट हुए वे आज स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होते हैं। भौगोलिक और सांस्कृतिक विभिन्नताओं के कारण सच्चे बौद्ध धर्म मे विचित्र परम्पराएँ आकर जुड़ गयी और परिस्थितियों के कारण प्रव्रज्या के सुप्रतिष्ठित नियमों और शील-सदाचार के पालन में शिथिलता आ गयी। इसके विपरीत तुलनात्मक दृष्टि से अल्प संख्यक जैन समुदाय ने आधुनिक युग में भी मुनियों एवं आचार्य गणों के शीलाचार और प्रव्रज्या के कठोर आचरण तथा तीर्थंकर और आचार्यों के प्रति असीम श्रद्धा और विनय के पालन में ऐसी निष्ठा दिखलायी है जैसी कदाचित् भगवान् महावीर के समय में ही रही होगी।

वर्तमान सन्दर्भ में धर्म-श्रद्धाचारी एवं त्यागी तपोनिधि आचार्य जिनेन्द्र वर्णी जी के सम्बन्ध में मैं कह सकता हूँ कि उनका जीवन त्याग, मैत्री, सौम्यता, कर्मठता और तप.पूत मानवता के गुणों से संयुक्त था। अपने व्यक्तित्व से उन्होंने अनेक साधकों एवं श्रावकों को आकर्षित किया। ऐसे विशेष अवसरों पर गिने-चुने महा-पुरुषों के दर्शन का लाभ मुझे मिला है। उनमें जिनेन्द्र वर्णी जी एक हैं। मुझे उनका एक बार ही सांनिध्य प्राप्त हुआ है, परन्तु उस क्षणिक दर्शन मात्र से ही उनका चेतन प्रवाह मेरे भीतर स्थायी बन गया।

तथागत बुद्ध ने प्रातिमोक्ष सूत्र में कहा है कि शीलवान् व्यक्ति के सब कार्य इच्छा मात्र से सिद्ध होते हैं। जिनेन्द्र जी के सम्बन्ध में यह बुद्ध वचन यथावत् उतरता दिखायी देता है। "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष" जैसा महान् ग्रन्थ अकेले एक व्यक्ति के द्वारा रचा गया है, जो आश्चर्य जनक है। इस ग्रन्थ के देखने से जिनेन्द्र जी की शील, समाधि एवं प्रज्ञा की समरस साधना और विशालता का अनुमान किया जा सकता है। मेरे चित्त पर उनके त्याग और अपरिग्रह की अमिट छाप पड़ी है, उसे मै उनकी प्रज्ञा और करुणा का ही प्रतिबिम्ब मानता हूँ।

सम्बोधन की मुद्रा में वर्णी जी

प्रवचन करते वर्णी जी

धार्मिक समागम में जिनेन्द्र वर्णी

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा (पानीपत) के अवसर
पर प्रवचन करते हुए वर्णी जी (१९६२)

सार्थक संत-जीवन

डॉ० ज्योतिप्रसाद जैन, लखनऊ

इस जन्म-मरण रूप संसार में 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः'— जो जन्मता है उसकी मृत्यु भी अवश्यंभावी है। किन्तु जन्म एवं मृत्यु से सीमित मानव जीवन में भी व्यक्ति और व्यक्ति के मध्य भारी विभिन्नता एवं विसादृश्य होता है। किसी का जीवन सार्थक होता है तो किसी का प्रायः निरर्थक। किसी के श्लाघनीय जीवन को देखकर लोग धन्य-धन्य कह उठते हैं, तो किसी के निन्दनीय जीवन को देखकर धिक्-धिक् करते हैं। अपनी-अपनी आयु के अनुसार अल्पाधिक समय तक जैसे-तैसे जीते तो सभी हैं, और जीकर मरते भी हैं, किन्तु जीने की वास्तविक कला जिन्हें आती है वे बिरले ही होते हैं। एक शायर के शब्दों में—

हँस के दुनिया में मरा कोई रोके मरा।
जिन्दगी पाई मगर उसने जो कुछ होके मरा॥
जी उठा मरने से वह जिसकी खुदा पर थी नजर।
जिसने दुनिया ही को पाया था वह सब खोके मरा॥

स्वनामधन्य स्व. श्री जिनेन्द्र वर्णी ऐसे ही सार्थक जीवन जीने वाले सत्पुरुष थे, जिन्होंने निरन्तर स्व-पर-कल्याण में रत रहकर अपने जीवन को श्लाघनीय एवं स्पृहणीय बनाया, मोह-ममकार के धब्बे से अपनी आत्मा को शुद्ध करके आत्मकल्याण किया और इहलोक के साथ परलोक भी सुधार लिया। उन्होंने धर्म, संस्कृति और समाज की भी अमूल्य सेवा की, और आत्म-साधना से भी विरत नहीं हुए। वह सच्चे अर्थों में मरकर जी उठे। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' अकेला ही स्व. जिनेन्द्र वर्णी जी का वास्तविक एवं अमर स्मारक है।

वर्णीजी ऐसे बोरियानशीं फकीर थे जिनके रियाजो-जुहद में—धार्मिक चर्या, आचरण और व्यवहार में बनावट की कहीं कोई गंध भी नहीं थी, भीतर-बाहर एक से निश्छल और सरल थे। मधुर भाषी, कोमल हृदय, अति मन्दकषायी, आध्यात्मिक-रससिक्त, अभीक्ष्णज्ञानोपयोग में यथाशक्य निरन्तर लीन और धुन के पक्के, ऐसे स्व-पर-उपकारक सन्त बिरले ही यदा-कदा होते हैं। उनके पुण्य का प्रताप और साधना का बल था कि अन्त समय में परम पावन तीर्थराज सम्मेदाचल का पादमूल, पूज्य आचार्य विद्यासागर जी जैसे सच्चे गुरु का सान्निध्य एवं पथ प्रदर्शन और विधिवत् सल्लेखना पूर्वक देह विसर्जन के सौभाग्य प्राप्त हुए।

ऐसे धर्म, संस्कृति एवं साहित्य के अनन्य साधक तथा लोकोपकारक सन्तों के प्रति श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने का सुअवसर भी एक सौभाग्य है। पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी ने एक सच्चे जैन साधक का सार्थक सन्त जीवन जिया, और उसे जीकर उन्होंने अमरत्व प्राप्त कर लिया। सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक-दार्शनिक अल्बर्ट आइन्सटीन के शब्दों में 'दूसरों के लिए जिया गया जीवन ही वस्तुतः सार्थक जीवन है।'

व्यापक दृष्टि के धनी

पं० राजमल जी जैन, भोपाल

'तुम शासन सेय अमेय जीव, शिव गये जाहिं जैहें सदीव' इस पद को सार्थक करने वाली अनेक भव्य-आत्मायें इस जिनेन्द्र-कुल में उत्पन्न होती रहती हैं, और जिनोक्त-शासन के निश्चय-व्यवहारात्मक, भेदाभेद-रत्नत्रयात्मक मार्ग का अनुसरण करके आध्यात्मिक-मार्ग पर निरन्तर गतिशील होती हुई शीघ्र अपने चरमसाध्य अर्थात् ज्ञायक-स्वभाव की पूर्णता को प्राप्त करती हैं, कर रही हैं, और करती रहेंगी। श्रद्धेय पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी (मुनि श्री १०८ सिद्धांतसागर जी) भी उन साधकों में से एक थे। वे 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश; समण सुत्त; शांतिपथ प्रदर्शन एवं पदार्थ-विज्ञानादि अनेक अमर-कृतियों के सम्पादक एवं रचयिता थे। अत्यंत रुग्ण एवं क्षीण काय में स्थित गम्भीर अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोगी, एवं दृढ़ संकल्पी भव्य आत्मा थी। मेरे आध्यात्मिक जीवन में जो कुछ भी उपलब्धि हुई है, उसमें श्रद्धेय पूज्य श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी, श्रद्धेय पूज्य श्री कानजी स्वामी, एवं श्रद्धेय पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी आदि अनेक साधक जीवों का उपकार है, जिसके लिए मैं अत्यंत ऋणी हूँ और रहूँगा। सौभाग्य से मुझे श्री वर्णी जी का साक्षात् समागम एवं उनके आध्यात्मिक-प्रवचनों को श्रवण करने का सुयोग्य अवसर इन्दौर में सन् १९६० में प्राप्त हुआ। उनके प्रवचन आध्यात्मिक रहस्यों एवं सूक्ष्म-तत्त्वों का वर्णन वैज्ञानिक पद्धति से करने वाले, न्याय एवं स्वानुभवगम्य युक्तिसंगत सरल एवं बुद्धिग्राही होते थे। प्रत्येक श्रोता रुचिपूर्वक प्रेममुग्ध होकर सुनता रहता था, प्रवचन का समय कब समाप्त होगा, इसका भान नहीं हो पाता था। तीन दिन तक मैंने लगातार लाभ लिया, जिसके फलस्वरूप सहज रूप से मुझे जिनोक्त तत्त्वों को समझने एवं गंभीरता से अध्ययन करके बुद्धिपूर्वक तदनुकूल जीवन ढालने की आंतरिक-प्रेरणा प्राप्त हुई। उसी समय शांतिपथ प्रदर्शन पुस्तक लेकर अनेक बार अध्ययन किया, और इतना मन भाया कि उसको अनेक सामान्य जैन-अजैन नवीन धर्म-जिज्ञासुओं को आद्योपांत पढ़ने की प्रेरणा की और करता रहता हूँ, जिससे उनको आध्यात्मिक सूक्ष्म एवं गूढ़ रहस्यों को समझने में सुगमता मिलती है, और वे अपना अंतरंग एवं बहिरंग जीवन ढालने की ओर बुद्धिपूर्वक अग्रसर होते हैं।

बचपन से ही आपका शरीर दुर्बल एवं अस्वस्थ रहा, प्रायः टाईफाईड के आक्रमण होते रहते थे। पिता से श्वास रोग प्राप्त हुआ और आप जब केवल, १६ वर्ष के थे, आपको क्षय रोग ने आ दबाया। यद्यपि आपको बाल्यकाल में धर्म कर्म की कोई विशेष रुचि तथा परिज्ञान नहीं था, परंपरागत कभी-कभी मंदिर जी दर्शनार्थ जाते थे। परन्तु कभी भी न शास्त्र पढ़ते या सुनते थे और न पूजा आदि करते थे। फिर भी जन्म से आपके धार्मिक-संस्कार इतने सुदृढ़ थे कि क्षय-रोग से ग्रस्त होने पर आपके एक फेफड़े के ऑपरेशन के पूर्व डॉक्टरों ने माँस एवं अंडे का प्रयोग करने को कहा, तब आपने स्पष्ट एवं दृढ़ता पूर्वक उत्तर दिया कि मैं जीयूं या मरूँ आपकी जिम्मेदारी नहीं है। आप मेरा ऑपरेशन कीजिये, मांस एवं अंडे का प्रयोग नहीं करूँगा। कॉड लीवर आयल एवं लीवर एक्सट्रेक्ट के इंजेक्शन भी लेने से सर्वथा इनकार कर दिया। भवितव्यता की बात है कि डॉक्टर आपकी दृढ़ता एवं स्पष्टवादिता से अत्यंत प्रभावित हुए और ऑपरेशन में आपका एक फेफड़ा निकाल दिया गया। मांस एवं अभक्ष्य-औषधियों का सेवन न करने पर भी आप पूर्ण स्वस्थ हो गये। विचित्रता की बात यह है कि आपके साथ अन्य आमिषभोजियों ने डॉक्टर के

सुझाव-अनुसार निरोगता एवं जीवन बनाये रखने के लिए मांसादि का प्रयोग किया, तदपि काल के गाल में समा गये। यह निःशङ्कित एवं निर्विचिकित्सा गुण उनके जीवन का अपूर्व उदाहरण है।

मैं तीर्थधाम सम्मेदशिखरजी की मंगल यात्रा करने गया था। उस समय आंतरिक भावना उत्पन्न हुई कि श्री वर्णीजी का साक्षात् एकांत में समागम करना चाहिए। प्रथम दिन ज्यों ही उनके स्वाध्याय कक्ष में जाकर यथायोग्य वन्दना करके शांत भाव से बैठ गया। उस समय श्री वर्णीजी एक ग्रंथ का सम्पादन कर रहे थे। लेखन में उनका चित्त इतना मग्न था कि मेरे आकर वहाँ बैठने का उन्हें भान ही नहीं हुआ। एकाएक उनको श्वास का प्रकोप हुआ और तब इतना कफ निकला कि एक कटोरी भर गई। प्रकोप कुछ शमन होने पर पास में एक तखत पर लेट गए। मुझे सौभाग्य से उनकी सेवा-वैय्यावृत्ति करने का सुअवसर मिला। वैय्यावृत्ति करते समय एकाएक मेरा ध्यान उनके मुख की ओर गया तो देखा कि उसपर पूर्व की खाँसी एवं श्वास के प्रकोप की थकान बिल्कुल भी नहीं और उसके स्थान पर उनके मुख पर एक अपूर्व शांति—भद्रता एवं समता का साम्राज्य सहज ही दृष्टिगोचर हुआ। इतना ही नहीं, उनकी आँखें भी अंतरंग हृदय के प्रेमाश्रुओं से भर आयीं। उनकी मुखाकृति को अवलोकन कर मेरा अंतःकरण अनेक प्रकार के भावों में मग्न हो गया। विचार आया कि जिस प्रकार एक माँ का इकलौता सुपुत्र-उदण्ड, हठाग्रही एवं स्वेच्छाचारी हो तो भी एकाएक उसके उत्कर्ष की भावना से आनन्दित होकर सहज ही उसके मुखारविन्द एवं आँखों में माँ की ममता के उद्गार सहज रूप से प्रगट होते हैं। उसी प्रकार उस समय श्री वर्णीजी के मुखारविन्द एवं आँखों में ऐसे ही दृश्य का दर्शन हो रहा था। ऐसा भाव आया कि उनके हृदय मे एक टीस थी कि हम जैसी सजातीय आत्माएँ अपने ही अज्ञानवश संसार-चक्र में परिभ्रमण एवं परिवर्तन करती रहती हैं। कदाचित् महाभाग्य से इस अमूल्य मनुष्य-पर्याय, उच्च-कुल, इन्द्रियों की पूर्णता, स्वस्थ-शरीर और सर्वोत्तम जिनेन्द्र-शासन को प्राप्त करके क्यों अनादिकालीन उद्दण्डता, हठाग्रहता एवं स्वछन्दता रूपी रोगों से ग्रसित रहती हैं? इनका उत्कर्ष-आत्मकल्याण कैसे हो? एकाएक मुझे बाधा हुई और कुछ समय को अपने कमरे में चला गया। उस समय ही उनको औषधि के साथ सेवन हेतु दूध आया और उसमें से थोड़ा सा उपभोग किया होगा और बाकी का सब रख दिया। थोड़े समय पश्चात् ज्यों ही मैंने उनके कमरे में प्रवेश किया, तो मुझसे बड़े प्रेम से उस दूध को ग्रहण करने को कहा। मेरे अनेक बार मना करने पर भी कि मेरे पास भोजन की सर्व अनुकूलता है। उसका अभी उपयोग करूँगा, आप मेरी बिल्कुल भी चिन्ता न कीजिए, परन्तु मैं उनके आंतरिक हृदय से प्रेरित आदेश को न टाल सका। उक्त घटना श्री वर्णीजी के जीवन की सहज मातृ-प्रेम एवं वात्सल्य की प्रतीक थी।

अन्त में सौम्यता, प्रेम, कर्मठता, निष्पृहता एवं सतत तप-त्यागमय समतारूपी मोक्षमार्ग के पथिक श्रद्धेय पू० श्री वर्णीजी के चरणों में नत मस्तक हो श्रद्धाञ्जलि समर्पित करता हुआ, भावना भाता हूँ कि वे शीघ्रातिशीघ्र भौतिक शरीर को त्यागकर अशरीरी-सिद्ध पद को प्राप्त करें। ऐसी मंगलकामना के साथ विराम लेता हूँ।

●

दया या सेवा नहीं, पूजा

श्री कृष्णराज मेहता, सर्व सेवा संघ, वाराणसी

●

श्री रामकृष्ण परमहंस अन्तिम बीमारी में शय्या पर थे। शिष्य बैठे थे। बातें चल रही थीं, "जीवे दया वैष्णवेर परमधर्म"। यही परम्परा से कहते हैं कि वैष्णव का धर्म, "जीव-दया"। श्री रामकृष्ण ने सुना और आँसू झरने लगे, बोले, "दया करने वाले तुम कौन होते हो ? ये नारायण हैं। नारायण समझकर पूजा करने वाले तुम हो सकते हो। तुमको पूजा का अधिकार है, नर में प्रतिष्ठित नारायण की।" विवेकानन्द समझ गये और कहा, "आज सत्य को पाया, अब डंके की चोट दुनिया को सुनाऊँगा कि 'दया नही, सेवा नहीं, पूजा।"

ऐसे ही मानवता के एक और पुजारी, सत्य-साधक, एवं शोधक श्री जिनेन्द्र वर्णीजी, सन्त विनोबा की सलाह से समन्वय-आश्रम बोधगया गये थे। वहाँ सेवकों को संबोधित करते हुए कहा, "पहले व्यक्ति अपनी सेवा करे, फिर उसे दूसरों की सेवा नहीं करनी पड़ेगी। फिर उसके जीवन से सेवा झरेगी, जैसे मकरन्द झरता है—पुष्पों से, पुष्प झरते हैं—वृक्षों से, या पौधों से; चाँदनी झरती है—चाँद से; वैसे व्यक्ति से प्रेम झरेगा। अर्थात् प्रेम में जो व्यक्ति जीता चला जाता है उससे सहज सेवा और जगत् का कल्याण होता चला जाता है।"

श्री जिनेन्द्र वर्णीजी एक अनासक्त प्रेमी साधक थे। उनकी विनम्रता और प्रांजलता हृदय-स्पर्शी थी। एक बार हम दोनों प्रस्थान आश्रम पठानकोट गये थे। श्री सत्यम्भाजी के साथ उनकी भेंट बड़ी मार्मिक थी। दो उच्च मुमुक्षुओं का मिलन आनन्दाश्रुओं से हुआ। सेवकों के सेवक सत्यम्भाजी ने कहा, "आप ठीक समय पर मुझे जीवन का संदेश देने के लिये पहुँचे हैं।" श्री वर्णीजी ने कहा, "आप इस जीवन के अन्तिम क्षण तक मेरे हृदय में स्थित रहेंगे। यहाँ आकर ऐसा लगा, मानों अपना ही कोई प्रतिबिम्ब है, जो प्रभु-कृपा से मुझे मिल गया। उस प्रभु की कृपा का अभिवादन करने की सामर्थ्य मुझमें कहाँ ?"

सत्संगियों को संबोधित करते हुए व्यापक-द्रष्टा वर्णीजी ने कहा, 'भगवान्, आप सबके हृदय में सत्यभावना जागृत करें। वह ही परमार्थ है। उसी में कल्याण है। उसी में शांति है। जग-प्रपंच तो यों ही चला आ रहा है और यों ही चलता रहेगा। थोड़े में, उतार-चढ़ाव को देखकर व्यक्ति अपने मन में आशा-निराशा, भय-शोक, हर्ष-विषाद, कर्तव्य-अकर्तव्य, इष्ट-अनिष्ट, चिन्ता-प्रेरणा आदि के गगन-नगर बसाया करता है। जिस प्रकार तरंगों तथा ज्वार-भाटों से नित्य उद्वेलित रहते हुए भी सागर ज्यों का त्यों है। न ज्वार के उत्पन्न होने से उसमें कुछ वृद्धि होती है और न उसके पतन से उसमें कुछ हानि होती है। इसी प्रकार अनेकविध बड़े-छोटे, दैनिक-वार्षिक, शताब्धिक-सहस्राब्धिक उतार-चढ़ावों से नित्य उद्वेलित रहते हुए भी यह महासागर (भूः भुवः स्वः अर्थात् पृथ्वी, अंतरिक्ष और दिव्य लोक) जैसा पहले था वैसा ही आज है और वैसा ही आगे रहने वाला है। संस्कृतियों, राज्यों तथा समस्याओं की उथल-पुथल इसकी क्षुद्र तरंगें हैं और सृष्टि तथा प्रलय ज्वार-भाटा है। जिनेन्द्र, देवेन्द्र अथवा धरणेन्द्र कोई भी इस विधान में न कभी कोई परिवर्तन कर सका है और न कर सकेगा। व्यर्थ विकल्पों के भार से दबा रहने में फिर क्या लाभ ? यह व्यापक विराट् सत्य है। गीता के ग्यारहवें अध्याय में विश्व रूपदर्शन से अर्जुन घबड़ा गया और

बोला, 'शांत हो, प्रभु शांत हो' । व्यापक दृष्टि से देखने पर यह सब उसी महासागर विभु का सुन्दरतम विलास है। हम कौन होते हैं उसकी सेवा करने वाले और दया करने वाले ?

श्री वर्णी जी का उपासनामय जीवन स्मरण होते ही मुझे अपने आश्रम में लगे हरश्रृंगार के पौधे का स्मरण हो आता है। वह पौधा पृथ्वी, पानी, सूर्य, हवा से हर क्षण जीवन रस लेता है और तत्क्षण वह उसे समग्रता के साथ ऊपर 'परकोलेट' करता है और पूर्णता से उस रस को पुष्प में परिवर्तित कर देता है। पुष्प खिलता है— वायु के द्वारा उसकी सुगंध फैलती है। वृक्ष धरती माता को नमन करता है (पुष्पों के बोझ से झुकता है) और अपना श्रेष्ठ रस—पुष्प के रूप में उसे समर्पित कर देता है। उसकी यह श्रेष्ठ पूजा है। श्री वर्णीजी की साधना, साहित्य-सेवा, जैनेन्द्र सिद्धांत कोष व समण सुत्त, की निर्मिति, संयमी-जीवन और समाधि-मरण (सल्लेखना) सब उनकी श्रेष्ठ पूजा है। आशा है उनका जीवन और मरण मानव-मात्र को प्रेरणा देगा।

●

"प्रेम ही प्रभु का रूप है।"

"बाबा पवित्र तत्त्व है शरीर नहीं"

"आत्म-समर्पण, स्वार्थ-त्याग व तितिक्षा ही प्रेम पथ का सर्वस्व सार है। प्रभु के चरणों में हो जाने पर यह भाव क्षुद्र को महान् बना देता है, द्वैत को अद्वैत बना देता है।"

"पितृ-गृह में माता-पिता की और पति-गृह में सास-श्वसुर व पति की सेवा करना ही प्रभु की सेवा है।"

"कल्पित भगवान् की सेवा सब करते हैं, पर जीवित-भगवान् की सेवा दुर्लभ है। प्रभु ने जो प्रकृति प्रदान की है, वह सुरक्षित रहे। वह ही कल्याणकारी तथा कल्याण स्वरूप है।"

"प्रभु सेवक जहाँ जाता है, वहाँ ही स्वर्ग बन जाता है।"

—वर्णी वचनामृत

अवर्णनीय वर्णी

ब्रह्मचारी अरहंतकुमार, रोहतक

●

प्रातःस्मरणीय परम पू० गुरुवर श्री जिनेद्र वर्णीजी के विषय में कुछ भी लिखना इस कहावत को चरितार्थ करना है कि सात समुद्र की स्याही बनाऊँ और सारी पृथ्वी का कागज, तो भी उनके गुणों का एक अंश मात्र भी वर्णन करना सम्भव नहीं है। परन्तु फिर भी न जाने किस प्रेरणावश अथवा अहङ्कारवश लिखने का दुःसाहस कर रहा हूँ। मेरे द्वारा लिखे गये दो-चार शब्द वास्तविकता से बहुत दूर केवल संकेत-मात्र हो सकते हैं।

पू० वर्णी जी से कोई भी व्यक्ति एक बार के दर्शन मात्र से प्रभावित हुए बिना नहीं रहता था। जिस प्रकार कोई व्यक्ति यदि उद्यान के पास से जाये, तो इच्छा न होने पर भी पुष्पों की सुगन्ध से उसका मन महक उठता है। इसी प्रकार वे कभी किसी को उपदेश देने के पक्ष में नहीं थे। यदि कोई उनके पास आता तो उनके सत्य-जीवन की सुगन्ध से स्वयं महक उठता था।

वे सामूहिक-उपदेश की अपेक्षा व्यक्तिगत-उपदेश को महत्त्व देते थे वह भी केवल सत्य-जिज्ञासु को। केवल शाब्दिक चर्चा या मात्र बुद्धि विलास के लिए मूल्यवान् समय को नष्ट करना उन्हें खलता था। वे प्रत्येक क्षण को अति मूल्यवान् जानकर उसको मात्र आत्म-कल्याणार्थ उपयोग करने के पक्ष में थे। उनके अनुसार यदि तुम्हारा जीवन ठीक है तो जिज्ञासु को तुम्हारे जीवन से ही पर्याप्त मिल जायेगा तुम उससे कुछ कहो या न कहो। अतः वे मात्र कहते नहीं थे, जो बात उन्हें सत्य प्रतीत होती थी उसका अपने जीवन में प्रयोग करते थे। उसकी सत्यता से संतुष्ट होने पर ही किसी को बताते थे, इस दृष्टि से वे एक सत्य-वैज्ञानिक थे।

उनकी सरल-मिष्ट वाणी व निःस्वार्थ हार्दिक प्रेम के द्वारा व्यक्ति उनकी ओर पुनः-पुनः सहज ही में चुम्बक लौहवत् खिंचा चला जाता था। कोई जिज्ञासु कितना ही कठिन से कठिन आध्यात्मिक या लौकिक प्रश्न लेकर उनके सम्मुख जाता था तो अल्प काल पश्चात् ही उसका समाधान हो जाने के कारण प्रफुल्लित व उनके प्रति कृतज्ञता के भावों को हृदय में लिये वहाँ से उठता था। उनके दर्शन किसी भी समय किये जा सकते थे। इसके लिए समय का कोई बन्धन नहीं था।

मुझे उनसे क्या मिला यह मेरा हृदय ही जानता है। उसे मैं व्यक्त करने में असमर्थ हूँ। वाराणसी के भदैनी मन्दिर मे पू० गुरुवर दोपहर को सामायिक में थे। मैं भी बैठा था किन्तु मेरा चित्त विकल्प जाल में उलझा हुआ था। हृदय ने रोकर प्रार्थना की, गुरुवर क्या आपकी चरण-रज में भी यूँ ही भटकता रहूँगा? यदि यहाँ भी ये विकल्प शांत नहीं हुए तो फिर और भला कहाँ होंगे! अगले ही पल गुरुवर द्वारा मुझे समाधान प्राप्त हुआ और मेरा चित्त शांत हो गया। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ जैसे साक्षात् महावीर प्रभु ने मुझे दर्शन देकर कृतार्थ किया है।

कई बार उनका स्वास्थ्य बहुत खराब हो जाता था। रात-रात भर उन्हें जागना पड़ता था, फिर भी आप अपने तात्त्विक-चिन्तन से विमुख नहीं होते थे। ऐसा प्रतीत होता था आपके लिए, आपकी समता की कठोर साधना में आपका यह रोग कुछ बाधक नहीं है। आप वर्तमान में साधकों के लिए एक अपूर्व प्रेरणा स्रोत हैं कि किस प्रकार शरीर के पूर्णतया प्रतिकूल होते हुए भी साधना को उच्चतर स्तर तक गतिमान किया जा सकता है। साथ ही यदि दृष्टि आत्मा की ओर हो, हृदय आत्मरस में डूबा हो तो शरीर का महत्त्व नगण्य है।

अन्य किसी को भले ही कैसा लगता हो, परन्तु मुझे उनका अभाव महसूस नहीं होता। मुझे अब भी वे अपने उतने ही निकट लगते हैं जितने कि पहले लगते थे। अपितु 'पहले और बाद में भी लिखने में आता है'। वास्तव में अब भी वे पूर्ववत् मेरा मार्गदर्शन कर रहे हैं, मुझे मोह-निद्रा से पुनः-पुनः जगा रहे हैं, प्रमाद से बचने के लिए कह रहे हैं।

मेरी हार्दिक इच्छा थी कि उनकी आयु पूर्ण होने तक मैं उनकी थोड़ी-बहुत सेवा जितनी मुझसे बने अवश्य करता रहूँ। मुझे सन्तोष है कि प्रभु ने मेरी इच्छा पूर्ण करके मेरे जीवन को सफल बनाया। वैसे सच्ची सेवा तो उनकी तभी होगी जब मैं उनके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चलता रहूँ। प्रभु से प्रार्थना है कि जिस प्रकार उन्होंने मुझे पहले सेवा का अवसर देकर कृतार्थ किया उसी प्रकार अब भी अपने द्वारा बताये मार्ग पर चलने की शक्ति देकर इस जीवन को कृतार्थ करेंगे।

●

"भगवान् तुझे सदा सुखी रखें। वे ही परम शरण हैं। उनकी चरण-निष्ठा सर्व समस्याओं को सुलझाती है। उनमें चित्त लगाकर सत्प्रयत्न कर। तेरा घर स्वर्ग बने।"

"अमृत के स्पर्श से विष भी अमृत हो जाता है।"

"भगवद्शक्ति अपार है। उनकी शरण से सब भय निवृत्त होते हैं। उनकी शरण ही सत्य है। बाह्य के सकल संयोग-वियोग कर्मकृत हैं, इसलिये इनकी चिन्ता करने से कोई लाभ नहीं है। विपरीत इसके कुछ न कुछ हानि है। इस लोक में चित्त भारी रहता है और परलोक में नवीन कर्म का बन्ध साथ ले जाता है। भगवच्छरण ही सत्य है, इस लोक में परलोक में, दोनों में सुखदायी है।"

"भगवान् की शरण में जा और पूरे विश्वास के साथ उनका चिन्तवन कर। उनकी कृपा से तेरे कर्म शिथिल पड़ेंगे।"

—वर्णी वचनामृत

निर्मम एवं निःस्पृह योगी

डॉ० श्रीमती आशा जैन, पटना

●

आज गुरुदेव हमारे बीच नहीं रहे, परन्तु उनकी ममतामयी सौम्यमुद्रा अब भी आँखों के सामने घूम रही है। काल ने उन्हें हमारे बीच से उठा लिया! एकाएक विश्वास नहीं होता। खैर काल ने उन्हें नहीं उठाया। वे अपने 'स्व' में पूरी तरह डूब कर असीम आनन्द, आत्मरस में मग्न होकर शाश्वत शान्ति का लाभ ले रहे हैं। उनका सारा जीवन अध्यात्म, धर्म एवं सेवा में लगा रहा और अन्त में निस्पृह-साधक की भाँति, समाधि में लीन हो गये। शायद ऐसा समाधिमरण दो दशकों में भी नहीं हुआ। गार्हस्थिक सभी सीमाएँ तोड़ वे आत्मानन्द के आस्वादी, रत्नत्रय की पूर्णता के अभिलाषी, स्वावलम्बन ले ध्यानस्थ हो गये। उनकी साधनावधि काफी लम्बी रही तथा काफी लम्बे समय तक रोग से संघर्ष चलता रहा। इस बीच कभी भी उनकी मुखमुद्रा से वह शान्ति छवि नहीं गई, जिसे देखते ही दर्शक स्वयमेव प्रभावित हो जाते थे। अन्त में रोग को उनकी सौम्यता के आगे मात खानी पड़ी और साथ छोड़ना पड़ा। वे पूर्ण रूप से निर्मोही थे, तभी तो रोग का उन्हें वेदन तक न हुआ। आघातों ने उन्हें दृढ़ से दृढ़तर बनाया। पीड़ा और दर्द ने उन्हें कुन्दन की तरह तपाकर देदीप्यमान कर दिया। विपरीत परिस्थितियों का समतापूर्वक सामना कर उन्होंने युग को सदा समता और प्रेम प्रदान किया।

वे हमें अंधकार से प्रकाश की ओर ले जाने वाले सूर्य थे, जो असमय में ही अस्त हो गया। वे आत्मरस से परिपूर्ण थे। उनका मौन-सम्भाषण भी आत्मरस का निमंत्रण दे रहा था।

उनकी समाधि से जैन-जगत् को महान् दुःख हुआ है। शायद उनके रिक्त-स्थान की पूर्ति न हो सकेगी। उनके अन्त से आध्यात्मिक साधकों की एक पीढ़ी का अंत हो गया। सिद्धान्तों को तर्कतः वर्णित करते थे। उन्होंने जो दायित्व स्वीकार किया, उसे बड़ी योग्यता से निर्वाह किया और भगवान महावीर की धरोहर को उनके उत्तराधिकारियों को नवीन-प्रकाश के साथ सौंप दिया। अब हमारा और आपका कर्तव्य हो जाता है कि उनकी कृतियों का प्रकाशन-प्रचार करें और उन्हें अपने अपने जीवन में अपनाने का प्रयत्न करें।

वास्तव में उन के व्यक्तित्व ने जैन-साहित्य को एक नई दिशा, एक नई प्रणाली दी। उनका 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' समस्त जैन वाङ्मय को अद्वितीय कृति है जिससे युग-युगान्तर तक शोधार्थी प्रेरणा पाते रहेंगे। वे नवीनता के पोषक नही थे, अपितु स्वयं तत्त्व की तह में प्रवेश कर अनुसंधान-कर्ता थे। उनका मत है कि वास्तविक सत्य एक है और वह त्रिकालाबाधित ('त्रैकाल्यशाश्वत' आनन्दमय) है। वे मानते थे कि कोई भी मत 'सर्वथा' मिथ्या नही है, किसी न किसी द्रष्टा द्वारा देखा गया होता है। तीर्थंकर ने भी जितना देखा उतना कहा नहीं, अतः कोई भी मत मिथ्या नहीं है। तभी तो उन्होंने समस्त भारतीय दर्शनों का स्वतंत्र रूप से अध्ययन किया। शायद ही कोई दर्शन उनके अध्ययन से अछूता रह गया हो। मुझे याद है एक बार उन्होंने मुझे काश्मीरी-शैववाद पर एक पुस्तक दी, कहा, 'बेटे! जाओ इसे पढ़ो।' यह उनकी सर्वधर्म-समन्वयात्मक-दृष्टि का द्योतक है। दर्शन की विभिन्न-शाखाओं पर उनका समान अधिकार था। तर्कशास्त्र, ज्ञानमीमांसा और तत्त्वदर्शन में उनकी विशेष रुचि थी। इस प्रकार सभी धर्मों की एकता में उनका अटूट विश्वास था। प्रत्येक मत किसी न किसी नय के अन्तर्गत आ जाता है।

उन्हें भगवान् महावीर की आध्यात्मिक-साधना का पूर्ण साक्षात्कार था। उनकी वाणी आत्मा की अतल गहराइयों से निकलती थी। उनका प्रवचन सुन कर हर आदमी यह समझ लेता था कि वे मूलत. चौथे-काल के कोई महान् तद्भवमोक्षगामी जीवात्मा हैं। गुरुदेव के प्रथम दर्शन में ही प्रायः हर श्रोता प्रभावित हो जाता था। यह प्रभाव इतना जादुई होता था कि हर दर्शक उनके प्रति आकर्षित हो जाता था। फिर उनका सम्पर्क ज्यों-ज्यों प्रगाढ़ होता था त्यों-त्यों यह आकर्षण एक स्थायी-प्रेम में बदल जाता था। यह काशी वालों का आकर्षण और प्रभाव ही था जो गुरुदेव के प्रति एक स्थायी-प्रेम में बदल गया।

एकान्त उन्हें अत्यधिक प्रिय था। एकान्त-साधना के लिये वे कभी-कभी मौनव्रत धारण करते थे। उन्हें कोई बन्धन स्वीकार न था। वे उन्मुक्त आत्मा की प्राप्ति में तन्मय रहते थे।

उनकी प्रतिभा बड़ी विलक्षण थी। कभी-कभी उन्हें अनागत-घटनाओं का प्राग्बोध भी हो जाता था, किन्तु कभी भी उन्होंने इस महान् शक्ति का प्रदर्शन नहीं किया। अनागत-घटनाओं के आधार पर मौनव्रत धारण कर लेते थे। उनके बाल्यकाल का वातावरण ही ऐसा था, जिससे उनके सभी संस्कार सर्वोत्तम थे। सुयोग्य पिता की सुयोग्य संतान का अवसान भी सुयोग्य विधि से हुआ।

वे कभी-कभी बड़े उत्सवों में जाकर मंच पर भाषण भी देते थे। १० जुलाई १९६० को जयपुर के 'विश्व जैन मिशन' द्वारा आयोजित 'अध्यात्म-सम्मेलन' में दिया गया उनका भाषण अध्यात्म विद्या का अनुपमेय विवेचन था।

भेद विज्ञान की सूचक बारह-भावनाओं की तो वे प्रतिमूर्ति थे। अनित्य अशरण संसार का त्याग कर उन्होंने आत्मा के एकत्व में प्रवेश किया और माना कि जीव की अवस्थायें तो कर्म निमित्तक होती हैं। शुभाशुभ कर्मों का फल अकेला जीव ही भोगता है। उसी प्रकार अपना कल्याण भी स्वयं अकेला ही करता है। उसका फल—अनंत सुख भी अकेला ही भोगता है। उनके जीवन में द्वादश अनुप्रेक्षाएँ साकार हो उठी थीं।

अतः वह निर्मम एवं निस्पृह साधक अपनी साधना में लीन हो गया। इस साधक के लिये ग्रीष्म ऋतु की तपती दोपहरी कर्मों की तपन बन गई। पतझड़ में कर्मों का पतझड़ हो गया। सारी ऋतुयें उनके चरण पर पुष्पांजलि चढ़ाने लगीं।

उनके प्रति सच्ची श्रद्धाञ्जलि यही होगी कि उन्होंने हमें जो विपुल अध्यात्म प्रदान किया है, उसे हम अपने जीवन में अपनाने का प्रयत्न करें।

●

अध्यात्म और वर्णीजी

आचार्य अनन्त प्रसाद जैन, 'लोकपाल'

●

भारतवर्ष तो अति प्राचीनकाल से सभ्यता और संस्कृति के सर्वोच्च शिखर पर रहा है। यहाँ सर्वज्ञ, वीतराग चौबीस तीर्थंकर हुए—जिन्होंने जनता को जीवन का शुद्ध सही मार्ग दिखलाया। कितने ही महापुरुष एवं अवतार हुए, जिन्होंने दुष्टों का दलन कर सामाजिक सुरक्षा प्रदान की। नेता, उपदेशक, गुरु, संन्यासी, संत सर्वदा सभी जगह होते ही रहे हैं। भले ही उनकी धार्मिक मान्यताएँ विभिन्न रही हों पर उन्होंने अपनी-अपनी मान्यता के अनुसार मानव को सही आचार-विचार, व्यवहार की शिक्षा दी और देते रहे हैं। वर्तमान काल में जैनों में भी अनेक तपस्वी, मुनि, गुरु, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि हो गए हैं और हैं। ये श्रावक गृहस्थों को मार्गदर्शित करते है। परन्तु समय के साथ इनमें भी बहुत सारे विकार प्रवेश कर गए है—जिनसे गृहस्थ-श्रावक-जैन भी विकारी हो गए हैं और होते ही जाते हैं। आजकल गुण या ज्ञान की पूजा न होकर केवल वेष की ही पूजा होने लगी है—अतः स्वाभाविक ही है कि पाखंड बढ़े और बढ़ा है। ऐसे समय एक ज्ञानी, गुणी, सम्यक् ज्ञानधारी, ब्रह्मचारी मुनि यदि कहीं हो जाता है तो यह जैन समाज का सौभाग्य ही है। ऐसे ज्ञानी हमारे पू० जिनेन्द्र वर्णी जी हो गए हैं। अफ़सोस यही है कि ये अल्पकाल में ही पृथ्वी छोड़कर चले गए।

ये आध्यात्मिक संत थे। आजकल के जैनों में अध्यात्म की बड़ी कमी पाई जा रही है, जो समाज, धर्म एवं संस्कृति के लिए महाघातक है। हमारी पत्र-पत्रिकाएँ भी आध्यात्मिक लेख नहीं प्रकाशित करते। यदि कोई ऐसा करते भी हैं तो खण्डन-मण्डन करनेवाले पंडित विरोध करके अध्यात्म की शुद्ध भावना श्रावकों में जगने नहीं देते। शुद्ध ज्ञान की पूजा होनी चाहिए, न कि वेष की। जैनधर्म का प्राण है अध्यात्म। "आत्मा" के ऊपर ही जैन सिद्धान्त खड़ा है और आत्मज्ञान तथा आत्मध्यान द्वारा ही श्रावक या मुनि साधु का भला हो सकता है। हमारे पत्र-पत्रिका के सम्पादक-प्रकाशक, लेखक, पंडित तथा पूज्य साधु मुनि महाराजों को भी समाज में अध्यात्म की भावना—आत्मा की जानकारी—बढ़ाने की हर प्रकार की चेष्टा, उपाय करना आवश्यक है तभी समाज की सच्ची भलाई और सच्चा उत्थान संभव है।

●

कीर्ति-प्रतिष्ठा का भाव कल्याण-पथ का सबसे बड़ा शत्रु है। शास्त्र-ज्ञान के बिना साधन सम्भव नहीं, परन्तु शास्त्र-ज्ञान का गर्व साधना के लिये दावाग्नि सदृश है।

—वर्णी वचनामृत

कर्मयोगी, कृशकायी, दृढ़ आत्मध्यानी, तुझे नमन !

श्रीमती शशिप्रभा जैन "शशाङ्क"
उप प्रधानाचार्या, जैन कन्या विद्यालय, आरा

जैनधर्म के सफल उन्नायक, शरीर कमजोर, किन्तु आत्मबल-साधना के तपोमय आलोक से आलोकित, पूज्यवर श्री जिनेन्द्र वर्णी गुरुदेव की दृढ़ आत्मा परमपावन गंगा के समान पवित्र, बन्दनीय, प्रातःस्मरणीय है। धर्म की शीतल छाया में आपने जिनवाणी की जो प्रभावना की है, धार्मिक-आस्थाओं का जो महिमामय पथ प्रशस्त किया है, वह हम सबके लिये ग्राह्य है, जीवन को मुक्तिपथ की ओर अग्रसर करने वाला है, आत्मा की विशुद्धि कैसे की जा सकती है ? यह पू० वर्णी जी से कोई सीखे। वास्तव में भगवद्भक्ति स्वाध्याय, मनन, चिन्तन ही उनका अटल धर्म बिन्दु रहा। लौकिक आकांक्षा, लोकेषणा, आत्मप्रशंसा की उस महानात्मा ने कभी अपेक्षा नहीं की। सांसारिक प्रपञ्चों की उपेक्षा करने वाले वर्णी जी महाराज आज के जैन शलाका महापुरुष के रूप मे वन्दनीय हैं। सरल जीवन, तत्त्वज्ञान के मर्मज्ञ, प्रभावशाली चारित्रधन के महाधनी, अध्यात्म प्रवण, साहित्य-क्षेत्र मे महाकर्म योगी, प्रबुद्ध वक्ता, सतत-साधना पथ के अनुगामी, सौम्यता, निःस्पृहता की आदर्शमूर्ति आज हमारे मध्य से स्वर्गिक सुखों की ओर प्रयाण तो कर गयी है, पर हमें दे गयी है—नयी प्रेरणा, नया धर्म पथ अनुगमन-सन्देश, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य की साधना, जिनेन्द्र देव की अर्चना करते रहने की सच्ची आत्म विशुद्धता की शिक्षा।

जय जिनेन्द्र, जय जय वर्णी,

शत नमन, तेरी कृश काया को
शत नमन, तेरी यश गाथा को
तेरी करनी, है भव हरणी
जय जिनेन्द्र, जय जय वर्णी

श्रद्धेयास्पद, इन्द्रियनिग्रही, उस महामना के मुझे दो बार ईसरी में दर्शन करने का परम सौभाग्य प्राप्त हुआ था। एक बार वे दर्शन के लिये प्रातः जिनमंदिर की तरफ झुके बढ़े चले जा रहे थे, रास्ते में ही विनम्र चरण वन्दना की। देखते ही पूछा—'बेटा! कहाँ से आई हो?' मैंने सविनय कहा—महाराज आरा आश्रम से! ओह तुम शशिप्रभा तो नही? मैंने कहा—हाँ महाराज मैं शशिप्रभा हूँ। अब तो उनका आशीर्वाद और दोपहर प्रवचन में आने का आमंत्रण पा मैं निहाल हो उठी। सच वह दिन, वह शुभ घड़ी मेरी जिन्दगी की अपूर्व निधि बन गयी। उस दिन श्री सम्मेदशिखर जी जाने का आयोजन रद्द करके महाराजश्री को परम पुनीत अध्यात्म रस परिपूर्ण वाणी सुनकर चातक पक्षी की तरह स्वाति बूँद की तृप्तता के साथ मुझे भी उनके शब्दों से जीवन का बड़ा भारी संबल मिला। उनकी हृदय से निकलने वाली शब्दावलियों मे, चर्चाओं में उनकी कृशकाया होते हुए भी अनोखे व्यक्तित्व से साधकों, जिज्ञासुओं, श्रावकों को अनुपम आकर्षण मिलता था। किसी कवि ने ठीक ही तो कहा है—

'यदि सन्ति गुणाः पुंसां विकसन्त्येव ते स्वयम्।
न हि कस्तूरिकामोदः, शपथेन प्रतीयते॥'

गुणों के ग्राहक उनके पुनीत सान्निध्य को पाकर धन्य हो गये। सद्गुणों को पाकर और

अध्यात्म गंगा से परिप्लावित होकर महाराज आबाल-वृद्ध जनों के पूज्य हो गये। विनम्रता गुण से आप अभिभूत हो अपनी लघुता को ही दर्शाने लगे, ऐसी महान् आत्मा के प्रति जनमानस का मस्तक स्वतः झुक जाता है।

जिसके निर्मल अन्तःकरण में ममता से विरक्ति और समता की दिव्य ज्ञान ज्योति जग उठती है, जो 'अयं निजः परो वेति' इस कटु भावना को भूल जाता है ऐसी ही पुनीत भावना से ओतप्रोत साधु-श्रमण—इन्द्रियजेता के रूप में वर्णीजी अभिवन्दनीय हैं।

जैन महिलादर्श के सम्पादन काल में महाराजश्री द्वारा लिखित 'कर्म सिद्धान्त' शास्त्र समीक्षा हेतु आया। पुस्तक की भाषा, सिद्धान्त के अनुकूल उपयुक्त समालोचना 'महिलादर्श' में प्रकाशित हुई। समालोचना के बाद उक्त शास्त्र को पू० स्व० माँश्री स्वाध्याय हेतु लगा लेतीं। मध्याह्न एवं रात्रिकाल में मैं माँश्री के समक्ष शास्त्र वाचन करती। माँश्री बीच-बीच में बड़े सरल सुबोध शब्दों मे शास्त्रोक्त बातों को समझाती जातीं। कर्म प्रकरण में ही वर्णीजी के तात्त्विक विचारों पर प्रकाश डालती थीं।

इस प्रकार पूज्या स्व० मांश्री श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णी महाराज के विचारों, उनकी कर्मठ-लेखनी, अपूर्व धर्म-साधना, आदर्श जिनवाणी के प्रचार-प्रसारमयी क्रियाओं से प्रभावित थीं। जब-तब आपकी चर्चा संत पुरुषों के रूप में कर लेती थीं।

श्री श्रद्धेयास्पद पू० जिनेन्द्र वर्णी जी जैसे भीतर से आध्यात्मिकता की प्रतिमूर्ति थे, वैसे ही बाहर से तप-त्याग के ओज से अतीव देदीप्यमान थे। उनकी सरलता, सात्त्विकता, आत्मीयता, मृदुता, अनुकरणीय है। ऐसे युग पुरुष, भव्यात्मा की पुण्य-स्मृति में उनके पुनीत पादपद्मों में विनम्र श्रद्धामयी सुमनाञ्जलि समर्पित है।

'दर्शन पाकर हम धन्य हुए,
पा शुभाशीष, अतिरम्य हुए
काया कृश तेरी थी तरणी
जय जिनेन्द्र, जय हे वर्णी

अध्यात्म-मार्ग के महा ऋषि
इन्द्रिय-निग्रही, अपूर्व यति
है सदा नमन, हे भव-हरणी
जय जिनेन्द्र, जय हे वर्णी

●

श्री जिनेन्द्र वर्णी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या संकाय में आयोजित सम्पादन एवं अनुसंधान प्रशिक्षण शिविर के अवसर पर प्राच्य ग्रन्थ प्रदर्शनी का उद्घाटन करते हुए। साथ में शिविर के संचालक डॉ० गोकुल चन्द्र जैन। सन् १९७८।

शिविर के उद्घाटन अवसर पर स्टेज पर दायें से डॉ० दरबारी लाल कोठिया, प्रो० राजमोहन उपाध्याय, श्री जिनेन्द्र वर्णी, भट्टारक चारुकीर्ति, मूडविद्री, कुलपति डॉ० हरिनारायण, डॉ० कमलेश दत्त त्रिपाठी, डॉ० गोकुल चन्द्र जैन, डॉ० योगेन्द्र नारायण शर्मा।

मुन्नी बाबू की माताजी वर्णी जी को श्रद्धासुमन अर्पित करते हुए

अभिनन्दन समारोह का एक दृश्य

गुण-निधि वर्णीजी

श्रीमती सुधा वि० पाटनी, भोपाल

•

लोकेषणा से दूर, छिपे हुए, जैन जगत् के एक अद्भुत सितारे की छवि, आज जैन समाज के समक्ष आ रही है। सितारा तो टूट गया, किन्तु छवि विद्यमान है।

वह महकता हुआ खूबसूरत फूल तो मुरझा गया, किन्तु उसकी मनमोहक खुशबू आज भी मुमुक्षुओं को शान्ति प्रदान कर रही है।

हाँ विद्वत्ता का सूर्य तो डूब गया, किन्तु उसकी किरणों की रोशनी आज भी विद्वानों का भ्रम दूर कर सत्य का पथ दिखा रही है।

शान्ति की मधुर बाँसुरी बजाने वाले तो चले गये, किन्तु उसकी सुखद गुंजन आज भी हमें तृप्त कर रही है।

श्रद्धेय वर्णीजी, अनेक गुणों की निधि थे। प्रशम संवेग अनुकम्पा और आस्तिक्य भावनाओं से सुशोभित थे। वे आत्म शोधक थे, स्व-पर कल्याणी थे। जैन धर्म के मर्मज्ञ, विशाल व वैज्ञानिक-दृष्टि वाले थे। अद्भुत प्रतिभाशाली, निरभिमानी, निर्लोभी, विद्यावारिधि, महान् विचारक, कुशल वक्ता इत्यादि अनेक गुण आपके आभूषण थे।

आपका मस्तिष्क विवेक का सागर था, आँखें वात्सल्य की सरिता थीं, मुख हित-मित प्रिय वाणी का बगीचा था, हृदय करुणा का झरना था, आप स्वय समता की प्रतिमा थे।

आपका विराट् हृदय बालक जैसा सरल व फूल जैसा कोमल था। वह एक ऐसा पवित्र उद्गम था जहाँ से निष्पक्ष व स्वतन्त्र वाणी का स्रोत धारा-प्रवाह फूटता था। आपके हृदय में गुरु का बहुत महत्त्वपूर्ण व उच्च स्थान था। "गुरु पर श्रद्धा किये बिना जीवन का विकास नहीं हो सकता है। गुरु बहुत महान् होते हैं।" इस तरह से वे अनेकों बार गुरु के महत्त्व का चित्रण करते थे।

आपका शारीरिक बल जितना कम था आत्मिक बल उतना ही अधिक था। यही कारण है कि शारीरिक स्वास्थ्य के प्रतिकूल बने रहने पर भी आपने जीवन पर्यन्त अपने व्रत-तप संयम का दृढ़ता से पालन किया, और निर्भय होकर समाधिपूर्वक देह छोड़ी, जो कि समाज के लिए एक महान् आदर्श है। धन्य है आपका अपूर्व आत्म-पुरुषार्थ, धन्य है आपकी कठोर साधना और धन्य है आपकी माँ जिनवाणी की सेवा।

आप अकेले ही, "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश" नामक एक ऐसी अनुपम अनूठी व अनमोल नौका का निर्माण कर गये हैं, जिसमें हम व हमारी भावी पीढ़ियाँ सरलता से जैन-वाङ्मय रूपी नदी को पार कर सकते हैं। इस नौका-निर्माण कार्य ने बड़े-बड़े विद्वानों को आश्चर्य चकित कर दिया है।

इसके अतिरिक्त आप नयदर्पण, कर्मसिद्धान्त, शान्ति पथ प्रदर्शन, पदार्थ-विज्ञान इत्यादि ऐसे-ऐसे खूबसूरत रत्न भेंट में देकर महान् उपकार कर गये हैं जिन्हें हम कभी भूल नहीं सकते हैं।

ऐसी महान् निकट-भव्य आत्मा के जन्म से हम गौरव का अनुभव करते हुए श्रद्धा पूर्वक आपके पवित्र चरणों में नतमस्तक हैं और कामना करते हैं कि शीघ्र ही जिनेन्द्र वर्णीजी को जिनेन्द्र पद की प्राप्ति हो।

•

ऐ शमा तू नहीं है मगर रोशनी तो है

डॉ० मोहम्मद शमीम रजवी, वाराणसी

●

१९७३ या १९७४ में पहली बार मेरे मित्र मुन्नी बाबू ने रात लगभग साढ़े ७ बजे अपनी दूकान से उठते हुए मुझसे कहा—'मैं मैदागिन स्थित जैन धर्मशाला में आयोजित अपने धर्म के एक वरिष्ठ मुनि जी का प्रवचन सुनने जा रहा हूँ' तो मैं भी उनके साथ हो लिया। जब हमलोग प्रवचन स्थल पर पहुँचे तो मुनि जी को प्रवचन चौकी पर बैठे पाया, जिनको हम लोगों ने नमस्कार किया और दीवार के सहारे बैठ गये। ये प्रवचन एक हाल जैसे कमरे में आयोजित था, जिसमें एक ओर औरतें और दूसरी ओर मर्द फर्श पर बैठे हुए थे। कुछ ही देर में श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ने नम्र वाणी से अपना प्रवचन आरम्भ किया। जाते समय रास्ते में ही मुन्नी बाबू ने मुझको श्री जिनेन्द्र वर्णी जी का संक्षिप्त परिचय दे दिया था। प्रवचन लगभग एक घण्टा चला, जिसका विषय कुछ दार्शनिक रूप मे मानव का मानव से सम्बन्ध पर आधारित था। प्रवचन के अन्त में जब वर्णी जी ने अपने प्रवचन को समेटते हुए इसी विषय पर श्री महावीर जी की दी हुई शिक्षा का हवाला दिया तो महसूस हुआ कि यह कोई धार्मिक प्रवचन था। वरना पूरे समय एक मै ही क्या सभा में उपस्थित हर व्यक्ति उनके प्रवचन में खोया सा बैठा था। यूँ तो उनका एक-एक वाक्य बहुत ही बहुमूल्य था किन्तु अत्यन्त सहज एवं सरल था। चूँकि अपने ही चारों ओर की दैनिक जीवन की छोटी-बड़ी घटनाओं के उदाहरणों एव विवरणों से सुसज्जित था।

इस सभा से घर आने के बाद भी इस प्रवचन की मुख्य-मुख्य बातें मस्तिष्क में गूँजती रहीं और इस दार्शनिक पुरुष के दर्शन की इच्छा बनी रही।

इस भेंट के एक या दो साल बाद मुन्नी बाबू ने मुझसे एक डॉक्टर की हैसियत से वर्णी जी महाराज को देखने व चिकित्सा करने के लिए अपने निवास स्थान पर बुलाया। मुन्नी बाबू मुझे लेकर जब वर्णी जी के निकट पहुँचे और उनसे कहा कि उनकी चिकित्सा के लिए डॉक्टर आये हैं तो वो चटाई पर लेटे हुए चादर से मुँह खोलते हुए कुछ नाराज से जान पड़े। मैंने उनके शरीर का मुआइना किया। उनके सीने मे दाहिना फेफड़ा ही नही था। जो शायद किसी पिछली बीमारी व चिकित्सा का प्रमाण था। उस समय उन्हें बुखार था और कड़ी ठंडक के चिन्ह स्पष्ट थे। मैंने मुन्नी बाबू से कहा कि बुखार उतारने के लिए महाराज जी को काढ़ा पिलाया जाय। अथवा अधिक मात्रा में गरम पानी में नीबू का रस पिलाया जाय, कानों में कुसुम सरसों का तेल डाला जाय। मैं इन्हें कल फिर देखना चाहूँगा। मेरी इन बातों को सुनकर वर्णी जी महाराज के मुख पर प्रसन्नता के चिन्ह दिखायी दिये और वे उठ कर बैठ गये। अब उन्होंने प्रसन्नता व्यक्त करते हुए मुझसे कहा कि आप ने मेरे विचार में बहुत उचित चिकित्सा विधि अपनायी है जिससे मेरा मनोबल बढ़ गया, नहीं तो मैं डर गया था कि मुन्नी बाबू कोई आधुनिक चिकित्सक पकड़ लाये हैं।

वर्णी जी महाराज, जब भी बनारस आये। अनेक बार मुन्नी बाबू के साथ और अकेले भी मुझे उनका दर्शन करने और निकट बैठ कर ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिलता रहा। इसी बीच श्री वर्णी जी महाराज ने मुझसे 'इमाम गजाली' की फारसी में लिखी हुई किताब "कीमियाए-सआदत" का उर्दू अनुवाद माँग कर कई महीने का समय देकर उसका अध्ययन किया। जिससे

हमारी मालूमात में यह बात आयी कि उन्हें उच्च स्तरीय उर्दू और इस्लाम के दर्शन का भी अच्छा खासा ज्ञान प्राप्त था। जब वह किताब 'किमियाये सआदत' उनके पास से लौटी तो उसपर जगह-जगह निशानात लगे हुए थे, और हाशिये पर कुछ हवाले जैसे शब्द हिन्दी में अंकित थे। मुझे खेद है कि वह किताब आज मेरे पास नहीं है, वरना मेरे लिए श्री वर्णी जी महाराज का स्मृति चिह्न होता।

मई सन् १९८३ में जब मैं ईरान से छुट्टी पर आया और मुन्नी बाबू ने मुझे बताया कि महाराज ने अपने शरीर को त्यागने का निश्चय करके पारसनाथ स्थित जैन मन्दिर में आसन ग्रहण कर लिया है तो मुझे अत्यधिक दुःख हुआ। मैं उनके दर्शन के लिए पारसनाथ गया। उनको देखकर उनके चेहरे पर बिखरी मन्द-मुसकान सहित बेफिक्री और संसार से विमुखता ने मुझे बहुत प्रभावित किया।

श्री जिनेन्द्र वर्णी जी महाराज की महानता से मैं बहुत ज्यादा परिचित भी नहीं, फिर भी यह महसूस किये बिना नहीं रह पाता कि स्वयं वे और उनका ज्ञान अद्वितीय था। यह प्रश्न कि वह शरीर जिसने अपने माध्यम से इतने ऊँचे स्तर पर पहुँचने और संसार से परिचित कराने में ३-४ दशक वर्ष तक उनकी सेवा की अथवा इस सांसारिक जीवन के हर सुख-दुःख में उनका वफादार साथी रहा। महाराज ने उसे त्याग देने का क्यों निर्णय लिया ?

मेरे इस प्रश्न के उत्तर में मुन्नी बाबू ने मुझे बताया कि शरीर से नफरत का प्रश्न ही नहीं है। वे अपने को शरीर के प्रति कृतज्ञ मानते थे। जब शरीर काम का नहीं रह गया अथवा जब उससे कोई कल्याणकारी कार्य नहीं हो सकता, तो उसको विश्राम दे देना चाहिये—शरीर आपको छोड़े वह कष्टकारी है और यदि उसके पहले आप शरीर को छुट्टी दे दें, तो आप का मरण सुख का मरण होगा। शरीर को छोड़ने का निश्चय करने से उसकी अवधि घट या बढ़ नहीं सकती। ये वर्णी जी महाराज मानते थे।

बहरलाल श्री वर्णी जी महाराज ने अपने शरीर को त्याग दिया या उन्हें स्वाभाविक मृत्यु ने हमसे जुदा कर दिया, तो भी हमारा सम्बन्ध उनसे स्थापित ही है और आज हमें उनकी अनुपस्थिति का खेद है।

एक बहता हुआ चश्मा रुक गया।
एक जलता हुआ दिया बुझ गया॥

चाहे मृत्यु ने शरीर को आत्मा से अलग कर दिया या किसी आत्मा ने कदम बढ़ा कर मृत्यु को गले लगा लिया। अब तो केवल हमें कल्पित दर्शन ही प्राप्त हैं। इतना भी कम नहीं कि उनके दिये हुए असीम ज्ञान का कोई अंश भी हम अपने सांसारिक जीवन में कर्म-सिद्ध करेंगे तो यह हमारे उनके सम्बन्ध का गौरवचिन्ह होगा।

हजारों साल नरगिस अपनी बेनूरी पर रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है चमन में दीदावर पैदा॥

●

सहज आध्यात्मिक-सन्त

श्री गणेश प्रसाद जैन, वाराणसी

●

'जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोष' तथा 'समणसुत्तं' जैसी अमर कृतियों के रचयिता श्री जिनेन्द्र वर्णीजी का जन्म ज्येष्ठ कृष्ण २ सं० १९७७ में पानीपत मे सुप्रसिद्ध एडवोकेट श्री जय भगवान् जैन के यहाँ हुआ था। श्री जयभगवान् जी जैन, वैदिक, बौद्ध तथा अन्य दर्शनों के अच्छे ज्ञाता थे। जिनेन्द्रजी को पैतृक सम्पत्ति के रूप में पिता की विद्वत्ता प्राप्त हुई थी।

'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' कहावत के अनुसार बचपन में ही आपने इलैक्ट्रिक तथा रेडियो-विज्ञान का प्रशिक्षण प्राप्त कर पानीपत में ही एक फर्म स्थापित की। लगभग तीन वर्षों में वह पानीपत की एक सुप्रतिष्ठित प्रख्यात फर्म बन गई। इतना सब होने पर भी जिनेन्द्र जी को व्यापार में इतना अधिक आकर्षण न था। पिता के स्वर्गवासी हो जाने पर छोटे बन्धुओं की (ज्येष्ठ होने के नाते) जिम्मेदारी जिनेन्द्र जी पर आ गई। अतः कर्त्तव्य के प्रति निष्ठा होने से जिनेन्द्र जी ने अपने अनुजों को व्यापारिक-शिक्षा दे निपुण बनाकर उन्हें दुकान का कार्यभार सौंप दिया।

पानीपत वाली फर्म इण्डियन ट्रेडर्स ने विशाल रूप ग्रहण किया और वह अब कलकत्ता में एम० ई० एम० नाम से एक बड़ी ठेकेदारी संस्था के रूप में कार्यरत हो गई। इस वृद्धि और प्रसिद्धि ने भी जिनेन्द्र जी के चित्त में धन तथा ख्याति के प्रति कोई आकर्षण उत्पन्न नहीं किया, अपितु विरागता में वृद्धि हुई। आप सब कुछ कार्य निष्काम-भाव से अपने छोटे भाइयों के हित का ध्यान रखते हुए करते थे। सदा उन्हें यह ख्याल बना रहता था कि मेरे छोटे भाई जल्दी से जल्दी अपने पाँव पर खड़े होकर सारी जिम्मेदारी सम्हाल लें। फर्म में हिस्सा रखने का भाइयों का आग्रह टाल कर आप कलकत्ते से पानीपत लौट आये।

परिवार के उत्तरदायित्व से मुक्त होकर अपनी सहज प्रवृत्ति के अनुरूप अध्यात्म-मार्ग पर अग्रसर होकर आप स्वाध्याय में लीन रहने लगे। वस्त्र में एक लुँगी, एक सूती चादर का उपयोग करते थे और भोजन २४ घंटे में एक बार करते थे। अब मन्दिर के शान्त वातावरण में निवास करने लगे। १९५४-५५ में सोनगढ़ जाकर श्री कानजी स्वामी के यहाँ शास्त्रों का पठन-पाठन किया। १९५७ में अणुव्रत धारणकर गृह त्यागी हो गये। भाद्रपद शुक्ल ३ सं० २०१९ (विक्रम), सन् १९६१ में आपने ईसरी (सम्मेदशिखर) में क्षुल्लक दीक्षा धारण कर ली।

असाता वेदनीय कर्मों के उदय होने के कारण बचपन से ही प्रायः टाइफाइड के शिकार थे। पिता से श्वास का रोग धरोहर में प्राप्त हुआ था। सन् १९३८ में जब आपकी आयु १६ वर्ष की थी, आपको क्षय रोग ने ग्रस लिया था। डाक्टरों ने स्वास्थ्य उपचार के लिए एलोपैथिक औषधियाँ प्रयोग करने को दी तो आपने उन्हें लेने से इन्कार कर दिया। कॉडलिवर आयल तथा लिवर ऐक्सट्रैक्ट का इन्जेक्शन भी नहीं लिया। अस्वस्थ बने रहे।

प्रेरणा—सन् १९४९ में आपके जीवन में एक महत्त्वपूर्ण घटना घटी। वह यह कि आप एक दिन अपने घर में चिन्तनशील बैठे थे। मूसलाधार वर्षा हो रही थी। दसलक्षण पर्व चल रहा था। परिवार के सभी लोग मन्दिर जी में थे। आपको ध्यान आया इस समय मन्दिर जी में प्रवचन हो रहा होगा। अतः आप उस मूसलाधार भीषण वारिश में भींगते हुए मन्दिर जी

आ पहुँचे। आपके पिता श्री जय भगवान जी प्रवचन कर रहे थे। प्रसंगानुसार उनके मुख से 'ब्रह्मास्मि' शब्द निकला। वही शब्द आपका गुरु-मन्त्र बना। उस दिन से शास्त्रों का स्वाध्याय बड़ी गहराई से किया जाने लगा। स्वाध्याय में जितने भी पारिभाषिक शब्द आते, उन्हें आप पृथक् से लिखते जाते। क्रमशः यही शब्द-संग्रह बहुत अधिक मात्रा में एकत्रित हो गया। इस शब्द-संग्रह को उपयोगी बनाने की दृष्टि से आपने कई बार जैन-वाङ्मय का आलोडन कर डाला। इस प्रकार से जैनेन्द्र-सिद्धान्त कोष का व्यवस्थित प्रारूप प्रस्तुत हो गया। यह एक चमत्कारी घटना थी।

विद्वत्ता के कारण समाज में आपकी प्रतिष्ठा निरन्तर वृद्धि को प्राप्त हो रही थी, परन्तु आपका सत्यान्वेषी चित्त इस प्रतिष्ठा प्राप्ति से ,भयभीत हो उठा। आपको सहज ही यह आभास होने लगा कि मैं दर्प के गलत रास्ते पर आगे बढ़ रहा हूँ। मैं सत्य मार्गच्युत न हो जाऊँ यह सोच-कर आपने तुरन्त प्रचार-प्रतिष्ठा से पृथक् होकर मौनवृत्ति धारण कर एकान्तवासी बन गये।

सन् १९७० ई० के जाड़े में आप पर पुराने रोग श्वास ने गहरा आक्रमण कर दिया। आप समाधि-मरण द्वारा प्राण त्यागने का विचार करने लगे। डाक्टरों का अभिप्राय था कि रोग का मूल कारण जल की कमी है। शाम को भी एक बार जल ग्रहण करने मात्र से रोग स्वयं शमन हो जायेगा। रोहतक जैन समाज ने आपसे आग्रह किया कि आपके द्वारा धर्म और समाज का बराबर उत्थान हो रहा है, आप अपने लिए नहीं, समाज के लिए अपने जीवन की सुरक्षा के लिए शाम को जल ग्रहण कर लिया करें।

निर्भीक सत्य-निष्ठा—'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' की रचना अधूरी थी। आपके मन में भी माता सरस्वती की अधूरी आराधना को छोड़ने में व्याकुलता थी। समस्या यह थी कि 'वर्णी' पद की आचार-संहिता जल शाम को ग्रहण करने की आज्ञा नहीं दे रही थी। किन्तु शाम को जल ग्रहण न करना मृत्यु का सीधे आवाहन था। अतः भारी ऊहापोह के पश्चात् माँ सरस्वती की अधूरी आराधना को पूर्ण करने के लिए कटिबद्ध हो गये। आपके कुछ भक्तों ने (आपको) सुझाव दिया कि "आप बिना समाज को बतलाये अप्रत्यक्ष रूप से सायंकाल जल ग्रहण कर लिया करें।" आपने भक्तों को निराश करते हुए कहा कि एक सत्य की आराधना मे लगे साधक के लिए यह भारी कलंक की बात है।

आपने क्षुल्लक (वर्णी) पद और वेश दोनों का परित्याग कर दिया, साथ ही समाचार-पत्रों में इसकी सूचना भी प्रकाशित कर दी। प्रच्छन्नता आपकी दृष्टि में सबसे बड़ा पाप थी। आपकी प्रकृति प्रारम्भ से ही धर्म-भीरु रही। आप कलकत्ता चले गये। श्री जयकृष्ण जैन (मुन्नीबाबू घड़ी वाले) अपनी माता जी के आदेशानुसार श्री जिनेन्द्र जी को कलकत्ता से आग्रह कर वाराणसी लाये। वाराणसी की जैन-समाज ने बड़े उत्साह से आपका स्वागत किया, और नित्य आपके प्रवचन सार्वजनिक रूप में मैदागिन जैन धर्मशाला के प्रांगण में होने लगे। उपदेश सभा का प्रचार इतना अधिक रहा कि अजैनों के अतिरिक्त विद्या-व्यसनी कुछ मुसलमान भी आपके उपदेश से आकर्षित हो नित्य सभा में आते थे। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' के प्रकाशन का कार्य स्वयं अपनी देख-रेख में पूर्ण कराया। १९७२ ई० में श्री सुरेन्द्रनाथ जी के आमन्त्रण पर आप ईसरी चले गये। उद्देश्य की पूर्ति पश्चात् शरीर-त्याग (समाधि-मरण) की भावना पुनः मन में जागृत हो उठी।

कार्य क्षमता—परन्तु इसी समय आपको पूज्य बिनोबा जी ने एक महत्त्वपूर्ण प्रेरणा दी। कहा—जिस प्रकार बौद्धों का 'धम्मपद' और हिन्दू धर्म की 'गीता' है। इसी प्रकार का विश्वमान्य जैन-धर्म का एक ग्रन्थ देना चाहिये। जो चारों जैन सम्प्रदाय को मान्य हो।

कार्य कठिन ही नहीं, अपितु असम्भव सा था। परस्पर-विरोधी-सम्प्रदायों के प्रतिष्ठित आचार्यों को एक ही स्थल पर एकत्रित करके एक ही उस कृति को स्वीकार कर लेना कल्पनातीत बात थी। किन्तु पुण्ययोग से वह शुभ अवसर तीर्थंकर भगवान् महावीर की २५०० वीं निर्वाण शताब्दी का था। इस योग ने असम्भव को सम्भव बना दिया, और ३० नवम्बर १९७४ को चारों जैन-सम्प्रदायों के अग्रगण्य आचार्यों एवं ३०० आये विद्वानों के मध्य विचार विनिमय के पश्चात् (कई दिनों की गोष्ठी पश्चात्) श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा संकलित "समणसुत्तं" नामक ग्रन्थ को मान्यता सर्वसम्मति से प्रदान कर दी गई।

इसी भारी भरकम कार्य (समणसुत्तं) की रचना जब चल रही थी, तभी पूज्यवर श्री गणेश-प्रसाद जी वर्णी की जन्म-शताब्दी आ गई। समाज का आग्रह हुआ कि इस अवसर पर पूज्यश्री की स्मृति में कोई एक आदर्श-ग्रन्थ प्रकाश में आना चाहिये, जिसकी मुख्य विशेषता यह होनी चाहिए कि ग्रन्थ में एक भी शब्द अपना नहीं होना चाहिए। सम्पूर्ण शब्द वर्णी जी महाराज के ही होने चाहिए। श्री जिनेन्द्र जी ने ६-७ माह के अल्प समय में कठिन परिश्रम करके 'वर्णी दर्शन' नाम का ग्रन्थ तैयार कर दिया। १९७४ में ५०० पृष्ठों वाला यह ग्रन्थ पूज्यवर वर्णीजी की पूरी जीवनी तथा उनके सम्पूर्ण उपदेशों के सार सहित शान्ति-निकेतन-उदासीन-आश्रम, ईसरी बाजार (डि० गिरिडीह) से आश्विन कृष्ण ४ वि० सं० २०३१ (५-१०-७४) को प्रकाशित हुआ।

'शान्ति पथ-प्रदर्शन के दो संस्करण समाप्त हो चुके थे। उसकी माँग नित्य बढ़ती जा रही थी। बा० सुरेन्द्रनाथ ने 'शान्ति पथ-प्रदर्शन' पुनः संस्कारित कर प्रकाशित कराने के लिए आप पर विशेष दबाव दिया। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने अपने स्वास्थ्य का ध्यान न रखते हुए निर्विश्राम परिश्रम द्वारा १९७६ में वह कार्य पूर्ण कर दिया।

आप वाराणसी में ७वें तीर्थंकर श्री सुपार्श्वनाथ की जन्मभूमि के मन्दिर में निवास कर रहे थे, तभी आप पर अपने परिचित पुराने शत्रु श्वास रोग ने गहरा आक्रमण कर दिया। अवसर को आपने अनुकूल माना, आपको ऐसा लगा कि सरस्वती माता स्वयं ही उन्हें इस बहाने से रोहतक में किये गये संकल्प का स्मरण दिला रही हैं। आपने बिना किसी से कुछ प्रगट किये मौन धारण कर अनशन शुरू कर दिया। समाज में खलबली पड़ गई। पं० कैलाशचन्द्र जी, पं० दरबारीलाल कोठिया, पं० जगमोहनलाल (कटनी) तथा काशी जैन समाज के अग्रगण्य जनों ने आपको मौनभंग करने का आग्रह किया। किन्तु आप अपने निश्चय से टले नहीं।

बा० सुरेन्द्रनाथ जी ईसरी से आये, आपको समझाते हुए अपनी आशंका प्रगट की, तब भी आपने मौन भंग नहीं किया। बनारस समाज ने बाहर आदमी दौड़ाये, कोल्हापुर से पूज्य मुनिवर श्री समन्तभद्र स्वामी और पवनार से पूज्य विनोबा जी ने अपने प्रतिनिधियों से लिखित सन्देश भेजे। अन्ततः इन आदेशों का आप पर प्रभाव पड़ा, और आपको बाध्य होकर ४० दिन चला अनशन त्यागना पड़ा। परन्तु आश्चर्य की एक बड़ी बात यह हुई कि इन दिनों के अनशन और मौन ने आपका स्वास्थ्य बिगाड़ने के बदले काफी सुधार दिया।

सम्प्रदायवाद एवं रूढ़िवाद से आप सदा विलग रहे। आपका मत था कि तत्त्व लोक के अवगाहक को ब्राह्मण, शूद्र, जैन, अजैन का भेद कैसे समझ में आ सकता है? मैं न तो दिगम्बर हूँ, न श्वेताम्बर हूँ, न जैन हूँ, न अजैन हूँ, न हिन्दू हूँ, न मुसलमान हूँ। मैं सब कुछ हूँ।

स्वास्थ्य लाभ न होने के कारण साधना में बाधा देखते हुए आपने आचार्य श्री विद्यासागर जी से विशेष अनुरोध कर संलेखना-व्रत १२-४-८३ को ले लिया। २१ अप्रैल को पुनः क्षुल्लक दीक्षा ली और समताभाव को धारण किया तथा आत्माभिमुख होते हुए आपने २४-५-८३ को नश्वर शरीर का ईसरी धाम में त्याग कर दिया। स्वर्गवासी श्री जिनेन्द्रवर्णी जी के चरण-कमलों में शत-शत प्रणाम।

●

सच्चा साधक

श्रीमती सुधा अग्रवाल, वाराणसी

●

साधक की साधना क्या? एक दीपक का प्रकाश है, जो दूसरों को राह दिखाने में स्वयं का जीवन समाप्त कर देता है। साधु का जीवन ठीक वैसा ही है जो साधना करता हुआ अपना जीवन तो समाप्त करता रहता है, किन्तु दूसरों का पथ प्रकाशित करने के लिए सदैव ज्ञान का पुञ्ज जलाता रहता है। उसका जीवन मोमबत्ती की भाँति ही गलता रहता है, क्षण-क्षण व्यतीत होता रहता है किन्तु शुभ्र ज्योत्सना बिखेरता हुआ। ज्ञानदीप तो ऐसा दीप है जो जीवन में एक बार जल जाता है तो कुछ घण्टे के लिये ही नहीं, बल्कि जीवन पर्यन्त के लिये। धन्य है ऐसा साधु समाज, धन्य है ऐसा साधक, जिसने जीवन में केवल देना ही जाना, लेना नहीं, समर्पण ही किया अर्जन नहीं, त्याग किया, ग्रहण नहीं। फिर देने वाला भला भगवान् के सिवा और कौन हो सकता है? इसी कारण इन साधुओं के प्रति हृदय में थोड़ी और श्रद्धा बढ़ जाती है। इन्हीं शब्दों के साथ मैं वर्णी जी के चरणों में नतमस्तक हूँ। ॐ शान्ति।

●

दुर्लभ व्यक्तित्व : वर्णी जी

श्रीमती पुष्पा जैन, इन्दौर

●

मेरे अन्तर्गुरु ! मेरे आदर्श ! मेरे हृदय में सदा विराजित हैं। इन महापुरुष के विषय में कुछ भी कहना मात्र हँसी का पात्र होना है, क्योंकि कहाँ वे अत्यन्त विरागी और समता के सागर ! और कहाँ मैं रागी-प्रमादी प्राणी। फिर भी उन जैसे परम सन्त का नैकट्य प्राप्त होने से आज भी मैं अपने को गौरवान्वित समझती हूँ।

लगभग दश वर्ष पूर्व जब मैंने उनकी कृति 'शान्ति पथ प्रदर्शन' पढ़ी, तभी से उनके दर्शन की उत्कट भावना थी, जो शिखर जी में साकार हुई। मैं तो सोच भी नहीं सकती कि वह महान् आत्मा १० मिनट के दर्शन मात्र से मुझे इतना प्रभावित कर सकेगी और वह भी सदा के लिए।

उन्होंने गृहस्थी के कीचड़ में फँसी हुई मुझको प्रेरणा दी। वे मेरे समक्ष एक महान् आश्चर्य की तरह होते और मैं प्रमादी बालकवत् शिष्य बन अपना दोषमय जीवन उनके सामने वर्णन करती परन्तु महान् आश्चर्य ! कि उन्होंने मुझे उपेक्षित न करके पवित्र माँ की तरह समझाया और स्थिति-करण कर ऊपर उठने की प्रेरणा दी। उनकी सहज करुणा थी मेरे प्रति। वात्सल्य यदि मैंने कहीं देखा और सीखा तो मुझे एकमात्र उन्हीं में मिला।

इसके पश्चात् भोपाल-चातुर्मास के अवसर पर मुझे दर्शन-प्रवचन के माध्यम से उनका धार्मिक समागम प्राप्त हुआ, वह सचमुच अविस्मरणीय है। एक बार मैंने उनसे कहा—भोपाल में आश्रम है आप यहीं सदा के लिये रहिये और सभी भाई-बहनें यहाँ आकर साधना करेंगे तो कहने लगे—'समता का आश्रम कहाँ नहीं ? उसमें तो तीन लोक का वास है।'

मैंने दारुण उपसर्ग-विजेता आगम में ही पढ़े, किन्तु आज के युग में भीषण शारीरिक वेदना की मूर्ति को समता के सागर में डूबे हुए इन आँखों ने साक्षात् देखा। वे इस युग के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं।

मुनिराज जगत् से विरक्त होते हैं, वह मैंने शास्त्रों में पढ़ा है। परन्तु मैंने पूज्य-श्री की आँखों में साक्षात् रूखापन देखा था। उनकी आँखें वैराग्य पूर्ण शान्त रस से सदा भरी रहती थीं।

उनके अकथनीय अथक प्रयत्नों से सृजित 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' युगों तक जिज्ञासुओं का हृदय शान्त करेगा, प्रश्नकर्ता के प्रश्नों का समाधान करेगा, शंकाकारों की शंका का निवारण करेगा।

अन्त में सल्लेखना व्रत धारण कर उन्होंने आगम-वचनों के प्रति अपनी अटूट-निष्ठा का परिचय दिया। इससे उनके अप्रतिहत आत्मपुरुषार्थ का सहज साक्षात् अनुभव जगत् को हुआ। खेद है कि उस महान् छिपी-निधि को जगत् पहचान न सका, क्योंकि सत्य को पहचानने के लिए ज्ञान-नेत्र प्रायः दुर्लभ हुआ करते हैं।

मुझे अत्यन्त दुःख है कि अभिलाषा रखते हुए भी मैं उन महापुरुष के अन्तिम दर्शन न कर सकी। मेरे पास अब कुछ कहने को शब्द नहीं, हृदय भरा जा रहा है। यदि उनकी स्मृति में उठने वाले विकल्पों को लिखूँ तो सच में एक पुस्तक बन जाये। अस्तु, मैं अपने भावों को इन्हीं शब्दों में व्यक्त कर श्रद्धेय श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के चरणों में नमन करती हूँ।

●

तत्त्वज्ञानी श्री जिनेन्द्र वर्णी

श्री जयचन्द जैन, वाराणसी

श्री जिनेन्द्र वर्णी जी का जैन अध्यात्म ज्ञान में वही स्थान है जैसा कबीर का हिन्दू एवं मुसलमान सम्प्रदाय में है। उन्होंने धर्म की व्याख्या एक वैज्ञानिक की तरह अध्यात्म-सिद्धान्तों को सामने रखकर की है।

उन्होंने कहा है, 'धर्म' वस्तु का स्वभाव है जैसे जल का धर्म शीतलता है। उसी प्रकार विश्व के प्रत्येक जीव व मनुष्य के भीतर रही हुई वह चेतना (आत्मा) है, जो ज्ञाता-द्रष्टा निर्विकल्प अजर अमर है। जिस प्रकार कि समुद्र का एक जल कण अपने पूर्ण स्वभाव में स्थित है, उसी प्रकार इस विश्वरूपी चेतन समुद्र मे उसके एक कण रूप में हम हैं, जिसके निकल जाने पर हम जला या गाड़ दिये जाते हैं, जिससे यह पंचभूत का शरीर पंचभूत में मिलता है।

हमारे इस औदारिक शरीर के भीतर एक कार्माण शरीर है, उस पर हमारे मन वचन, काया के द्वारा जो भी कार्य होते हैं वे टेप-रिकार्ड के कैसेट की पट्टी के मसाले पर अंकित शब्दों की भाँति अंकित होते रहते हैं, ये ही हमारे कर्म, सस्कार, आदत इत्यादि के रूप में संसार में सर्वत्र होते दिखाई पड़ते हैं। ये प्रत्येक जीव के उनके स्वभाव के अनुसार होते हैं और "जो जस करहिं सो तस फल चाखा" द्वारा कर्म फल भोगते हैं, और फिर कर्म बाँध लेते हैं, यह चक्र अनादि काल से चल रहा है। जैसा संस्कार कार्माण शरीर पर अंकित होता है वैसा ही मन द्वारा विचारते हैं, बोलते हैं, करते हैं, भोगते हैं, समय आने पर इसके भोग-दण्ड से बच नहीं सकते। इस विश्व का विधान अटल है। मनुष्य, देव, इन्द्र, धरणेन्द्र कोई भी क्यों न हो इसकी दृष्टि से ओझल नहीं रह सकता और नहीं इसके पास से बच सकता है। विश्व में जितने भी चेतन तथा अचेतन पदार्थ हैं वे सब इस व्यवस्था के अधीन वर्तन कर रहे हैं। यह महान् आश्चर्य है कि हम अपने कार्माण शरीर के दास बने हुए उसके रस्से से बँधे उसके द्वारा चलाये चले जा रहे हैं, और एक सेकेंड भी यह नहीं सोचते कि हम कैसे इसके रस्से को काटकर स्वतन्त्र हो, जन्म-मरण से मुक्त हो जाँय।

वीतराग भगवान् कहते हैं कि ध्यान, ज्ञान द्वारा मन के विचारों को शान्त कर दो तो उस निर्विकल्प (वीतराग) अवस्था में अपनी चेतना का दर्शन अनुभव कर अपनी मुक्त अवस्था, शान्त एवं शक्तिशाली चेतना के अधिकारी बन सकोगे। भगवान् की पूजा, भक्ति, व्रत, उपवास, तीर्थ यात्रा में जो आध्यात्मिक रहस्य दिया है, उसे न जानकर हम जड़ क्रिया द्वारा धन व समय व्यर्थ नष्ट कर रहे हैं। ऊपर बताये सिद्धान्तों को उन्होंने अपनी लिखी पुस्तकों में जैसे 'शान्ति-पथ' 'कर्म-सिद्धान्त' 'कर्म-रहस्य' इत्यादि में बड़ी अच्छी तरह बताया है। ऐसा साहित्य मुक्ति मार्ग के साधकों के लिए अनिवार्य है। हम उनकी इस आध्यात्मिक निधि में गोते लगायें यही उनके प्रति हमारी श्रद्धाञ्जलि होगी।

वर्णी वर्णों (अक्षरों) के रत्नाकर : समाधि की ओर

सिंघई जीवन कुमार जैन, सागर

●

पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी का प्रथम दर्शन जनवरी सन् १९७० रोहतक में हुआ, जब वे १०५ क्षु० श्री दयासागर जी के साथ जिनालय के निकटवर्ती धर्मशाला में निवास कर रहे थे। दोनों क्षुल्लक अवस्था में ध्यान के अन्तर्रत उस पद की गरिमा का परिपालन पूर्णरूपेण करते थे।

सन् १९८० में वह भदंत भदैनी घाट, वाराणसी से परम निर्वाणभूमि मुक्तागिरि में चातुर्मास-रत परम पूज्य श्री १०८ आचार्य विद्यासागर जी के चरण-सान्निध्य में पहुँचे। साधक श्री वर्णी जी ने साधना की ओर बढ़ने का भाव आचार्यश्री के समक्ष प्रस्तुत किया। उनके निर्देशानुसार लेखनी की गति धीमी हुई, जो वर्णी जी की चिरसंगिनी थी।

सन् १९८१ के चातुर्मास में जब आचार्यश्री भगवान् पार्श्वनाथ की समवशरण-भूमि नैनागिरि में थे, तब गुरु-आज्ञा ने सदा के लिए लेखनी बन्द करवा दी। गुरु द्रोणाचार्य (श्री विद्यासागर जी का वह एकलव्य (श्री जिनेन्द्र जी) अब मूक साधक बना। गंगा की वह निर्मल-धारा बनारस के घाटों से अविराम बहती हुई सागर में लीन होने के लिए छटपटा रही थी।

सन् १९८२ में पू० वर्णी जी एक बार पुनः 'षट्खण्डागम' की वाचना में सागर पधारे, जो आचार्यश्री विद्यासागर जी के सान्निध्य में हुई थी। आचार्य संघ एवं हजारों जनसमूह में लगातार तीन दिनों तक—'वत्थु सहावो धम्मो', 'दंसण मूलो धम्मो', 'चारित्तं खलु धम्मो' की व्याख्या कर वे पुनः बनारस प्रस्थित हो गये।

नवम्बर सन् १९८२ में पूज्य वर्णी जी आचार्य विद्यासागर जी के चरणों में पुनः समर्पित भाव से नैनागिरि में पधारे और समाधि लेने की उनकी भावना थी।

सन्, ८२ का चातुर्मास अपने अन्तिम चरण में था एवं आचार्यश्री का ससंघ बिहार, गिरिराज सम्मेदाचल की ओर होने वाला था। अतः दिसम्बर, जनवरी, फरवरी तीन माह इनका मौन निवास वर्णी-भवन, मोराजी, सागर में रहा। उस समय विद्यार्थी कपूरचन्द जी वैद्य दमोह, उत्तमचन्द जी वकील साहब, गुलाबचन्द जी पटना, संतोष कुमार जी बैटरी वाले, ब्र० जिनेन्द्र कुमार जी एवं अरहन्त जी के साथ पूज्य वर्णी जी की परिचर्या का स्वर्णिम अवसर स्वयं मुझे प्राप्त हुआ।

२५ फरवरी सन् ८३ को पूज्य जिनेन्द्र जी दिगम्बर जैन मन्दिर, मैदागिन पहुँचे एवं २७ फरवरी ८३ को भगवान् पार्श्वनाथ के पादमूल में एवं आचार्यश्री विद्यासागर जी के सान्निध्य में, गिरिराज सम्मेदाचल की तलहटी श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन उदासीन आश्रम (ईसरी-बाजार) में पहुँचे।

१ मार्च ८३ से समाधि-मरण की गुप्त-साधना आचार्यश्री से आन्तरिक-सम्पर्क के आधार पर प्रारम्भ कर दी, जो १२ अप्रैल ८३ को व्रत के रूप में जनसाधारण के परिचय में आयी।

मार्च, अप्रैल एवं मई तीन महीने की निरन्तर रत्नत्रयमयी आत्म-समाधि-साधना के फलस्वरूप, २४ तीर्थंकरों के निरन्तर स्मरण की द्योतक चोबीसवीं तारीख को एवं पंचम-गति रूप

लक्ष्य की परिचायक वर्ष के पाँचवें मई माह में पूज्य वर्णीजी—तीर्थंकरों एवं अनन्तानन्त मुनिजनों की निर्वाण-भूमि से स्वर्गस्थ हुए।

धन्य है वह साधक और धन्य है उनकी वह साधना! जो वर्णों के रत्नाकर में डुबकी लगाकर, हमें 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' जैसे अमूल्य रत्नों को देकर, उन्हीं वर्णों की अतुल गहराइयों में २४ तीर्थंकरों का स्मरण करते हुए पंचम-गति के पुनीत लक्ष्य की ओर अग्रसर हुए।

उस शुद्धात्मा को शत-शत नमन!

●

गुणाकर वर्णी जी

श्रीमती शकुन्तला जैन, वाराणसी

●

मेरे गुरुदेव करुणासागर, दीनबन्धु, दया के सागर थे। उनके गुणों में ही चित्त अनुरक्त हो जाता था। उनके हृदय का करुणस्रोत मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट-पतंग सबके लिए समभाव से फूट पड़ता था—ऐसी अनेकों घटनायें हम श्रद्धालुजनों के समक्ष हैं, जिनसे उनके इस महान् गुण का परिचय सहज प्राप्त हो जाता है।

इसी प्रकार निस्पृहता भी उनकी अपूर्व थी। हम जिज्ञासु जन दर्शन-अध्ययन के लिए उनके पास प्रायः पहुँच जाते थे। कुछ पुरुष एवं महिलायें कुछ दिनो बाद अवसर निकालकर जाते थे, किन्तु वर्णी जी की दृष्टि सबके प्रति सम थी। वही आशीषयुक्त वरदहस्त, शान्त-मुस्कान-साम्यता का परिचय देते थे। उनके गुणों की महिमा का कथन करना मेरी शक्ति के परे है! ऐसे सद्गुरु मेरे हृदय में बसे हैं, उनके चरणों मे शत-शत वन्दन!

●

कर्म, ज्ञान, भक्ति की त्रिवेणी : वर्णी

डॉ० रजनी जैन (रत्ना), वाराणसी

●

अज्ञानता की मृगमरीचिका में हम और आप सभी तड़प रहे हैं। विषय रूपी चारे को देखकर उसमें फँसे हुए हैं किन्तु ज्ञान रूपी अमृत जल नहीं प्राप्त कर पाते हैं। इसके लिए कभी इस विद्वान् के पास जाते हैं तो कभी उस विद्वान् के पास। कभी इस साधु की शरण लेते हैं तो कभी उस साधु के पैर पकड़ते हैं किन्तु सच्चे साधु दुर्लभ हैं। कहा भी है—

शैले शैले न माणिक्यं, मौक्तिकं न गजे गजे।
साधवो नहि सर्वत्र, चन्दनं न वने वने॥

सम्प्रदायवाद के इस युग में समन्वय करने वाले महापुरुष बिरले हैं। ऐसे ही इने-गिने महापुरुषों में आध्यात्मिकता की शंखध्वनि करने वाले प्रातः स्मरणीय श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णी जी हैं। जिनमें सत्य और अहिंसा साक्षात् मूर्त रूप में प्रतिष्ठित है। १७ अप्रैल सन् ८१ को वैशाली में हुई विद्वत्-गोष्ठी में डॉ० कोठारी ने कहा था कि "इनमें से अहिंसा की सुगंध निकलती है।"

अहिंसा का स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष उदाहरण तो हमें उस समय प्राप्त हुआ जब कि श्री जयकृष्ण जी की बगीची में तीन कबूतरों को भूल से बन्द कमरे में छोड़कर पूज्य गुरुवर भदैनी (वाराणसी) के तट पर पहुँचे। करीब १५ दिनों के पश्चात् जैसे ही स्मरण आया वैसे ही दया, प्रेम से आपका हृदय द्रवित हो उठा। आँसुओं की झड़ी आपके नेत्रों से बह चली। गला कुंठित हो गया। उसी क्षण आपने तीन आत्माओं के हनन की कल्पना मात्र से तीन दिनों तक अन्न जल का सर्वथा त्याग कर दिया। उनकी आत्मा की शान्ति के लिए जप करके ही प्रत्येक क्षण को व्यतीत किया। हम लोग कहीं झूठ न बोल दें, इसलिए उन्होंने हमसे कारण छिपाये रखा। किन्तु जब कमरा खोला गया तो न वहाँ कबूतर मिले न उनके शव।

आप के अनुग्रह से ही मुझे अनेक महान् साधकों और सन्त पुरुषों के दर्शन लाभ का सौभाग्य मिला। कभी-कभी प्रमादवश दर्शन करने न जाने पर वे वात्सल्य से ओत-प्रोत होकर कहते थे, "जा, बेटा जा, दर्शन कर आ, साधुओं के दर्शन दुर्लभ हैं।"

साक्षात् तो क्या स्वप्न में भी किसी को पीड़ित नहीं देख सकते थे। प्राणिमात्र में ईश्वर के दर्शन करते हुए उठते, बैठते, सोते "सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः" की मंगल कामना करते थे। समाधिस्थ होने वाले दिन अश्रुपूरित मुझको स्वप्न में दर्शन देकर एवं हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया।

बाबा का शरीर कृश था किन्तु आत्मा सशक्त थी। उस सशक्त आत्मा को उन्होंने अमृतानन्द में सराबोर कर रखा था। महत्तम व्रत करने तथा क्षुधा को सहन करने की अद्भुत शक्ति थी। यमराज को आवाहन करने की अलौकिक सामर्थ्य, मृत्यु को सहचरी बनाने की अद्भुत शक्ति थी। चेहरे पर समाधि व्रत के कष्टानुभूति की शिकन भी नहीं थी। एक विशेष प्रकार की अलौकिक कान्ति थी। समाधि (सल्लेखना व्रत) में रहने के कारण उनकी भोजन नली सूख गयी थी। स्वर यन्त्र भी शिथिल पड़ गया था। आवाज बहुत कठिनाई से धीरे-धीरे निकल रही थी। वह भी इतनी धीमी गति में, कि कान मुँह के नजदीक ले जाने पर ही शब्द सुनाई पड़ते थे।

व्रत सभी लोग सभी प्रकार के करते हैं तथा भविष्य में करते रहेंगे किन्तु मृत्यु की प्रतीक्षा करते हुए साहस एवं अपरिमित उत्साह के साथ उसे वरण करने वाले बिरले ही हैं। आचार्यश्री विद्यासागर जी ने अपने प्रवचन में कहा था, "ऐसी समाधि किसी बिरले साधक की होती है।" इस स्थिति के दर्शन की उत्कट इच्छा तो थी ही। परन्तु मुझमें इस असहनीय स्थिति को प्रत्यक्ष देखने की सामर्थ्य नहीं थी। क्योंकि बाबा अब इस दुनियाँ में न रहेंगे और न मैं उनके दर्शन ही कर पाऊँगी। यह भाव आते ही हृदय विदीर्ण हो उठता था, कुछ कह नहीं पाती थी, गला कुंठित हो जाता था, नेत्र बरसने लग जाते थे। भावनायें चूर-चूर हो जाती थीं। मन निराश हो जाता था। ऐसी स्थिति में लोगों के मध्य रहना मुझसे हो नहीं पाता था। फिर कहीं दूर अकेली घूमने निकल पड़ती।

एक दिन मैं स्वप्न देख रही थी कि पुरुष एवं महिलायें उनके दर्शन करके स्वयं को धन्य कर रहे हैं। बाबा ने मुझे हाथ के इशारे से अपने पास बुलाकर कहा, "बेटा ! खिड़की के पास मत बैठ, तेज हवा है, लग जायेगी, तबीयत खराब हो जायेगी, इधर आ मेरे पास बैठ जा।" तुरंत ही मैं आकर बाबा के चरणों के निकट बैठ गयी। उनके शरीर की चादर मर्दानी धोती की तरह हो गयी। मैं कहने लगी, "बाबा ! बाबा ! आप एकदम गाँधी जी की तरह लग रहे हैं।"

एकाएक उनकी आँखों की पुतलियों में प्रकाश दिखाई दिया। उनके नेत्रों का यह प्रकाश ज्योति के रूप में परिणत होकर अन्तरिक्ष की ओर बढ़ गया तथा नेत्र चेतना शून्य हो गये। मैं चुपचाप अजनबी सी इस अद्भुत दृश्य को देख रही थी। हठात् मेरे मुँह से निकला, "बाबा गये।" तुरन्त स्मृति-पटल पर एक रेखा खिची और याद आया कि बाबा ने प्रथम दर्शन देने के पश्चात् यहाँ से जाते हुए यह कहा था एवं लिखकर दिया, "बाबा पवित्र तत्त्व है शरीर नहीं"। तत्काल नेत्र उन्मीलित हुए मैंने देखा कुछ भी नहीं है। स्मृति रेखायें स्वप्निल होकर साकार हो रही हैं। यह है उनकी महती कृपा ! भेद विज्ञान का प्रत्यक्ष प्रमाण। जिसे श्रद्धेय गुरुवर ने प्रत्यक्ष आ करके इस अनुभूति का भान कराया। आखिर ऐसा क्यों ? यह है गुरु-शिष्य के संबंध का प्रत्यक्ष दर्शन। उनकी करुणा की कुछ झलकियाँ।

श्रद्धेय गुरुवर ने पाँच भौतिक शरीर पर विजय पायी। इन्द्रियों को जीत लिया। काम-क्रोधादि कषायों का शमन किया। मन को वश में कर लिया। बुद्धि को ज्ञान का भण्डार बनाया। सोऽहम् को साक्षात् प्रमाणित कर दिया। स्वयं को जिन की श्रेणी में रखकर जिनेन्द्र नाम को सार्थक किया।

आप श्री में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग की त्रिवेणी साक्षात् दृष्टिगोचर होती थी। जिन्होंने ज्ञान गंगा में गोते लगाकर अनेक ग्रंथों का सृजन किया। जिनमें समन्वयात्मक दृष्टिकोण को अपनाया। किसी भी सम्प्रदाय पर अँगुली नहीं उठायी। बल्कि प्रत्येक के गुणों को अपने में आत्मसात् कर लिया। यह है आपके ज्ञान की गरिमा। जिसका विवेचन वाणी नहीं कर सकती। जो भी ज्ञान-पिपासु आपके चरणों में आता, शारीरिक कष्ट की परवाह किये बिना ही निःस्वार्थ भाव से उसमें ज्ञान को उड़ेल देते थे।

एक क्षण भी अमूल्य समय को व्यर्थ न गँवाना एवं निष्काम भाव से दत्तचित्त होकर कार्य में संलग्न रहना आपके कर्मयोग का ही परिचायक था। सात वर्ष की अनवरत साधना के परिणाम स्वरूप जैन सिद्धान्तों की एकमात्र निधि "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश" आपके ज्ञानयोग और कर्मयोग

का जीता जागता प्रमाण है। जो पाँच खण्डों में विभाजित है। (पंचम खण्ड अप्रकाशित है) जिसके सभी चित्र इन्होंने चित्रकार से नहीं, बल्कि स्वयं ही एक-एक सूत नाप-नापकर बनाये है। चित्र बनाते समय एवं रत्नों के समान अक्षरों की सेटिंग करते समय मैंने उन्हें अपने पलकों को ऊपर उठाते कभी नहीं देखा। यह था उनके कर्मयज्ञ का परिणाम, जिसकी मुक्त कण्ठ से सराहना करना दुर्लभ है।

इसके अतिरिक्त एक सौ उन्तीस उपनिषदों का विषयानुक्रम से संकलन, दो खण्डों मे विभाजित है। जिसके एक-एक अक्षर, माला में मोतियों के समान पिरोये गये है। जिसकी पाण्डुलिपि बड़े सूक्ष्म अक्षरों से लिखी गयी है। यह पूज्यश्री की व्यापक उदारदृष्टि का परिचायक है।

आपके अन्दर प्रभु के प्रति अटूट श्रद्धा कूट-कूटकर भरी थी। जिसके कारण भक्ति से ओत-प्रोत होकर प्रत्येक प्राणी मात्र के प्रति आत्मवत् व्यवहार करते थे। सब का सुख ही आपका सुख था और सबका दुःख आपका दुःख था। जैसे फल पाकर वृक्ष की टहनियाँ झुक जाती है वैसे ही आपने अहंभाव को सर्वथा गलित करके नम्रता को वरण कर लिया था, जो उनके प्रत्येक अंग में कूट-कूटकर भरी हुई थी।

हमें तो बाह्य दृष्टि ही प्राप्त थी, अन्तर्दृष्टि का परिचय श्रद्धेय गुरुवर से ही मिला। उन्होंने हृदय की उस कन्दरा की ओर इंगित किया, जो ईश्वर का एकमात्र निवास स्थल है। जिस अमृत रस का पान उन्होंने स्वयं किया था, वह वे प्रत्येक भगवत्प्रेमी को पिलाने का प्रयत्न करते थे। यह समझते थे कि मैं इतना पिला दूँ कि जिससे उसके अनेक जन्मों की प्यास शान्त हो जाये।

मुझे स्मरण नहीं कि पूज्य गुरुदेव के अतिरिक्त आज तक मुझे अन्य किसी से समता तथा प्रेम की वे गहन बातें सुनने को मिली जिन्हें सकल शास्त्रों के सारभूत महातत्त्व के अन्तर में डुबकी लगाये बिना कौन स्पर्श कर सकता है? शास्त्रों से उधार लेना और उधार लेकर बोलना सभी जानते हैं, परन्तु हृदय की आवाज तो वही सुन सकता है जिसने हृदय-पटल को टटोला हो। भाव लहरियों में हिलोरें ली हों।

हम अज्ञानी-जनों ने संकल्प-विकल्प के द्वन्द्वात्मक जगत् मे विचरण करते हुए सदा लहरों के थपेड़े ही खाये हैं। किन्तु अपने उस अन्तर में झाँककर कभी नहीं देखा जहां ईर्ष्या और द्वेष के गगनचुम्बी पर्वत हैं, लोभ की गहरी खाई है। जहाँ अभिमान की गड़गड़ाहट है तो वहीं समता और प्यार की सरिता बह रही है। किन्तु अन्तर्चक्षु को खोलकर ही समता के सागर में गोता लगाया जा सकता है और आनन्द के मुक्ताकण पाये जा सकते हैं।

आपके द्वारा निर्दिष्ट समता और प्रेम की पवित्र गंगा में स्नान करके व्यक्ति समस्त विश्व को आत्मसात् करके महान् बन सकता है। भगवान् बन सकता है। जिसे आपने अपनी जीवन-कला से प्रमाणित करके दिखाया है। आपका जीवन सूत्र था—प्रेम से रहना सीखो। यही शास्त्रों का सार है। वही शाश्वत आनन्द है, वही एकत्व है। वही सत्यं, शिवं, सुन्दरम् की चित् ज्योति है!

मैं अन्तर्चक्षु के खोदने वाले ऐसे गुरुवर्य के चरणों में अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करती हूँ।

●

गुरु-महिमा

कु० इन्द्रा जैन, चण्डीगढ़

●

गुरु-शिष्य सम्बन्ध एक अनूठा सम्बन्ध है, एक निराली घटना व एक अनुनय गीत जो गाया नहीं जा सकता, न ही बनाया जा सकता है, केवल घटित होता है। घटित भी होता है उन सूक्ष्म गहन तलों में जब शिष्य की भूमि उर्वरा होती है और गुरु की कृपादृष्टि उठी नहीं कि अनायास हो घटना घट जाती है। यह है चुम्बकीय श्रद्धा। जिस हार्दिक श्रद्धा के उदय होते ही 'मैं' 'मैं' की रट, 'तुम'-'तुम' में और फिर धीरे-धीरे 'तू' 'तू' में बदलने लगती है, यानि कर्ताभाव पिघलने-सिसकने व मिटने लगता है। भक्त रोता है, उसका अन्तर्मल आंसुओं से धुल जाता है। रोयां-रोयां एक अजीबोगरीब पुलक से भर आता है। हरदम हृदय अनूठे आनन्द में खोया रहता है, गीतों के झरने फूट पड़ते हैं। जर्रा जर्रा गुरु-भक्ति में बह उठता है और कूक उठता है। प्राण-प्राण गुनगुनाता है—

अब तो एक ही रट लागी भगवन्,
अपना दर्श दिखा दे मुझे
है छिपा किन गहराइयों में,
इतना तो मुझे सुझा दे तू……।

× × ×

लूट रे मनवाँ लूट……
देख विस्फोट हुआ है आनन्द-घन का,
नदिया बही है अपूर्व,
लूट रे मनवाँ लूट……
तज निद्रा गफलत सारी, हीं
नही कर इस शुभ घड़ी में चूक।
लूट रे मनवाँ…… ।

यह विस्फोट इतना तीव्र एवं गहन होता है कि छिपाये भी नही छिप पाता। सामान्य व्यक्ति की सूझ-बूझ से दूर होता है। कर्ताभाव विसर्जित हो 'तू' ही 'तू' में खो जाता है। भक्त तो ढूँढ़ने पर भी नही मिलता, केवल 'तू' ही 'तू' में सर्वस्व सिमट आता है। भक्त कभी सोता है, कभी जागता है, कभी हँसता है, कभी नाचता है तो कभी मौन। दिशायें खो जाती हैं, फासले मिट जाते हैं। कण-कण गुरु-महिमा से गूँज उठता है और उसका हृदय गुरु-चरणों पर न्यौछावर हो जाता है।

गुरु संसार व उस पार (परम तत्त्व) के मध्य एक सेतु होता है जिसका सहारा पाकर उस पार की छलांग आसान हो जाती है। 'जीवन' धीरे-धीरे पृथ्वी का भौतिक गुरुत्वाकर्षण खो हल्का-फुल्का हो गगनचुम्बी ऊँचाइयों को छूने लगता है।

जिसका एकमात्र नगमा ही गुरु-चरण हैं, जिनके सान्निध्य में यह पत्थर-हृदय रोया, चीखा, पिघला और पंख पा आकाश में उड़ान लेने लगा। अब सिवा गुरु-महिमा के गुणगान के उसके पास

रह ही क्या गया। मेरे प्राण गुरु-चरणों पर न्यौछावर हैं। जिस साधना की झलक, मात्र दीवानगी (अपने में खो जाने) में है।

गुरु में मुझे सदा 'माँ' का रूप ही झलका है और उसके गुणगान व महिमा से—जीवन के घनघोर अँधेरे क्षण प्रकाश वेला में छिटक गये। अनूठे-बोध से जिन्होंने मेरा प्राण-प्राण भर दिया—

१. 'जीवन' मात्र जीने की कला है'।

२. *'जागरूकता' ही मात्र जीवन है।*

मैंने तो उनकी अमृतमयी वाणी का शान्त-सुधा-सम-रस पान किया है। जो भरकर और पीती रहूँगी तब तक, जब-तक हो न जाऊँ विलीन उसमें।

फिर वही प्रार्थना गूँज उठती है अपने मातृ-तुल्य हृदयवान्, गुरु वर्णी जी के प्रति, जिन्होंने इस जीवन-पंछी के सिसकते-रिसते घावों को मरहम लगाकर पंख दिये व आकाश में उड़ना सिखाया—

'शान्त-सुधा-रस पिला दे पिला दे·······
संसरण-पिंजरे में बन्द हुआ पंछी,
उड़ना भूल गया है न जाने कब से·······।'

युगयुगान्तरों से अमृत-रस की प्यासी इन्द्रा के लिए शरणभूत सद्गुण वर्णी जी के चरणों में अनन्तानन्त कोटिशः वन्दन ! वन्दन ! वन्दन !

धन्य हो गुरुवर तुम, धन्य है तुम्हारी करुणा,
वाणी है तेरी अनुपम, किल्लोल है गभीर। धन्य हो·······

●

घर में रहते हुए भी घर के वातावरण तथा संस्कारों से दूर अति दूर रहना ही 'असिधारा व्रत' है।

दृष्टि बदल जाने का अर्थ है, बाह्य-प्रतीति का लोप। मान-अपमान, निन्दा-स्तुति का भाव ही न रहना।

अपने अनन्त वैचित्र्य और कलाओं से युक्त एक ओर असत्य और दूसरी ओर अकेला सत्य है। विवेक पूर्वक असत्य से बचे रहने में ही श्रेय है।

भगवद् शरण ही सत्य तथा स्थायी है। लोक के अस्थायी पदार्थ स्वयं अशरण हैं, वे किसी को शरण कैसे दे सकते हैं।

—वर्णी प्रवचन

वार्ता-प्रसंग

•

जीवनलक्ष्य : आत्मकल्याण

परम श्रद्धेय गुरुवर जी के जीवन काल में हुई वार्ता का एक अंश :

सुरेश—आप समाज से दूर क्यों रहते हैं ? भ्रमण क्यों नहीं करते ? एकान्त में रहकर कौन जानेगा ?

वर्णीजी—मेरे बच्चे ! तू इन बातों को नहीं समझता। मेरा जीवन एक विरक्त-जीवन है, लौकिक जीवन नहीं। मुझे सांसारिक जीवन में रहना होता तो घर ही क्यों छोड़ता ? मुझे अपना कल्याण करना है। कल्याण करने के लिये एकान्त में रहना जरूरी है।

आत्म-कल्याण के हेतु जो स्वाध्याय एकान्त में कर सकता हूँ, समाज के बीच में रहकर नहीं कर सकता, क्योंकि स्वाध्याय करने मात्र से वह अध्याय पूरा नहीं हो जाता, जब तक उसका मनन न किया जाये। मनन करने का अर्थ है—"एकान्त में रहना"। मैं स्वाध्याय के साथ-साथ समाज में रहता हूँ या प्रवचन करता हूँ, तब उसका मनन नहीं हो सकता।

जो कुछ भी मैं स्वाध्याय में पढ़ता हूँ, उसे साथ-साथ लिख लेता हूँ, शंका-समाधान हेतु दुबारा शास्त्रों को खोलकर तलाश करने का मतलब है—समय खोना। जो मैं लिखता था, वे नोट्स ही आज एक विशाल कोश का रूप धारण कर गये; जिसका मुझे पता तक नहीं था। यह सब मेरी एकान्त साधना का फल है।

मैं कहीं इस शरीर की ख्याति में लग जाता, तो न यह कोश बनता, न ही अपने परलोक के लिये कुछ कर पाता। ख्याति की ही इच्छा होती तो मैं घर में रह कर ही पा सकता था। इस आत्मा को इस भव में कोई न कोई नया आविष्कार करना था। मैं घर में रहता तो विज्ञान में कोई न कोई नया आविष्कार करके दिखाता।

मेरे सामने दो ही मार्ग थे—एक अध्यात्म मार्ग, दूसरा लौकिक मार्ग। अकस्मात् प्रभु-कृपा से पूज्य पिता जी के मुख से 'ब्रह्मास्मि' शब्द सुना, जो सहज रूप से मेरे जीवन का गुरु-मंत्र बन गया।

यह जीवन अब मेरे आधीन नहीं, उस प्रभु के आधीन है। मैं इस जीवन के लिये प्रभु के बताये मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहता हूँ। मैं तो इतना ही चाहता हूँ कि इस जीवन का कल्याण हो। कल्याण सिर्फ एकान्त में आत्म-मनन से ही होता है। समाज के बीच में आत्म-कल्याण नहीं, अहंकार पैदा होता है। जो इस बने-बनाये खेल को नरकों की वेदना तक पहुँचा देता है। बस भलाई इसी में है कि एकान्त में रहकर आत्म-चिन्तवन में लगे रहना, यही आत्म-कल्याण का मार्ग है।

•

जिनेन्द्र वर्णी : जैसा मैंने पाया

श्री जयकृष्ण जैन (मुन्नी बाबू)

लगभग २० वर्ष पहले पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी का समाधि-मरण पूर्वक देहोत्सर्ग हुआ था। ठीक उसके बाद ही मुझे शिखर जी जाने का सौभाग्य मिला। ईसरी में एक दिन रुका। उसी दिन श्री साहू शान्ति प्रसाद जी आदि कई लोग आए थे। सभा हुई थी। उसमें मैंने देखा कि कृश काय, श्वेत वस्त्रों में एक साधु बैठे हैं और लोग उनसे प्रार्थना कर रहे हैं कि अब इस उदासीन आश्रम का संचालन-भार आप सँभाल लें। अति विनय के साथ अनिच्छा बताते हुए, उन्होंने सबके आग्रह को स्वीकार कर लिया।

पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी महाराज के यहीं मैंने प्रथम दर्शन किये। उस समय जो भी थोड़ा सा उन्होंने कहा था, बहुत ही अच्छा लगा। मन में एक संत महापुरुष के दर्शन करने का आनन्द आया। बनारस लौटने पर उस विलक्षण व्यक्तित्व के विषय में लोगों से चर्चा की तथा अंतःकरण में उनकी स्मृति बराबर बनी रही।

समय अपनी गति से बहता रहा। सन् १९६८ जून महीने की बात है। डॉ० गोकुलचन्द्र जी मेरे पास आए और कहा—कल वायुयान से क्षु० श्री जिनेन्द्र वर्णी जी आने वाले हैं। उनके आहार आदि की व्यवस्था के लिये मैं आपकी माँ जी की सहायता चाहता हूँ।

सुबह मैं अपनी माँ के साथ डॉ० साहब के घर पहुँचा, और जब मैंने क्षु० महाराज जी का दर्शन किया तो मुझे स्मरण आया कि ये तो वही हैं जिनके दर्शन मैंने ईसरी मे किये थे। वे आए थे, एक दो रोज़ के लिए, अपने जैनेंद्र सिद्धान्त कोश के विषय में भारतीय ज्ञानपीठ के लोगों से विचार-विनिमय करने। उनके अधिक रुकने की संभावना देखकर मैंने मैंदागिन धर्मशाला में ठहरने की व्यवस्था कर दी। मैंने सोचा—लगभग एक सप्ताह रहेंगे सो मैं उन्हें बनारस के कतिपय मन्दिरों में दर्शन हेतु ले गया। उन्होंने मुझसे कहा कि "भाई पत्थरों के मन्दिरों में मुझे कोई नवीनता नहीं दीखती, धन की सजावट की ही विभिन्नता है। मुझे तो जीवित मन्दिर का दर्शन कराओ।" मैं अवाक् रह गया। उन्होंने कहा कि यहाँ बहुत से साधु-संन्यासी गंगा-तट पर रहते हैं, जो तत्त्वज्ञानी होते है, उनके दर्शन से मुझे कुछ और मिलेगा। इस प्रकार के संन्यासियों का मुझे जो अनुभव था, उस आधार पर मैंने कहा कि इनमे तो आपका कोई भी कार्य सिद्ध नहीं होगा।

अंततः एक मनीषी का नाम किसी ने सुझाया—महामहोपाध्याय पं० गोपीनाथ जी कविराज नाम से मैं परिचित था। पूज्य वर्णी जी महाराज की आज्ञा लेकर उनसे समय तय किया। दूसरे दिन सुबह ठीक आठ बजे मैं महाराज जी के साथ कविराज जी के निवास पर पहुँचा। अनुमति मिलने पर हम दोनों उनके कमरे मे पहुँचे। वे चौकी पर बैठे थे। काफी वृद्ध थे। सफेद धोती और गंजी पहने थे। लेकिन वस्त्रों पर उनका ध्यान कतई नहीं था।

उन्होंने कुछ रूखे स्वर में पूछा कि कौन हैं ? और क्या चाहते हैं ? महाराज जी ने अति विनम्रता से अपना नाम बताया और कहा कि उन्हें कुछ जिज्ञासा है। महाराज ने उनसे जो कुछ कहा, उसका सारांश यह था कि उन्हें किसी भी धर्म-मत के किसी भी ग्रंथ के बारे में नहीं, अपितु आपका अपना जो दर्शन-अनुभव हो उसी के बारे में वो जानना चाहते है। बड़ा विलक्षण प्रश्न था और सामने व्यक्तित्व भी बड़ा विलक्षण था। कविराज जी ने भी उन्हें अपनी सूक्ष्म दृष्टि

से तौला और लगभग ४५ मिनट बोले। महाराज विनम्र मुद्रा में हाथ जोड़े सब सुन रहे थे। फिर दूसरे दिन उसी समय आने की आज्ञा हुई। बाहर आने पर महाराज बहुत ही प्रसन्न दिखायी दिये और कहा कि आज एक 'नया-मन्दिर' देखा।

मैंने देखा कि अन्य साधु-सन्तों-विद्वानों की अपेक्षा कविराज जी उन्हें प्रेमपूर्वक उच्चासन दिलवाते थे। लगभग यह क्रम एक महीने तक चला। नित्य मैं उनके साथ जाता था और वे ४५ मिनट बोलते थे। मैदागिन लौटकर महाराज जी कविराज जी का प्रवचन संक्षेप में लिखते थे। कितनी ज़बरदस्त उनकी याददाश्त थी! कविराज जी के कमरे मे उनके गुरुदेव एवं अनेक उच्च सन्तों के फोटो थे। अन्तिम दिन उन्होंने मुझसे श्री जिनेन्द्र वर्णी जी की फोटो मँगवाकर अपने कमरे में टँगवायी। दोनों एक दूसरे से अति प्रभावित थे। मै तो इतना ही देख पाया, बाकी जिस स्तर पर उनकी चर्चाएँ होती थीं, वे मेरी समझ के परे थीं। बाद में जब कभी कविराज जी से मेरी भेंट होती, तो वे हमेशा वर्णीजी के बारे में पूछते थे कि—'मुनि जी कहाँ हैं?' उत्तर देने पर कहा करते थे—'उनका हृदय बड़ा पवित्र है, अहंकार बिलकुल नहीं है।' अंतिम दिन जब महाराज जी विदा के समय विनम्रता पूर्वक कविराज का चरण-स्पर्श करने लगे तो बीच मे ही उनका हाथ पकड़ लिया और बोले—'आप गृहत्यागी साधु हैं'—आप ने यहाँ आकर महती कृपा की।

'सिद्धान्त कोश' का काम लम्बा होता ही गया और महाराज का प्रवास भी। हमने उनके सांध्य-प्रवचन के लिए सभा आयोजित की। शाम को घड़ी देखकर वे साढ़े सात बजे बोलते थे और सवा आठ बजे खतम करते थे। उस सभा में भारी भीड़ होती थी, जैनेतर भी बड़ी संख्या में आते थे। एक शिक्षण-पद्धति के आधार पर उन्होंने "तत्त्व" पर मानो पहले पाठ पढ़ाना शुरू किया। क्रमबद्ध लगभग एक महीने तक वे बोले थे, कि गला खराब हो गया। दो तीन दिन सभा चलाने हेतु उनकी पुस्तक "शान्ति पथ-प्रदर्शन" का मैंने वाचन किया, परन्तु उनका स्वास्थ्य न सुधरा और सभा बन्द हो गई। जिसने उनके प्रवचन सुने, वह उनका भक्त हो गया। मुझे तो एकदम नई चीज मिली। बड़ी कठिन लगने वाली चीज, बड़ी आसान सी लगी। उन्होंने 'तत्त्व' से साक्षात् कराया। लगा कि मैंने पा लिया और सचमुच उस समय से दृष्टि बदल गई। धर्म के बारे में पुरानी धारणाएँ नहीं रहीं। बातें उन्होंने वही कहीं जो अन्यत्र मिलती हैं, परन्तु कहने का, समझाने का ढंग ही कुछ अनूठा था। जीवन जीने का ढंग भी बतलाया। बोझ कम करके हल्का रहने की प्रेरणा दी। मुझ पर इतना असर हुआ कि व्यापार और बढ़ाने की जो योजना या कार्यक्रम था वह स्थगित हो गया।

'धर्म' एक स्वाभाविक प्रक्रिया है और उसका पालन भी स्वाभाविक ढंग से, सहजता से होगा। अन्यथा वह 'धर्म' नहीं होगा। वह आपको कुछ देने वाला होगा, परिपूर्ण, स्पष्ट होगा, आगे के लिए पाथेय होगा। "कुछ" करने और जानने से "कुछ" नहीं होगा। वह "कुछ" और होगा जो आप चाहते है, वह नहीं होगा। मैने उस समय जो सुना और बाद के पन्द्रह साल के सान्निध्य में कभी-कभी जो सुनने को मिला, उसका अर्थ मुझे यही समझ मे आया। यों मैंने कभी भी उनसे कोई प्रश्न नहीं किया, न धार्मिक चर्चाएँ की। क्योंकि मैं उसके अयोग्य था। उनसे समझने के लिए भी तो कुछ ज्ञान चाहिए था, कुछ अध्ययन चाहिए था। फिर भी मुझे बहुत कुछ मिला, बहुत चीजें बहुत साफ दीखने लगीं। भगवान् का मन्दिर भी सामने ही दिखायी पड़ा, जबकि पहले काफी चलकर टेढ़े-मेढ़े रास्ते से पहुँचना पड़ता था।—फिर भी मन्दिर कहाँ!

सन् '७० में रोहतक में बीमार पड़ गये। श्वास की उन्हें बीमारी थी, वह बढ़ गयी थी। मैं और मेरी माँ आदि कई लोग बनारस से गए। कई दिन वहाँ रहे। उन्हें बड़ा कष्ट था, लेट नहीं सकते थे, कई दिनों तक बैठे रह गए, मुझसे तो खास बात नहीं होती थी, लेकिन वे अपनी स्थिति से बहुत चिंतित थे। कुछ लोगों की राय थी कि इन्हें क्षुल्लक दीक्षा त्याग देनी चाहिए। लेकिन अधिकांश इसी पक्ष में थे कि किसी भी हालत में दीक्षा जो ले ली गयी है, उसे छोड़ा नहीं जा सकता। महाराज का मत था कि इस वेश के जो विधि-नियम हैं उनका पालन इस शारीरिक स्थिति में ईमानदारी से नहीं हो सकता। लेकिन मैंने देखा कि समाज (As a whole) बड़ा निर्मम है। उसे अपने झण्डे की परवाह ज्यादा है, संख्या की परवाह भी ज्यादा है, यथार्थता से प्रयोजन कम है। यहाँ तक कि उनके निकट के लोग, परिवार के लोग भी बड़े भयभीत थे कि दीक्षा छोड़ने से बड़ी बदनामी होगी और इस बदनामी की अपेक्षा महाराज को भले ही प्राण त्यागने पड़े, लेकिन पद-वेश नहीं त्यागना चाहिए।

कुछ दिनों बाद पता लगा कि महाराज क्षुल्लक पद त्याग कर कलकत्ता चले गए हैं, जहाँ उनके भाई, माँ आदि रहते हैं—सम्भवतः स्वास्थ्य लाभ की दृष्टि से। मैंने उन्हें लिखा कि अगर अच्छा लगे तो बनारस आवें। उन्होंने मुझे कलकत्ता बुलाया। बैरकपुर में एक अलग सा Flat था, जिसमें कोई और नही रहता था। सिर्फ उनकी माँ अपने घर से नित्य सुबह आती थीं, वहीं उनका आहार बनाती थीं। उनके भोजन कर लेने के बाद लौट जाती थीं। महाराज एकान्तप्रिय थे। अभ्यास था नितान्त अलग रहने का, अतः वही रहते थे।

आहार कर लेने के बाद मेरी बातचीत शुरू हुई। मैंने बनारस चलने के बारे में पूछा तो उन्होंने सामने टंगी अपनी पीछी की तरफ इशारा किया। मेरे सकपकाने पर उन्होंने कहा कि मैंने यह पीछी और कमण्डलु दोनों छोड़ दिये हैं। अब तुम मुझे बनारस ले चलना चाहोगे?

मैंने तुरन्त कहा, 'मुझे तो आपके पीछी कमण्डलु से मतलब ही नहीं था। वह तो हमारे समाज में प्रचुर हैं। मुझे तो केवल आपसे मतलब है।' उन्होंने बनारस के समाज के बारे में पूछा कि लोग इस नीति को कैसे स्वीकार करेंगे। मैंने कहा कि आपको "समाज" से भी क्या मतलब है। आप भदैनी मन्दिर में रहेंगे, जो हमारे पूर्वजों द्वारा निर्मित है। समाज का कोई व्यक्ति आपसे मिलना चाहे ठीक, न चाहे तो भी ठीक। आप से क्या—मुझे भी किसी से नहीं कहना। मैंने जो कहा था, ईमानदारी से कहा था, महाराज को स्वर की परख बहुत गहरी थी। उनको मेरी बात भा गयी।

कलकत्ता से आकर हम महाराज जी को सीधे सारनाथ ले गए। उन्हें अच्छा लगा। शहर से काफी दूर शान्त वातावरण, हरियाली, साफ-सुथरा स्थान और मन्दिर में भगवान् के विग्रह का सान्निध्य—एकदम भिन्न वातावरण में आ गए, कलकत्ता के मुकाबले। हमारी माँ नित्य सुबह उनके पास आहार की व्यवस्था करने जातीं, दूर होने के कारण समाज के लोगों से भी मिलना न होता था। किन्तु धीरे-धीरे भक्तिवश काफी लोगों ने पहुँचना प्रारम्भ कर दिया। मैं सप्ताह में दो बार मिलने जाता था। इधर तो स्वास्थ्य ठीक ही था। महाराज अपने लिखने-पढ़ने में व्यस्त हो गए। लेकिन दूर होने के कारण माँ को आने-जाने में समय भी काफी लगता था और असुविधा भी होती थी। महाराज यह सब देखते थे। उन्हें केवल अपने निमित्त इतना सब अच्छा नहीं लगता था।

कई बार तो उन्होंने कहा कि हमारे लिए दो रोटी और दाल बनाने की व्यवस्था कर दो। मैं अपने हाथ से दो टिक्की सेंक लूँगा, उतना काफी है। लेकिन महाराज के भोजन की व्यवस्था ही करना नहीं था, उनके स्वास्थ्य का बराबर ध्यान रखना था। वह तो एकदम "तोलामाशा" था। थोड़ा भी हिसाब से बेहिसाब हुआ कि सब गड़बड़। हालाँकि इसी दुर्बल शरीर से उन्होंने इतना काम लिया कि शरीर के प्रति भी वे अपने को ऋणी समझते थे। कभी-कभी ज्यादा दुःखी हो जाते थे तो कहते थे—यह बड़ा कृतघ्न है। इसके लिए हम कितना यत्न करते हैं, (दूध, घी पिलाते हैं) फिर भी यह साथ नहीं देता। हम कहते हैं कि और कितना साथ देगा बेचारा।

आखिर ७-८ माह बाद उन्हें भदैनी स्थित छेदीलाल जी के मन्दिर में ले आए। मन्दिर भगवान् सुपार्श्वनाथ के जन्म-स्थान के रूप में है। गंगा के कगार के ठीक ऊपर माँ आनन्दमयी आश्रम के बगल में है। मन्दिर के बाहर बहुत बड़ी छत (Terrace) है। जहाँ से सामने दोनों ओर कई मील तक गंगा की धारा दिखाई देती है। महाराज जी जैसे मनीषी के लिए यह बढ़िया स्थान था। ध्यान लगाना, धूप में बैठना, सुबह का सूर्योदय, गंगा मे स्नानार्थियों का झुण्ड, नौका-बिहार, बगल के मन्दिरों की घण्टा-ध्वनि, सभी मिलाकर बड़ा रुचिकर वातावरण था। हमारे निवास स्थान की दूरी भी कम हो गयी और यातायात की सुविधा भी।

मन्दिर के नीचे बाबू श्री नानकचन्द जी जैन का परिवार रहता था। बहुत भले लोग हैं। उनकी पत्नी भी बहुत सेवा-परायण हैं। महाराज जी का आगमन उन्हें बड़ा अच्छा लगा। माँ यहाँ भी बराबर सुबह आती थी और शाम को जाती थी। बाकी सभी बातों की जिम्मेदारी बाबू नानकचन्द जी की पत्नी पर थी। यों अब शहर में होने के कारण कई महिलाएँ सुबह महाराज जी का दर्शन करने और उनसे पढ़ने भी आने लगीं और मेरी माँ की व्यवस्था में सहायता भी करने लगी थीं। महाराज जी से जिसने जितना चाहा, उतना लिया। उनके पढ़ाने से, उनके उपदेश से अथवा दर्शन से ही। कई महीने तक तो कक्षा की तरह नित्य सुबह बँधे हुए समय पर पढ़ाते थे।

महाराज से कोई पढ़े, इससे प्रिय कोई चीज नहीं थी। चाहे 'गीता' पढ़े, चाहे 'मोक्ष-शास्त्र'। दोनों ही ग्रन्थ समान भाव से पढ़ाते थे। वे सम्प्रदाय अथवा धार्मिक आग्रह से बहुत ऊपर उठ चुके थे। जहाँ से उन्हें जो मिलता उसे ग्रहण करने में उन्हें कोई संकोच नहीं था। चाहे वेदान्त हो चाहे उपनिषद्, उन्होंने कुरान का भी अध्ययन किया। लेकिन एक विचित्र बात मेरे अनुभव में आई, वे कोई चीज खोज रहे थे, जो उन्हें मिल नहीं रही थी। कुछ समाधान नहीं मिल पा रहा था। मेरे तो सीमा के बाहर की बात थी। उन्होंने मुझसे कुछ कहा भी नहीं कभी, लेकिन उनकी प्यास झलक जाती थी। उनके कुछ प्रश्न थे जिनका उत्तर उन्हें इतना सारा पढ़ने के बाद, इतना विरागी जीवन बिताने के बाद अथवा इतना ध्यान करने के बाद नहीं मिल पा रहा था। एक प्रकार की बेचैनी सी अनुभव कर रहे थे। कभी-कभी सुबह गंगा तट पर उतर जाते, घण्टों बाद आते। हालाँकि शरीर इस लायक नहीं था। इन सबका परिणाम भी शरीर को भोगना पड़ता था। यह जिज्ञासा की बेचैनी थी, जो इन्हें शान्ति से बैठने नहीं देती थी। मैंने देखा कि ये कई जगह जीवन में दौड़े, कई ऋषियों से मिले, विद्वानों से मिले, लेकिन शायद उन्हें उत्तर नहीं मिला। अन्त में तो उन्होंने सम्भवतः उस पर सोचना तक छोड़ दिया।

शायद प्रश्न को छोड़ देने पर ही शान्ति भी मिली। तभी तो आचार्य विनोबा जी के पास बैठे हुए उन्हें बड़े आनन्द में देखा। सम्भवतः उनके दर्शन से कुछ समाधान हुआ हो, पर मेरा ख्याल है उन्होंने उसके बाद उन प्रश्नों पर विचार करना छोड़ दिया। फिर तो उन्हें एक बड़ा काम मिल गया था और वे उसी में रंग गए थे।

महाराज जी का जीवन-दर्शन जो मैंने देखा, उसमें तीन बातें पायीं। पहला—महाराज स्वयं उद्यमी थे, उनमें प्रमाद लेशमात्र भी नहीं था, न उन्हे दूसरों का प्रमाद अच्छा लगता था। हमेशा वे कुछ न कुछ करते ही थे। बहुत छोटे-छोटे काम भी अगर वे कर सकते थे तो तुरंत करते थे, या तो सामायिक के वक्त ध्यान पर या कुछ पढ़ना-पढ़ाना या लिखना। थक जाने पर लेटते थे, पर कुछ ही देर के लिए। सोचता हूँ, अगर घरबार न छोड़कर इस रास्ते आते तो सम्भवतः संसार को कोई न कोई बड़ा आविष्कार अवश्य दे जाते। इनके कार्य करने की गति से तालमेल बैठाना बड़ा मुश्किल था। "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश" के प्रकाशन में अथवा जो प्रकाशन कार्य मैंने बनारस में देखा, सभी में प्रकाशक इनकी गति से अवाक् थे। वे Proof-reading के लिए १६ पेज दे जाते थे। एक दो रोज में वापस लेने के लिए, लेकिन वे उसे शाम तक ठीक कर देते, उससे और माँगते वह अक्षम हो जाता था।

इतने कर्मठ और इतने लगन वाले थे वे, तभी तो 'सिद्धान्त कोश' ऐसा अपूर्व ग्रंथ तैयार कर दिया। मैं जानता हूँ कि लिखना तो दूर, उसका छप जाना भी महाराज जी के बिना सम्भव न होता। कितना श्रम उन्होंने उसके मुद्रण में किया, उसे जिन लोगों ने देखा वे ही जानते हैं। महावीर के इन शब्दों को कि—"गौतम क्षण भर भी प्रमाद न कर" उन्होंने अपने लिए ही मान लिया था और गीता के अनुसार वे निरन्तर कर्म करते रहे और उस पर आसक्ति न रखी। महान् कर्मयोगी की तरह जीए।

दूसरी बात जो मैंने उनमें पाई वह थी "सर्व धर्म समभाव"। सम्प्रदाय से तो अतीत थे ही। सभी धर्मों से कुछ न कुछ वे निकालते ही थे। इस अर्थ में सच्चे अनेकान्तवादी थे। वे कहते थे कि अनेकान्तवादी दूसरे धर्मों की कही हुई बातों को गलत नहीं मानता। सब धर्मों के प्रति विनय भाव था उनका। जैन धर्म की भी विभिन्न शाखाओं के प्रति उनका भाव बहुत विनयपूर्ण था। विनय तो उनका स्वभाव था, लेकिन धार्मिक सहिष्णुता इस हद तक कम ही देखने को मिलती है। यही तो वह गुण था जिसने "समण सुत्तं" ऐसी रचना पर, जैन धर्म की सभी शाखाओं के मुनियों, विद्वानों की सहमति प्राप्त कर ली। जिन्होंने दिल्ली में इस संगीति की बैठक देखी है, वे जानते हैं कि कैसा आश्चर्यजनक था वह दृश्य। जो लोग एक दूसरे पर वार ही करने को हमेशा तत्पर रहते आए हैं हजारों साल से, वे कैसे एक जगह बैठे और एक चीज़ पर सहमत हो सके। वह इनके व्यक्तित्व का जादू था। उस व्यक्तित्व में विनय इतना साक्षात् था कि सभी विनत हो गए और बाबा विनोबा ने इनके इसी गुण को परखा था।

तीसरी बात जो मैंने पायी वह उनका यह कथन कि कल्याण की दृष्टि से सैद्धान्तिक जटिलताओं में न उलझना चाहिए। जीवन सादा बनाना चाहिए। उन्होंने उस उलझन को नजदीक से देखा था। अस्तु उसे जनकल्याणकारी नहीं मानते थे। मेरी माँ के कुछ पूछने पर कहते थे कि आपका कल्याण ऐसे ही हो जायेगा। पढ़ना-लिखना कोई काम का नहीं। आप सब की सेवा करती हैं,

इससे अधिक चित्त शुद्ध होने का कोई उपाय नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि उनका पढ़ने-लिखने से निषेध था। न जाने कितना पढ़ाया। न जाने कितना पढ़ा। लोगों को Doctrate की डिग्री दिलवाई लेकिन व्यक्ति और उसकी प्रवृत्ति को देखकर किस चीज पर जोर देना है, यह महत्त्व की बात है। वे आवश्यकताएँ घटाने पर जोर देते थे। सरल जीवन जीने के लिए यह जरूरी है और उसके बिना कल्याण असम्भव है। केवल बड़ी-बड़ी बातें जानने से क्या होगा जबकि उसके छोटे से छोटे अंश पर अमल न किया जाए।

ये तीनों बातें इनकी कहीं पर लिखी हुई भी हैं या नहीं, मैं नहीं जानता, न मैंने कभी इनसे बात की। मैं तो सप्ताह में १-२ बार आता था, स्वास्थ्य संबंधी बात करता अथवा जो कार्य वे कहते उसे करता था, लगभग १० मिनट में ही चला जाता था। भले मैं वाराणसी से पानीपत या रोहतक उनके दर्शन हेतु गया होऊँ लेकिन मैं उनके पास इससे अधिक कभी नहीं बैठा। लेकिन उनके दर्शन में ही बहुत कुछ साक्षात् हो जाता था अथवा कभी-कभी दूसरों के पढ़ाने व वार्ता करने में कोई बात कानों में पड़ जाती थी।

विनोबाजी की इच्छा थी कि जैन धर्म पर कोई सर्वमान्य पुस्तक बने। बनारस के सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट में उस समय श्री जमुना लाल जी जैन कार्यरत थे। उनसे महाराज जी का परिचय तो था, पर नजदीक नहीं आ पाए थे। हम दोनों ने महाराज जी से इस विषय पर निवेदन किया। उन्होंने तुरंत इस बात को मान लिया। सम्भवतः विनोबा के प्रति अपार श्रद्धा के कारण अथवा उनके मन में कुछ हो गया। उन्हें तो लिखने की ही भूख लगती थी। साधन मिल गया, फिर किसी काम में लगने का।

कुछ दिनों बाद अर्थात् १९७३ में मानसिक भूमिका तैयार होने पर महाराज जी कलकत्ता से वर्धा पहुँचे और मैं बम्बई से सीधे वर्धा पहुँचा। महाराज जी श्री मूलचंद जी बड़जात्या के यहाँ ठहरे हुए थे। मूलचंदजी बड़े ही धर्मनिष्ठ और लोक-सेवक हैं। उनकी पत्नी जो अब नहीं हैं, बड़ी ही सुशील और धार्मिक थीं। महाराज जी ने क्षुल्लक पद की दीक्षा तो कभी की छोड़ दी थी, परन्तु उनकी क्रियाएँ अभी तक पूर्ववत् थीं। हम लोग वहाँ दो दिन रहे थे। दोनों दिन बाबा के पास महाराज जी गए थे, मैंने उनका वार्तालाप सुना। बाबा चौकी पर बैठे थे। सुनाई बहुत कम पड़ता था, दिखाई भी कम ही देता था। महाराज जी ने अति विनम्र होकर प्रणाम किया और हम सभी जमीन पर बैठ गए। पुस्तक की गाथाओं की संख्या, विषय, भाषा आदि पर काफी चर्चा हुई। बाबा और महाराज जी की वार्ता में बड़ा आनन्द आ रहा था। बाबा बीच-बीच में चुटकियाँ भी लेते थे। एक बार उन्होंने कहा—जैनियों का धर्म तो गणितज्ञों का धर्म है। किसी भी विषय का इतना भाग फिर उसका भाग, फिर उसका भाग, इतना करते हैं कि उनके बस का नहीं। हम लोग आश्रम घूमकर लौट आए। महाराज जी ने दिन भर एक तालिका—विषय सूची बनायी और दूसरे दिन उसे लेकर बाबा के समक्ष प्रस्तुत हुए, वार्तालाप हुआ। अब उन्हें पूर्ण निर्देशन प्राप्त हो चुका था। उसी शाम हम लोग इलाहाबाद होते हुए बनारस आ गए और भदैनी मन्दिर में ही महाराज जी ठहरे।

इस मिलन में मुझे महाराज जी का जो विनम्र व्यक्तित्व देखने को मिला, वह अद्भुत था। विनोबा के प्रति मेरी भी अगाध श्रद्धा थी और है; किन्तु महाराज जी ने जिस प्रकार श्रद्धापूर्ण

निवेदन किया, वह सभी धर्मों के प्रति पूज्य भाव किसी अच्छे कार्य के प्रति उनकी असीम लगन को प्रकट करती है। जैसे कोई विशेष कार्य सामने न होने पर कोई बड़ा अच्छा कार्य मिल गया। बहुत दिन से भूखे व्यक्ति को कई दिनों तक के भोजन का सहारा हो गया। ऐसे आनन्द में थे महाराज जी।

बनारस आकर वे इस कार्य में लग गए। सैकड़ों किताबें आईं, कहाँ-कहाँ से उन्होंने मँगवायीं। श्वेताम्बर, तेरहपंथी, स्थानकवासी, दिगम्बर सभी ग्रन्थों का आलोडन होने लगा। समुद्र-मंथन सा श्रम था। श्री जमनालाल जी बराबर महाराज जी के पास आते रहे। इस विषय में श्री राधाकृष्ण बजाज भी वर्धा से कई बार आये और विचार-विनिमय किया। बड़ा भारी काम था। जहाँ तक मुझे याद है "समण सुत्त" के वर्तमान रूप के पहले शायद दो तीन बार पुस्तकाकार में ये गाथाएँ संकलित की गयीं। न जाने कितने संशोधन हुए, गाथाएँ बदली गयी, विद्वानों की टिप्पणियाँ आमन्त्रित की गयीं। स्थानीय तथा बाहरी विद्वानों से विचार-विमर्श होता रहा। तब कहीं जाकर उसका कुछ स्वरूप बना, उसे बिनोवा जी के पास भेजा गया। उनकी सहमति प्राप्त होने पर "जैन धर्म सार" नाम से १००० पुस्तकें छपीं, फिर पूरे भारतवर्ष के सभी जैन सम्प्रदायों के विद्वानों, मुनियों के पास भेजी गयीं। अन्त में दिल्ली में संगीति आयोजित की गयी। जिसमें सभी सम्प्रदाय के मुनियों और विद्वानों की सहमति के बाद 'समण सुत्त' नाम से ग्रन्थ प्रकाशन का निर्णय हुआ। श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ने जो करके दिखाया वह "भूतो न भविष्यति" है। इस पर भी पुस्तक में कहीं उनका नाम नहीं है। संकलनकर्त्ता कौन है ? इसे आगे आने वाली सन्तानें न जान सकेंगी। लेकिन ग्रन्थ अमर है। जो कार्य २००० (दो हजार) वर्षों में किसी से न हुआ वह हो गया, फिर भी महाराज जी को इसके बाद इसके प्रति कोई मोह मैं नही देख पाया।

संगीति के दूसरे दिन यानी १ दिसम्बर १९७४ को श्रीमान् साहू जी ने महाराज का अभिनन्दन किया। श्री साहू जी तथा सभी विद्वानों का महाराज जी के प्रति बड़ा आदर भाव था। महाराज जी बड़े ही संकोच में थे, वह विनम्रता की साक्षात् मूर्ति लग रहे थे।

अब मुझे याद आता है कि महाराज जी का मेरे परिवार पर कितना अनुग्रह था। शुरू में वे किसी का भी अपने ऊपर व्यय करना पसंद नहीं करते थे। यों उन्हें आवश्यकता क्या थी ? लेकिन कोई भी बात, जैसे कहीं आना-जाना हो जिसमें कुछ भी व्यय होता था, वे चाहते थे कि अन्य किसी पर उसका भार न पड़े और मुझ पर भी कम से कम भार पड़े। कभी भी सफर में प्रथम दर्जे का उपयोग नही किया। हालाँकि स्वास्थ्य खासकर श्वास रोग बहुत तंग करता था। बहुत बाद में इन बातों को भी छोड़ दिया।

'समण सुत्तं' का कार्य समाप्त होने पर दिसम्बर के आरम्भ में महाराज जी बनारस आ गए और इस बार हमारी बगीचों की बारादरी में ठहरे। भदैनी के मन्दिर में जाड़े में उन्हें तकलीफ हो जाती थी। ठंढ इनके लिए जानलेवा थी और बारादरी में उसकी सम्भावना कम थी। चारो ओर शीशे के दरवाजे होने से धूप तो आती थी। यहाँ इस प्रकार उन्हें भी आराम मिला और माँ को भी। शहर के जो बहन-भाई भदैनी जाते थे, उन्हें भी यहाँ आने मे सुविधा थी। लगभग तीन माह महाराज रहे और फिर पानीपत श्री रोशनलाल जी के साथ चले गए।

मई सन् '७५ में जब मैं पानीपत उनसे मिलने गया तो उन्होंने बनारस चलने की इच्छा व्यक्त

की, फिर वे बनारस आ गए। एक दो महीने रहने के बाद उनकी इच्छा कुम्भोज में आचार्यश्री समन्तभद्र महाराज जी से मिलने की हुई। पत्र-व्यवहार तो चल ही रहा था, सो वे ७-८ दिनों के लिए कुम्भोज गए, साथ में एक युवक भी था। उस समय वहाँ ठंढ काफी थी, उन थोड़े दिनों में ही उनका स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा, हालाँकि उन्होंने बनलाया था कि उन्हें वहाँ शान्ति मिली। आचार्यश्री ने उन्हें काफी सम्मान दिया, और चेष्टा भी की, कि वे वहाँ रह जाएँ, लेकिन महाराज ने एक तो स्वास्थ्य के कारण से, और इस कारण से भी कि जो वे चाहते थे उन्हें वहाँ भी नहीं मिला, काशी लौट आये।

इस सन्दर्भ में मुझे पिछले कई वर्षों की बात याद आती है कि महाराज जी शुरू से कुछ खोज रहे थे, जो मिल नहीं पा रहा था। घर बार छोडा, सुदूर गुजरात तक की यात्रा की, कानजी स्वामी के पास भी रहे, फिर ईसरी में क्षुल्लक दीक्षा ली, इतना बड़ा कोश रच डाला, फिर दीक्षा छोड़ भी दी, पर जो चाहते थे, वह नहीं मिला अथवा उसका दर्शन नहीं हुआ। कितना-कितना काय क्लेश किया, कई-कई महीने तक एक दिन के अन्तराल से आहार लिया, इस रुग्ण शरीर से भी संयम का अति अभ्यास किया। कभी कहते कि हमें एकदम एकांत दे दो, कहीं दूर अनजाने लोगों के बीच रहूँ, कोई न मिले। कभी सोचते ऐसे रहना चाहिए कि जो मिल जाए खा लें, कम्बल भी है तो ओढ़ लें, नहीं तो न सही, इत्यादि। वे जितना आगे बढ़ते जाते थे, उतना ही पिछला अनावश्यक समझ में आता था। अपने साहित्य के बारे में भी यही कहते थे जो पहले लिखा है अब नहीं लिख सकता। अब वह पुराना पड़ गया। इस प्रकार उनका चिन्तन स्वतंत्र और नूतन होता गया। महायात्रा, सत्य दर्शन उनकी परम्पराओं से भिन्न स्वतंत्र कृतियाँ हैं।

कुम्भोज से बनारस आने पर वे भदैनी में ही ठहरे। रास्ते में ही कुछ सर्दी लग गयी थी, वस्त्र तो जितना पहले रखते थे, उतना ही था। शरीर कितना बरदाश्त करता, ज्वर ने जकड़ लिया। अपनी दवा वे खुद ही बनाते थे, कोशिश करते थे कि दूसरों पर कम से कम भार पड़े। लेकिन शरीर से लाचार थे, कष्ट भी था। कहते थे, यह शरीर बड़ा ही कृतघ्न है। इसको कितना ही जतन से रखो, लेकिन यह साथ नहीं देता।

महाराज जी का ज्वर तो ठीक हो ही नहीं पाया, श्वास काफी बढ़ गयी थी। आहार लिया नहीं जाता था, खाते वक्त तो श्वास और बढ़ जाती थी। खाना मुश्किल हो जाता था। जैसे-तैसे चला रहे थे कि एक दिन एकाएक निर्णय कर लिया। उन्होंने कहा सिर्फ पालक का पानी गर्म करके लूँगा, शरीर रहना चाहेगा तो रहेगा नहीं तो नहीं। हम लोग हतबुद्धि हो गए। अब क्या किया जाय ! डाक्टरों ने भी निराशा व्यक्त की। हालाँकि उन्होंने कहा कि इन लोगों की Physiology का हमें पूर्ण ज्ञान नहीं, ये लोग हवा पीकर भी जी सकते हैं। इस निर्णय में हमें तो 'समाधि मरण' की गंध आने लगी। महाराज दृढ़ संकल्पी थे, वे जो कहते थे उससे हटने का सवाल ही नहीं उठता था। हमने सभी स्थानों पर खबर भिजवायी—पानीपत, रोहतक, ईसरी, कुम्भोज, विनोबाजी और उनके बन्धु-गण कलकत्ता। ईसरी से पं० सुरेन्द्रनाथ जी आए, वर्धा से विनोबा जी का और कुम्भोज से आचार्य समन्तभद्र जी का सन्देश लेकर लोग आये। वाराणसी नगर के लोग भी एकत्र हुए। सभी लोगों ने एक स्वर से प्रार्थना की कि महाराज समाधिमरण की ओर न बढ़ें। आचार्य समन्तभद्र महाराज तथा विनोबाजी के पत्रों ने बड़ा काम किया। महा-

राज जी ने समाधि की तरफ तो कदम नहीं बढ़ाया, लेकिन आहार में परिवर्तन नहीं किया। लेकिन आश्चर्य कि महाराज दिन में एक बार के पालक के पानी से अच्छे होने लगे। लगभग ४०-४५ दिनों बाद उन्होंने कुछ लेना शुरू किया, और ठीक भी हो गए। बड़ा ही कठिन और कसौटी का समय था वह। उनके दृढ़ चारित्र का स्वरूप सामने आया। शरीर को भी दृढ़ संकल्प से वश में किया जा सकता है, यह समझ में आया।

ठीक होने पर महाराज जी बैरकपुर (कलकत्ता) चले गये। मैं उनसे वहाँ पर भी मिला, पर इस बार चूँकि पं० सुरेन्द्रनाथ जी ईसरी के लिए बुला गए थे। अतः सीधे वे ईसरी चले गए। ईसरी में भी मैं उनसे मिला। पं० सुरेन्द्रनाथ जी से बातचीत हुई, उनका कहना था कि अब हम लोग उन्हें छोड़ दें, अब उनका ईसरी में ही रहना श्रेयस्कर है और कल्याणकारी है। मैं क्या कहता ? मैं तो सिर्फ़ जब भी महाराज जी ने बनारस चलने को कहा, मैं लिवा लाया, जब बनारस से जाने को कहते, मैं वहीं उनके जाने की व्यवस्था कर देता। मैंने कभी भी अपना आग्रह नहीं रखा और न उसको वे मानते। लेकिन जितना मैं महाराज जी को जानता था उससे ईसरी में स्थायी रूप से रहने की बात जँची नहीं। वे स्वतंत्र विचारक थे, जड़ नियमों का बंधन उन्हें कभी बाँध नहीं सका। अतः उस नियमबद्ध वातावरण में कालयापन करना मुश्किल था और ऐसा ही हुआ। लगभग एक वर्ष बाद फिर मैं उन्हें बनारस ले आया।

अब उन्हें स्थायी रूप से रहने को सोचना पड़ रहा था। तीन-चार माह के बाद वर्धा से पत्र-व्यवहार चलने लगा। सो उनके आग्रह पर बोध गया गए। साथ में एक दो महिलाएँ भी गईं कि उनकी व्यवस्था बैठा कर वापस आएँगी, लेकिन वहाँ भी उनके अनुकूल वातावरण नहीं था। पाँच-छह दिन बाद ही लौट आये। दो चार दिन में ही पानीपत चले गए। और भी कई जगह गए जैसे पवनार, दिल्ली, पठानकोट, जालंधर, फरीदाबाद आदि। लेकिन वे रहे पानीपत में ही, रोशन लाल जी की बगीची में। मैं दिल्ली जाता तो पानीपत उनके दर्शन के लिए जाता। उन्हें उसी प्रकार कुछ लिखते पाता, हालचाल पूछ लेता।

लगभग चार माह बाद वे फिर बनारस आये और अब तक जो लिखा था (सर्वधर्म सम-भाव, उपनिषद्-संग्रह) उनके प्रकाशन की व्यवस्था में लग गए। बोध गया वाले फिर से एक बार आने के लिए जोर दे रहे थे, अस्तु ८-१० दिनों के लिए गए और वहाँ से लौटकर वे बनारस आए। अबकी बार हमारे निवास स्थान पर बगीची को बारादरी में रहने का निश्चय किया। यहाँ लगभग वे एक साल तक रहे। यह आवास बड़ा अच्छा था। हम लोग उनसे दूर भी थे और पास भी। शहर के लोगों को भी आने-जाने की सुविधा थी। रात्रि में नित्य दुकान से आने के बाद घण्टा आध घण्टा वहीं बैठता, कुछ चर्चा होती। इसी बीच हमारी उसी बगीची में रामायण का नवाह्न पारायण (नौ दिन का) हुआ। रात में नित्य रामकथा की सभा होती। महाराज दूर से ही सभा का आनन्द लेते। सभा में से अपने मतलब की बात खोजते। मुझसे रामायण मँगाकर पढ़ी, उसमें अपने मतलब की बातों को रेखांकित किया। दो तीन बार हम लोगों ने उनके सान्निध्य में भजन आदि का कार्यक्रम आयोजित किया। यह सब उन्हें भला लगता था। जीवन के प्रति उनका बड़ा विधायक दृष्टिकोण था। कोई कुछ करे तो अच्छा लगता था "यह नहीं करो, वह नहीं करो" ऐसा उनका रुख नही था। करो तो, कुछ भी करो, ऐसा ही हमेशा समझाते थे। इनके विशेष भक्त

गण गाजियाबाद, रोहतक, पानीपत आदि से आते रहते। कु० मनोरमा तो हर गर्मी की छुट्टी मे आती थी। लगभग डेढ़ महीने रहती।

सन् '८० के चातुर्मास के लिए उन्होंने रोहतक जाने का निर्णय लिया। और वे गाजियाबाद कुछ दिन रहने के बाद रोहतक चले गए। मैं उनसे मिलता रहता। फिर वे मुक्तागिरि होते हुए फरवरी १९८१ में बनारस आए और लगभग ३ माह रहकर भोपाल, कुम्भोज, कारंजा आदि की ओर गए। वहाँ से आकर सीधे वैशाली वालों के निमन्त्रण पर वहाँ गए थे। वैशाली से आकर दो-तीन महीने बाद भोपाल चले गये। जहाँ उन्होंने चातुर्मास बिताया। रास्ते में जबलपुर नैनागिरि, सागर आदि भी गए। भोपाल में उनका बड़ा स्वागत हुआ, लोगों को बहुत कुछ बाँटा। रोज बड़ी-बड़ी सभाएँ होती थीं। उनको बनारस अथवा भदैनी मन्दिर का घाट, या यहाँ के लोगों से कुछ आत्मीयता सी हो गयी थी। घूम-फिर कर जब भी काशी आते तो उन्हें लगता कि अपनी जगह आ गए। काशी के आकर्षण का मूल आधार मैं समझता हूँ पार्श्व प्रभु का जीवन रहा। पार्श्वनाथ करुण विचारक थे और इस करुणा के कारण कैसे-कैसे उपसर्ग सहन करने पड़े। यह कथानक बड़ा ही प्रेरक है। इसी ने महाराज के मन में काशी के प्रति आत्मीयता जगायी।

इस बार उन्होंने "शान्ति पथ-प्रदर्शन" का नया संस्करण प्रकाशित करवाया। उसमें ३-४ माह लग गए। काम खत्म। काम नहीं रहे तो उनसे बैठा नही जाता था। इसलिए मार्च १९८२ में फिर छिन्दवाड़ा, भोपाल आदि चले गए। भोपाल वाले इनके अति निकट आ गये थे और बड़ा सम्मान करते थे। पं० राजमल जी तो उनके अनन्य भक्त हो गये।

मई में वापस आकर आप जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश के द्वितीय संस्करण के संशोधन में लग गए। यह बहुत बड़ा काम था और इसके साथ-साथ कई और किताबों के नये संस्करण की व्यवस्था की। एक वर्ष पहले ही पानीपत के और बनारस के लोगों ने मिलकर "जिनेन्द्र वर्णी ग्रन्थमाला" नाम से एक ट्रस्ट बना दिया था। उसी के माध्यम से ये किताबें छपने लगी। लेकिन सभी कार्यों में उलझनें थीं। पुस्तक का प्रकाशन अपने में एक भारी उद्योग है। प्रेस, कागज, टाइप, ब्लाक, प्रूफरीडिंग, बाइंडिंग, डिजाइन अनेक काम और इतने ही प्रकार के लोग। फिर पैक करना, सम्हाल-कर रखना। महाराज जी अपने स्वभावानुसार जिस गति से जिस तरह चाहते थे उस तेज गति से काम नही होता था, इसलिए दुःखी भी हो जाते थे। कुछ अन्य कारण भी थे, कोश के संकलन को लेकर भी विवाद उठ खड़ा हुआ था, इससे भी दुःखी थे। कुछ तो समाज के कतिपय लोगों के व्यवहार से दुःखी थे और सबसे बड़ा कष्ट यह था कि मैं इन समस्याओं में कुछ नहीं कर पा रहा था। स्वास्थ्य तो उनका खराब रहता ही था। मेरी अपनी विवशताएँ थीं।

ऐसे में एक दिन मैं उनसे कोई बात कर रहा था कि प्रसंगवश मैं कह बैठा कि महाराज अब आप अपनी लेखनी को विश्राम दे दीजिये। इसकी वजह से आपको बड़ा श्रम पड़ता है। कभी-कभी बड़ा क्लेश उठाना पड़ता है। अब तो बहुत देर बैठने में भी उन्हें कष्ट होता था। महा-राज तो इस पर मौन रह गए, लेकिन उस दिन के बाद फिर कलम नहीं छूयी।

महाराज जी ने मेरी बात मान ली, लेकिन तब मेरी समझ में नहीं आया था कि उनके प्राण तो कलम में ही बसते थे। महाराज का जीवन ही उसी कलम और उसके माध्यम से साहित्य सृजन में व्यस्त था। उसमें से उन्हें 'रस' तथा जीवन-शक्ति मिलती थी। अब वे क्या करें? दूसरा

कुछ करने में रुचि नहीं रही और उनके ऐसा व्यक्ति बिना कुछ किये जीने को तैयार नहीं था। जीवन में उन्होंने बहुत आघात सहे, लेकिन अब तो उनका कर्म-रस सूख गया। यह सही है कि कलम के कारण और प्रकाशन की व्यवस्था के कारण उन्हें कष्ट होता था, लेकिन उसका एक आत्म आनन्द भी था। इसका निमित्त मैं बना। मुझे लगा कि यह मुझसे बड़ा भारी अपराध हो गया है। कहाँ तो मैं यह समझता था कि महाराज को एकांत मिलेगा, शांति मिलेगी, शरीर को भी राहत मिलेगी। लेकिन यह तो और ही कुछ बन गया। वे थे कर्मठ और मेरी बात ने उनको अकर्म में डाल दिया। मेरी ओर से निराश से हो गए। फिर जो निर्णय बहुत दिनों से स्थगित हो जाया करता था, वह आगे आ गया यानि "समाधिमरण लेना।" जब कुछ शेष नहीं रह गया तो यही रह गया था करने को। महाराज ने मन ही मन निर्णय कर डाला।

महाराज ने तुरन्त सभी प्रवृत्तियों को बन्द कर दिया और प्रभाजी एवं अरहंत, जो पिछले दो वर्षों से लगभग उनके साथ ही रहते थे, उनके साथ नैनागिरि गये। वहाँ से आचार्य विद्यासागर जी के पास सागर गये। अपना समाधिमरण का निवेदन किया। बाद में मुझे पता लगा कि आचार्य जी ने तुरन्त तो अनुमति नहीं दी और ईसरी आने के लिए कहा था। महाराज जी वहाँ ब्रह्म विद्यापीठ की शिष्याओं को पढ़ाते थे। जब ईसरी जाने का तय हुआ, तब वे तीन दिन के लिए वाराणसी आये थे। मैदागिन के मन्दिर में ठहरे थे। समाधिमरण के बारे में मुझसे कोई बात नहीं हुई, न मैं इनके इस निर्णय को भाँप पाया। महाराज जी ने मुझसे कुछ न कहना ही उचित समझा होगा।

२७ फरवरी १९८३ को महाराज ईसरी गये थे। लगभग एक माह बाद हमें उनके बीमार होने की सूचना मिली। हम, हमारी माँ, हमारे परिवार के और सदस्य वहाँ पहुँचे। बनारस के कुछ लोग पहले से वहाँ ही उपस्थित थे, प्रभाजी भी थीं। आचार्य विद्यासागर जी महाराज का संघ भी था। उन सबसे वर्णीजी महाराज के हालचाल ज्ञात हुए। महाराज जी कई दिनों से बीमार थे। श्वास की तकलीफ के मारे बैठा नहीं जाता था। खाना-पीना बन्द था। बोलने में भी कष्ट होता था। हमने दर्शन किये और जो अवस्था थी उसे देखकर, मैंने आग्रह किया कि महाराज बनारस चलें, वहीं स्वास्थ्य लाभ हो सकता है। महाराज ने कहा कि अब तो कोई भी निर्णय आचार्य जी करेंगे, तुम उनसे बात कर लो।

दोपहर को मैं आचार्य जी के पास गया और निवेदन किया। महाराज जी ने मुझे मोहग्रस्त समझा और कहा कि अब हम लोग उन्हें छोड़ दें, उनका कल्याण अब यहीं रहने में है। आचार्य जी ने यह भी कहा कि उनके यहाँ रहने से उनके संघ में जो युवा साधु हैं उनका बड़ा लाभ होगा। समाधिमरण वाली बात, जहाँ तक मेरा ख्याल है, उस समय तक निश्चित नहीं हुई थी। लेकिन आचार्य जी और महाराज जी में बातें होनी होंगी।

आचार्य जी से अधिक बात करने का मेरा साहस नहीं था। मैंने महाराज जी को अपनी और आचार्य जी के बीच हुई बातचीत से अवगत कराया। पहले की अपेक्षा तबीयत भी कुछ सुधर रही थी। सम्भवतः आज आहार में कुछ लिया भी था। शाम को मैं लौट आया। जो लोग महाराज का हाल सुनकर ईसरी गये थे, वे भी धीरे-धीरे लौटने लगे। इस बीच बराबर समाचार मिलते रहे। इसी बीच खबर मिली, महाराज "समाधिमरण" का निर्णय करने वाले हैं, तो मैंने

उन्हें एक पत्र लिखा। जो मैंने लिखा वह उनके सामने कहने का साहस नहीं कर सकता था। वह पत्र एक भाई के हाथों भिजवाया गया। महाराज जी ने उसे पढ़ा। किसी से उन्होंने कहा कि यह पत्र आचार्य जी को दिखला आओ, जो वे आज्ञा दें। पर फिर उसे रोककर उन्होंने मेरे पास उत्तर भेज दिया। मेरी समझ में सब आ गया। महाराज ने दूसरे दिन "सल्लेखना" का व्रत आचार्य जी से ग्रहण कर लिया है। यह १२ अप्रैल का दिन था।

मैं सोलह को ही पहुँचा। कई लोग साथ में थे। मैं दर्शन के लिए पहुँचा। वहाँ लकड़ी की बाड़ लगा दी गयी थी। फिर भी हम लोग महाराज के कमरे में पहुँच गये। हम लोग बैठे थे कि महाराज कुछ बोले, यह कि जो निर्णय हुआ है, वह हो चुका और वही उचित है, हमारा उसमें सहयोग होना चाहिए, हम लोगों ने जो भी कुछ किया है उसका प्रतिफल अवश्य मिलेगा। और फिर अगर उनसे इतने लम्बे साथ में कुछ भी गलत व्यवहार हो गया हो तो क्षमा इत्यादि। हम लोग क्या बोलते। सभी आवाक्, मौन, सभी की आँखों में आँसू थे। थोड़ी देर बाद जो मैं बोल सका उसमें सिर्फ 'प्रणाम' था। हम बाहर आ गये। मन बड़ा भारी था। लेकिन हम लोगों की भाषा समझने वाला वहाँ कोई नहीं था। मेरी दृष्टि में जो निर्णय उन्होंने किया वह उनके लिए उचित नहीं था। कम से कम इसमें जल्दी तो हो ही गयी। यद्यपि महाराज जी ने स्वयं इस बात के लिए अधिक आग्रह किया था। फिर भी उसके औचित्य को मेरा मन स्वीकार नहीं कर पा रहा था। इसका समाधान उनके पूर्ण सल्लेखना काल में रहकर, सब देखकर भी न हो पाया। हाँ आचार्यश्री ने जो उस समय उनके लिए व्यवस्था की थी, वैसी न मैंने देखी, न सुनी। और उसमें स्वयं वे प्रतिपल जागरूक थे।

रात्रि-दिवस उनके संघ के पूजनीय ऐलक वर्ग के साधु बराबर लगे रहते थे। रात्रिभर दो साधु जागते रहते थे। उनकी देखभाल करते रहते थे। सहलाते थे, खुद कुछ न कुछ पढ़ते रहते थे, महाराज के लिए भी पढ़ते रहते थे। यह बड़ा कठिन और लम्बा काम था। केवल गुरु के आदेश से ही संभव नहीं था, जब तक कि स्वयं उसमें अपना हृदय न हो। पूरा संघ इस बात में जागरूक था कि सल्लेखना का काल ठीक से व्यतीत हो। वर्णी जी महाराज के प्रति सबका विनय भाव था, चाहे पद कोई भी क्यों न रहा हो। आचार्यश्री का अपने संघ पर अनुशासन अद्वितीय था।

फिर तो लोगों का आने-जाने का ताँता लग गया। पानीपत से, रोहतक से, कलकत्ता से लोग आए। बनारस का तो शायद ही कोई परिवार छूटा होगा। मैं बराबर आता जाता, महाराज को देखता, वे क्षीण होते जा रहे थे। लेकिन विचित्र बात यह थी, कहीं भी क्लेश की लेशमात्र भी झलक उनके चेहरे पर नहीं थी। चाहे कोई आवे, कोई नया-पुराना, सब उनकी एक-सी चितवन देखते।

लगता था कि सब कुछ को जैसे स्मृति से बाहर कर रहे हैं। नहीं-नहीं सभी को समान भाव से देख रहे थे। कुछ दिनों बाद उनके कमरे में जाने की एकदम मनाही हो गयी थी। अशान्ति, शोरगुल और भीड़ की दृष्टि से यह व्यवस्था सामान्यतः ठीक है, लेकिन भावुक हृदय महाराज जी और भक्तों के बीच अन्तराल की यह व्यवस्था कुछ जँची नहीं। जैसा मैंने देखा, महाराज जी मोह से परे हो गये थे, किसी से भी लगाव नहीं रह गया था और न पीछे लौटने की संभावना थी, मुझे लगा कि महाराज को कम आँका जा रहा है। जिसे अपने शरीर का तो क्या, आत्मा का भी

मोह नहीं है, उसको दुनिया का कौन सा मोह व्यापेगा ? यह भी अनुभव हुआ कि अपनों के प्रति भी जो मोह होता है, वह भी शरीर से ही सम्बन्धित होता है।

जब वर्णी जी महाराज ने सल्लेखना धारण करने का निर्णय ले लिया, तब दूसरी और कोई बात सोचना सम्भव ही न थी। संकल्प के द्वारा बाहरी पदार्थों को तथा सम्बन्धों को त्यागना अपेक्षाकृत सरल है, लेकिन मैं सोचता रहा कि क्या इतना जबरदस्त आन्तरिक नियन्त्रण सम्भव है ? क्या कषायों पर इतना काबू पाया जा सकता है ? कषायें तो अत्यन्त सूक्ष्म होती हैं। गहरी भी होती हैं और यह सब शरीर के भीतर ज्यादा चुभती हैं। ऐसी स्थिति में संकल्प से न डिगना कितनी बड़ी बात है। शारीरिक पीड़ा भी क्या इतनी कठोरता से सही जा सकती है ? स्वस्थ चलते-फिरते आदमी को क्षुधा की वेदना क्या कम पीड़ा दायक होती है ? ऐसी पीड़ा की तीव्रता का अनुमान जब दिन बीतते जा रहे हों, तब कैसे लगाया जाय ?

यह सब मैं इन्हीं आँखों से देख रहा था जब कि इन्हीं आँखों ने कभी स्वास्थ्य के कारणों से महाराज जी को विचलित, व्याकुल होते देखा था। इतना बड़ा परिवर्तन इसी शरीर में, इसी काल में मेरे समक्ष था। मेरे लिए तो कल्पनातीत था। उनकी स्थिति का बयान कोई और करता, तो मैं समझता कि यह सब व्यक्ति विशेष के प्रति बहुमान के कारण है। परन्तु यह तो बिल्कुल मेरे सामने घटित हो रहा था। मैं महाराज जी को साधारण मनुष्य कह आया हूँ, लेकिन यहाँ मुझे साधारणता में असाधारणता का प्रत्यक्ष दर्शन हुआ।

"वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि'

दूसरों के लिए कितने कोमल, अपने लिए वज्र के समान कठोर दृढ़, विचारों में वही कोमलता, किन्तु चारित्र में कैसी दृढ़ता या निर्ममता ? अनेकान्त को मैंने सशरीर देखा, अनेकान्त अगर कहीं मैं पढ़ पाया तो महाराज जी का दर्शन करके। ग्रन्थों में अनेकान्त के विषय में न जाने कितना लिखा है, लेकिन वहाँ भी प्रायः एकान्त ही पाया। अनेकान्तवादी ही मोक्षशास्त्र और गीता दोनों को पढ़ा सकता है, वह भी तुलनात्मक अध्ययन के लिए नहीं, अपितु दोनों के प्रति समान श्रद्धा रखकर। अनेकान्त को सम्पूर्ण हृदय से मानने वाला ही आचार्यश्री समन्तभद्र, आचार्यश्री विद्यासागर के साथ ही साथ पं० गोपीनाथ कविराज, संत विनोबा के चरणों में मस्तक नवा सकता है। महाराज जी का समग्र जीवन अनेकान्तमय था, तभी वे "समणसुत्तं" की रचना कर सके, सभी की सम्मति पा सके। इतना ही नहीं उन्होंने उपनिषदों तथा पुराणों को भी मथकर ग्रन्थ तैयार कर दिया।

दिन बीतते जा रहे थे। हम लोग कमरे के बाहर खिड़की में से दर्शन कर सकते थे। गर्मी अधिक होने पर महाराज जी को आश्रम स्थित मन्दिर जी के नीचे तलघर में सुबह १० बजे ले जाया जाता था। जिस दिन उन्हें सिर्फ पानी लेना होता था, वे किसी श्रावक के कमरे में जाते थे। बस इतना ही अवसर हमें उनका दर्शन करने के लिये मिलता था। उनसे वार्ता करने का सवाल ही नहीं था। सभी समय ऐलक आदि त्यागी वर्ग उनकी हर तरह से सेवा में लगा रहता था। सिवाय अरहंत जी के और कोई उनके निकट नहीं रह सकता था। अरहंत लगभग दो साल से लगातार साथ रहते थे, उनकी हर बात से परिचित थे।

शरीर में माँसपेशियाँ शेष हो चुकी थीं। ऊपर की त्वचा हड्डियों से चिपककर रह गयी थी। चेहरा सिकुड़ गया था। परन्तु उनकी चितवन ज्यों की त्यों थी। कोई भी नमस्कार करता तो आशीर्वाद दे देते थे, बस ! दृष्टि नीचे किये बैठे या लेटे रहते थे।

२२ मई रविवार को मैं वहीं था दिन भर। बनारस के भी अनेक लोग थे। कुछ लोग इस-लिए रुके थे कि महाराज का समाधि-दर्शन हो जाये। दूर से आये हुए कुछ लोग लौट भी गये थे। महाराज के शरीर को देखकर कुछ भी कहा नहीं जा सकता था। २२ मई को भी उन्होंने पानी लिया था, लेकिन उसमें भी बड़ा कष्ट हुआ था। उस दिन आचार्य विद्यासागर जी भी खड़े थे। पानी विशेष नहीं पी सके, शायद पावभर भी नहीं। फिर वे वहीं तलघर में ले जाये गए।

लगभग ३ बजे अपराह्न में महाराज जी को फिर ऊपर लाया गया। क्यों ? पता लगा कि लोग दर्शन करना चाहते हैं। बहुत भीड़ थी। सम्भवत सल्लेखना-काल का दर्शन करने से विशेष पुण्य होगा। पुण्य प्राप्ति का लोभ भी कितना लुभावना होता है ? लेकिन पुण्य बाँटने वालों को या प्राप्त करने वाले किसी के ध्यान में नहीं आया कि वर्णी जी महाराज की इस समय अवस्था कैसी है ? या अपने पुण्य लोभ में उन्हें कितनी पीड़ा दी जा रही है ? उन्हें ऊपर लाने में काफी कष्ट हुआ, वे बैठ भी नहीं सके, लिटा दिये गए। करीब आध घण्टे तक यह सब होता रहा। फिर उन्हें उनके कमरे में ले जाया गया। मुझे बहुत कष्ट हुआ यह सब देखकर। बड़े लोगों की करुणा की परिभाषा मेरी समझ से बाहर थी। देह भी तो आत्मा का आधार है, उसके प्रति अनासक्त होना एक बात है। और उसके प्रति अवहेलना का भाव रखना दूसरी बात। शाम को गाड़ी से मुझे काशी लौटना था। मेरे परिवार के सभी सदस्य वहीं थे। बुध को सुबह आने का विचार था। लगा कि अभी महाराज पानी ले रहे थे, सम्भवतः समाधि तीन चार दिन तो दूर होगी ही।

सोमवार की शाम को वाराणसी में मुझे सूचना मिली कि महाराज जी ने आगे पानी न लेने का निर्णय लिया है। क्रम के हिसाब से उन्हें मंगलवार को पानी लेना था, सो नहीं लेंगे। मुझे जल्दी आने के लिए कहा गया, चूँकि मैंने मंगल को जाना तय किया था, अतः मैंने उस सूचना को प्राथमिकता नहीं दी। अपने कार्यक्रम के अनुसार मंगल को चलकर बुधवार की सुबह मैं पहुँचा। देखा कि सब समाप्त हो चुका। आश्रम में जिस स्थान पर उनकी चिता लगी थी, वहाँ अभी भी धुआँ उठ रहा था। जो बचा था उसी को प्रणाम किया। भस्मी माथे पर लगायी। पश्चात्ताप और दुःख की सीमा नहीं थी, लोग मुझे घेरे हुए थे। जिसका परिणति निश्चित थी, सब कुछ मालूम था, फिर भी चित्त को समाधान कहाँ ? पता नहीं मेरे किस पाप का, अशुभ कर्म का यह दण्ड था कि अन्तिम क्षणों में मैं उनके सान्निध्य से वंचित रह गया।

लोगों ने जो विवरण बतलाया वह यों है कि मंगल को सुबह कोई खास बात नहीं थी। उन्होंने जल भी त्याग दिया था, सो उन्हें नित्य की भाँति तलघर वाले कमरे में लगभग दस बजे ले जाया जा रहा था। उस समय रास्ते में सभी श्रद्धालु उनके दर्शन के लिए खड़े थे। हमारी माँ और परिवार के लोग भी थे। महाराज जी को सभी ने नमस्कार किया। महाराज जी ने हाथ उठाकर आशीर्वाद दिया, मन में कुछ बोले भी। उनकी उस समय जो स्थिति थी, उससे यही अनुमान लगाया गया कि अभी आज ही महाराज ने जल का त्याग किया है। अभी दो तीन दिन चलेंगे। आकृति में कोई परिवर्तन नहीं था। चेतना पूर्ण थी।

महाराज जी को कमरे में पहुँचाने के बाद ही आचार्यश्री और बाद में सभी साधु आहार-चर्या के लिए निकलते थे। उस दिन भी ऐसा ही हुआ। सभी मुनि ऐलक आदि त्यागीजन आहार लेने निकले। दो ऐलक जी जो महाराज के निकट थे, वे भी दूसरे दो ऐलक जी के आने के बाद

आहार को निकल गए। आचार्य जी का आहार हो चुका था। ऊपर के कमरे में बैठे थे कि महाराज ने ऐलक जी से कहा, "आचार्य जी को सूचना दे दो कि मेरी चेतना अब लुप्त हो रही है।" ऐलक जी जल्दी ही आचार्य जी के निकट पहुँचे, साथ में अन्य ऐलकगण भी थे और बाबू नानकचंद जी का पुत्र सुशील भी था, जो उनकी सेवा में अनवरत लगा रहता था। उसने बतलाया कि आचार्य जो के पहुँचने पर महाराज ने नियमपूर्वक पीछी हाथ में लेकर तीन बार घुमाकर उनको नमस्कार किया। बैठे ही बैठे वे नमस्कार करते थे। कई दिनों से उठ तो सकते ही नहीं थे। आचार्य जी ने कहा कि अब गुरु-शिष्य का सम्बन्ध भी तोड़ दीजिये। महाराज कुछ बोले नहीं।

आचार्यश्री ने पुनः कहा कि अगर आप सुन रहे हैं तो णमोकार मंत्र बोलिये। महाराज जी ने दो बार "ओ३म्" का उच्चारण किया। तीसरा "ओ३म्" उनके मुँह से तो नहीं निकला, हृदय से निकला होगा, आखिरी साँस के साथ। और उनका मस्तक आचार्यश्री के चरणों पर आ पड़ा। अन्तिम क्षण में इतनी चेतना और सजगता ! अद्भुत बात है।

बस ! इतनी-सी है यह कहानी। इतना ही समय मेरा महाराज जी से परिचय का था। न जाने कौन सा पुण्य मेरा और मेरे परिवार का था कि हमें इतना सब कुछ मिला। जीवन के आखिरी क्षण तक न भुला सकूँगा कि हम लोग महाराज जी को समझ नही सके। जिस समाज या सम्प्रदाय विशेष के लिए उन्होंने इतना किया, जितना पिछले हजार वर्षों में किसी से न हुआ, उस समाज ने उन्हें कभी पूर्ण रूप से स्वीकारा नहीं, समझा नहीं। किसी ने भी इस थाती को सँभाल कर रखने की सम्यक् ढँग से चेष्टा नहीं की। नियमों और परम्पराओं को मानने वाला समाज व्यक्ति को पहचानना नहीं चाहता। यही कारण है कि व्यक्ति जब मिट जाता है, फिर समाज उस पर पुष्प-वर्षा करता है। हमें अपनी परम्पराओं की रक्षा का इतना मोह है कि ऐसे व्यक्ति की विशेषता गौण हो जाती है। हम महसूस नहीं करते कि ऐसा व्यक्ति रोज-रोज पैदा नहीं होता।

यह मैं सगौरव कह सकता हूँ कि मैं महाराज जी के इतना निकट रह सका। मैं अपने इस आत्मगौरव को सँजोकर रखना चाहता हूँ, क्योंकि उनके सान्निध्य से मुझे जीवन-दृष्टि मिली है। मेरी भावना तथा अभिलाषा है कि उनकी दी हुई एक वस्तु मेरे जीवन पर्यन्त मेरे पास बनी रहे, वह है "जीवन और धर्म के प्रति उदार दृष्टि"।

साहित्य एवं कृतित्व

साहित्य तपस्वी श्री जिनेन्द्र वर्णी

डॉक्टर दरबारीलाल कोठिया, न्यायाचार्य, वाराणसी

●

सन् १९४२ की बात है। इतिहास और पुरातत्त्व वेत्ता स्व० आचार्य जुगल किशोर मुख्तार 'युगवीर' द्वारा संस्थापित 'वीर सेवा मन्दिर' सरसावा (सहारनपुर) में श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के पिता बा० जयभगवान जी वकील, पानीपत, साहित्य-सेवा में कुछ महीने पूर्व पहुँचे थे। उन्हें साहित्य-साधना का बड़ा रस था। हमें भी उक्त साहित्यिक संस्था का आकर्षण हुआ। और वकील साहब के चार या छह माह बाद हम भो वहाँ पहुँच गये थे। यद्यपि मथुरा, चौरासी के ऋषभ ब्रह्मचर्याश्रम (जैन गुरुकुल) में हम प्रधानाचार्य थे। किन्तु साहित्य-साधना का हमें भी रस था और ज्ञात हुआ कि महान् साधक मुख्तार साहब के सान्निध्य में बा० जयभगवान जी जैसा साहित्य-साधक साहित्य-साधना में रत हैं।

हमने देखा कि उन्हें वकालत नहीं भायी, साहित्य-साधना उससे अच्छी लगी। वे जैन-साहित्य को घर-घर पहुँचाना चाहते थे और चाहते थे कि जैन-धर्म के कल्याणकारी उसूलों को विश्व के सभी लोग जानें तथा उनपर चलकर वे अपना हित कर कर सकें। हम लोग प्राय: रोज-बरोज यही चर्चा करते थे। वकील साहब घंटों हँसाते और चर्चा करते थे। उनके ज्ञान एवं भाषण की अद्भुत विशेषता यह थी कि वे एक ही शब्द के अनेक पर्यायवाची शब्द कह डालते थे। वे लेख भी लिखते थे, तो उनमें भी ज्ञान की विपुल सम्पदा भरी रहती थी। उनके लेख बड़े लम्बे और विस्तृत होते थे। वे वीर सेवा मन्दिर में बहुत कम रह सके, पानीपत वापस चले गये। किंतु साहित्य-साधना की धुन और समाज-सेवा की लगन वहाँ भी रही।

श्री जिनेन्द्र वर्णी उन्हीं के प्रतिभा सम्पन्न पुत्र थे। वे बचपन से पिता की साहित्य साधना को देखते थे, उसका चस्का उन्हें भी लग गया था। कर्म की यह विडम्बना थी कि वे कृश और अस्वस्थ बचपन से रहे। सदा उनकी काया रोगाक्रान्त रहती थी। इस लिए उन्होंने विवाह नहीं कराया। जिन-मन्दिर में ही 'ज्ञान ध्यान-तपोरक्त रहते थे। उत्तराधिकार के रूप में उन्हें साहित्य-साधना की रुचि और उसमें प्रवृत्ति अपने पिता से ही प्राप्त थी। अपना समग्र समय वहीं बैठकर शास्त्र स्वाध्याय में लगाने लगे। स्वाध्याय से उनका ज्ञान जैसे-जैसे प्रवृद्ध होने लगा वैसे-वैसे वे कागजों पर उन बातों को नोट करने लगे, जो उन्हें नयी मालूम होती थीं। वे किसी पाठशाला में नहीं गये और न किसी गुरु से कुछ पढ़ा। फिर भी उनका क्षयोपशम इतना तीव्र था कि जैन धर्म और दर्शन के बड़े-बड़े ग्रन्थों में उनका अनायास प्रवेश हो गया तथा आगम की पारिभाषिक विपुल शब्दावली के अर्थ एवं भाव को उन्होंने स्वतः ही हृदयङ्गम कर लिया। वे सदा कृश और अस्वस्थ काया में भी सजग एवम् सशक्त आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित रहे। एक ओर श्वांस रोग एवम् शारीरिक क्षीणता, दूसरी ओर संकल्प-शक्ति एवम् सहन शक्ति से युक्त प्रबल आत्मा। कई बार दोनों में संघर्ष हुए, किन्तु विजय आत्मा की हुई, जिसके फलस्वरूप अकेले एक व्यक्तित्व ने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' (चार भागों में) रच डाला, जिसे कई संस्थाएँ भी मिलकर नहीं कर सकती थीं। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त' एक ऐसा कोश है जिसमें जैन वाङ्मय के समग्र पारिभाषिक एवम् विशिष्ट शब्दों का संकलन और अर्थ विशदता के साथ दिया गया है। वस्तुतः जो कार्य पिछली कई शताब्दियों में नहीं हो सका था, वह जिनेन्द्र वर्णी ने करके दिखा दिया। इस कोष ने उन्हें अमर बना दिया है।

भगवान् महावीर की २५ वीं निर्वाणशती में अनेक महत्त्व-पूर्ण कार्य सम्पन्न हुए। उनमें श्री

जिनेन्द्र वर्णीजी द्वारा संकलित 'समणसुत्तं' एक अनोखी उपलब्धि है। इसकी अन्तिम वाचना दिल्ली में २९-३० नवम्बर १९७४ मे हुई थी, जिसमें उसे सर्वमान्यता प्राप्त हुई थी। इसके प्रकाशक श्री कृष्णराज मेहता, संचालक सर्व-सेवा-संघ, वाराणसी का निम्न वक्तव्य इस ग्रंथ का अद्वितीय महत्त्व स्पष्ट प्रकट करता है—

'समण सुत्तं' ग्रंथ की निष्पत्ति के पीछे भगवान् महावीर की अव्यक्त और सन्त विनोबा जी की पावन व्यक्त प्रेरणा रही है। यह अपने में अपूर्व ऐतिहासिक घटना है कि भगवान् महावीर के २५ सौवें निर्वाण-महोत्सव के वर्ष में दिल्ली में इस ग्रंथ की सर्वमान्यता के लिए संगीति का आयोजन हो सका। संगीति में सम्मिलित साधुओं, विद्वानों, श्रावकों तथा सेवकों ने हर प्रकार से अपना हार्दिक सहयोग देकर इसे सर्व-मान्यता प्रदान की। जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों के मुनियों तथा श्रावकों का यह सम्मिलन विगत दो हजार वर्षों के पश्चात् पहली बार देखने में आया।

—प्रकाशकीय समणसुत्त।

इसमें सन्देह नहीं कि उनकी यह 'समणसुत्त' रचना उक्त 'जैनेन्द्र सिद्धान्त' की तरह ही अनोखी है। इसमें जैन परम्परा के तीनों (दिगम्बर, श्वेताम्बर और स्थानकवासी) सम्प्रदायो के मान्य आगमोंका मन्थन कर प्राकृत-गाथा बद्ध नवनीतामृत है, जिसे तीनों सम्प्रदायों के साधु-सन्तों, विद्वानों और श्रावकों ने मान्यता प्रदान की है। यह हिन्दुओं की 'गीता', मुसलमानों के 'कुरआन' और ईसाइयों की 'बाइबिल' जैसा ही जैनों का सर्वमान्य ग्रन्थ है। श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ने सन्त विनोबा भावे की प्रेरणा पाकर पहले 'जैनधर्मसार' के रूप में आगमों का दोहन कर संकलन-ग्रन्थ रचा। उसके बाद इसी के स्थान पर 'जिण-धम्म' लिखा। जब ये दोनों ग्रन्थ विनोबाजी को उनके अपने नामों से नहीं भाये, न स्वयं जिनेन्द्र वर्णीजी को मनभाये तो उन्होंने तीसरी बार प्रयत्न किया। इस प्रयत्न में उन्हें ऐसी सफलता मिली, जिससे उन्हें और विनोबा जी को ही नहीं, जैनों के तीनों सम्प्रदायों के साधुओं, विद्वानों और श्रावकों को वह ग्रन्थ भा गया। ग्रन्थ का नाम रखा गया 'समणसुत्तं' जिसे दिल्ली में साहू शान्ति प्रसादजी तथा उनकी धर्मनिष्ठा धर्मपत्नी श्रीमती रमारानी जैन द्वारा समायोजित संगीति ने, जो 'न भूतो न भविष्यति' सर्व सम्मति से सोल्लास मान्यता प्रदान की। धन्य हैं श्री जिनेन्द्र वर्णी, जिन्होंने हिम्मत न हारी और एक ऐसा अमर ग्रन्थ विश्व को प्रदान किया।

उनके उल्लेखनीय ग्रन्थों में तीसरा ग्रन्थ है 'नयदर्पण', 'नय' जैन दर्शन का महत्त्वपूर्ण ज्ञापक तत्त्व है। सारा लोकव्यवहार इसी के माध्यम से चलता है। वक्ता अपनी वचनप्रवृत्ति और ज्ञाता अपना अभिप्राय इसी का अवलम्बन लेकर व्यक्त करते हैं। यह जैन दर्शन में ही प्रतिपादित है और यह उसकी विशिष्ट उपलब्धि है। श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ने इसका, इसके भेदों और उपभेदों—द्रव्यार्थिक और पर्यायार्थिक, द्रव्यार्थिक के नैगम, संग्रह और व्यवहार, पर्यायार्थिक के ऋजुसूत्र, शब्द, समभिरूढ़ और एवं भूत नयों का इसमें सविस्तार सुविशद विवेचन किया है। उनकी यह रचना भी अपूर्व एवं सर्वग्राह्य है।

इनके अलावा 'कर्मरहस्य' आदि कितनी ही रचनाओं का उन्होंने सृजन किया है। वे सच्चे साहित्य-तपस्वी थे।

वे जन्मे थे पानीपत (हरियाणा) में, और आवास बनाया साहित्य-सृजन का—मेरठ (उ० प्र०); वाराणसी, (उ० प्र०), भोपाल एवं इन्दौर (म० प्र०) को। वाराणसी में तो वे ऐसे रहे,

मानो वे यहीं के रहने वाले हों। बा० छेदीलाल जी का भदैनी में गंगा के तट पर स्थित दिगम्बर जैन मन्दिर उनकी साहित्य-साधना और चिन्तन का केन्द्र था। समाज उनका परम भक्त ऐसा बना कि उसकी श्रद्धाओं में वे आज भी समाये हुए हैं। हम जब उस मन्दिर में दर्शनों के लिए जाते तो उन्हें साहित्य-सृजन में रत देखते थे। साथ ही अनेक धर्मनिष्ठा महिलाओं को उनके शुद्ध आहार-निर्माण में संलग्न पाते थे। श्री विजय कृष्ण, जय कृष्ण जी घड़ी वालों की वृद्धा एवं धर्मपरायणा माताजी को वहाँ बिना-नागा वहाँ आहार की तैयारी में लगा पाते। यह वाराणसी का समाज का अहोभाग्य था कि उन्हें श्री जिनेन्द्र वर्णीजी की परिचर्या-सेवा करने का वर्षों तक सुअवसर मिला।

उन्होंने अपने नाम को अन्त तक सार्थक किया। वे वीतराग जिनेन्द्र के अनन्य भक्त थे। श्री पार्श्व प्रभु और दिगम्बरत्व के वे इतने श्रद्धालु थे कि अनन्त तीर्थंकरों, श्री पार्श्व प्रभु एवं अनगिनत साधुओं की निर्माणभूमि सम्मेद शिखर जी के पार्श्वमूल ईसरी (बिहार) में पहुँच कर आचार्य विद्यासागर के चरण-सान्निध्य में ४० दिनों तक समाधि लेकर निर्मल भावों से देहोत्सर्ग किया। अन्तिम जीवन की यह पावन-क्रिया है, जिसे सन्त विनोबा जी ने भी अपनाया।

हम उनके जीवन में देखते हैं कि उन्होंने श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र की त्रिपुटी (रत्नत्रय) को पाकर वस्तुतः अपनी दुर्लभ मानव-पर्याय को सार्थक किया। उन्हें हमारे शतशः नमन हैं।

●

धर्म समभाव

सत्य या तत्त्व एक ही है, उसे राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, विष्णु, शिव किसी भी नाम से कहो। उसके प्रति हृदय में प्रेम जागृत हो जाने पर ज्ञान, भक्ति, योग, निष्काम कर्म आदि सब सफल हैं। हृदय ही उस परम प्रभु का निवास है।

प्रेम जितना व्यापक होता जाता है, उतना ही धर्माचरण भी मंजता है। पराकाष्ठा प्राप्त होने पर सकल जीवों में प्रभु का दर्शन होता है। यही ऐक्य या अद्वैत है।

अन्तरंग और बाह्य क्रिया में अन्तर न होने का नाम ही सरलता है और अन्तर रखना ही छल-कपट, मायाचार है।

कोई पढ़ना जाने या न जाने, उपदेश देना जाने या न जाने—किसी न किसी प्रकार स्वाध्याय अवश्य कर सकता है और मार्ग का निर्णय कर अपना हित कर सकता है।

—वर्णीवाणी

परम संत तुझे शतशः नमन !

डॉ० पन्नालाल साहित्याचार्य, सागर

●

पूज्यवर आचार्य विद्यासागर जी महाराज के प्रथम चातुर्मास के समय नैनागिरि में श्री जिनेन्द्र वर्णी जी का शुभागमन हुआ था। उसी समय संयोग वश मेरा भी वहाँ पहुँचना हुआ। सायं काल जब सर्व प्रथम आपसे मिला तो विदित हुआ कि कृश काय, नाटा कद और एक छोटी चादर की गतिया बाँधे जिनेन्द्र वर्णीजी यही हैं। वन्दना करने के बाद मैंने कहा कि आज पहली बार आपके दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। सुनते ही वर्णी जी बोले, 'मैं तो आपके दर्शन कई बार कर चुका हूँ।' मैं आश्चर्य में पड़ गया। मुझे आश्चर्यान्वित देख बोले—विद्वान् का दर्शन तो उसके साहित्य से होना है। आपका साहित्य मैंने बहुत देखा है और बहुत बार देखा है। शरीर का दर्शन तो उपचार है। मैंने कहा— तब तो मैंने भी आपके दर्शन कई बार किये हैं।

आपने जिनागम का मंथन कर 'जैनेन्द्र कोष' नाम से प्रसिद्ध चार कलशों में जो अमृत भरा है वह अभूतपूर्व है आपके अभीक्ष्ण-ज्ञानोपयोग का मधुर फल है। नैनागिरि से आप भोपाल चले गये, आग्रह करने पर भी सागर नहीं पधारे। बोले कि 'जैनेन्द्र कोष' के द्वितीय संस्करण के लिए तैयारी चल रही है। नैनागिरि में जितने दिन रहे, यही काम चलता रहा।

सतत परिश्रम से आपका स्वास्थ्य गिरता गया, अतः आप द्वितीय चातुर्मास के समय पुनः आचार्य विद्यासागर जी के पास नैनागिरि पधारे। विनम्रभाव से बोले कि मैं आपके चरणों में समर्पित हूँ—मेरा कल्याण कीजिये—मुझे समाधि दीजिये। आचार्य महाराज नैनागिरि से विहार करने वाले थे, अतः उन्होंने आदेश दिया कि अभी २ माह सागर रहें पश्चात् मैं आपको अपने पास बुलाऊँगा।

आचार्य महाराज संघ सहित सम्मेदशिखर जी की ओर बढ़ गये और वर्णी जी सागर आ गये। वर्णीभवन (मोराजी) में आपके आवास की व्यवस्था की गई। तब तत्त्व चर्चा और प्रवचनों का यथाशक्य अवसर मेरे लिये सुलभ रहा। उस समय सागर में इन्दौर से भी १०५ आर्यिका कीर्तिमती जी अध्ययन की अभिलाषा से आई थीं, उन्होंने वर्णी जी से पूछा—क्या पढ़ूँ? वर्णी जी ने उत्तर दिया—यदि अवसर मिला है तो आप धवला का अध्ययन कर लें, करणानुयोग का ग्रन्थ है। उनकी आज्ञानुसार धवला का अध्ययन शुरू किया। प्रथम भाग पूर्ण हो गया और द्वितीय भाग आधा।

अब तक आचार्य महाराज सम्मेदशिखर जी पहुँच गये थे और वहाँ से वापस आकर ईसरी में स्थिर हो गये।

वर्णी जी सागर से वाराणसी गये और कुछ दिन बाद ईसरी पहुँच गये। वहाँ आचार्य महाराज के तत्त्वावधान में सल्लेखना धारण की। उस समय भी आपके दर्शन करने का पुण्य अवसर प्राप्त हुआ। श्वास के कारण आप बैठ भी नहीं सकते थे। एक चौकी के सहारे रात्रि व्यतीत करते थे। पूज्य आचार्य महाराज के सम्बोधन से उनका चित्त प्रसन्न हो जाता था। वैयावृत्ति की उत्तम व्यवस्था थी। मैं सागर वापस आ गया। अनन्तर समाचार मिला कि बड़ी शान्ति से आपका समाधिकरण हो चुका है।

अब जब ईसरी गया तब मात्र उनके समाधि-स्थल का दर्शन हुआ। उदासीनाश्रम के प्राङ्गण में पूज्य गणेश प्रसाद जी वर्णी (पूज्य गणेश कीर्ति महाराज) की समाधि के निकट ही समाधि का निर्माण हो रहा है। जिनवाणी की उपासना में समग्र जीवन की आहुति देने वाले इन महान् सन्त को मेरी शतश : श्रद्धाञ्जलि समर्पित है। ●

सौम्य साहित्यवेत्ता जिनेन्द्र वर्णी

श्री दलसुख मालवणिया

●

पूज्य जिनेन्द्रवर्णी का साक्षात्परिचय तब हुआ जब 'समणसुत्त'—समर्थन के लिए दिल्ली में सभा हुई। उसके बाद मैंने शिखर जी की यात्रा की थी तब वे ईसरी में विराजमान थे, किन्तु मैं दर्शन का लाभ नहीं ले सका। आज भी मुझे इस बात का खेद है। 'समणसुत्त'—समर्थन सभा में एक के बाद एक वक्ता ने उस ग्रन्थ की प्रशंसा की और कहा कि इसे तत्काल प्रकाशित हो जाना चाहिए ऐसी सिफारिस की। शायद मैं सबके अन्त में ही खड़ा हुआ और कुछ संशोधन की चर्चा की। तो सौम्य प्रकृति के पूज्यवर्णी जी ने आग्रह किया कि आज रात को हम और आप मिलें और विस्तार से चर्चा करें। परिणाम स्वरूप डॉ० ए० एन० उपाध्ये के साथ उनसे रात्रि को मिला। रात एक बजे तक जमकर उनसे चर्चा चलती रही, किन्तु मैं कुछ भी संशोधन कराने में सफल नहीं रहा। उनका बात करने का ढंग कुछ ऐसा था कि ज्यादा विरोध को अवकाश रहता ही नहीं था। तब विशेषरूप से उनकी तर्कशक्ति और सौम्य स्वभाव का परिचय हुआ।

उसके बाद तीन वर्ष पूर्व जब वे बनारस में थे, तब मैंने दर्शन का लाभ लिया। अपनी आदत के अनुसार मैंने अपना कोई परिचय दिया नहीं, थोड़ी देर बैठ कर चल दिया। बाद में जब उन्हें पता चला कि मैं उनसे मिलने गया था तब उन्होंने अफसोस जाहिर किया कि (वर्णी जी ने) कुछ बात नहीं की। जब मेरे एक मित्र ने मुझे यह बताया, तब मुझे मेरी ही मूर्खता के कारण मेरी भूल मालूम हुई।

केवल ये ही कुछ प्रसङ्ग हैं जिनसे उनकी सरल प्रकृति का परिचय मुझे हुआ है। यद्यपि उनके त्याग और तपस्वी जीवन के विषय में बहुत कुछ सुना है। और वे इंजीनियर थे; फिर भी तपस्वी जीवन को स्वीकार किया है, इसे मैं इस भौतिकवादी जमाने की एक दुर्लभ बात ही मानता हूँ। इस वैज्ञानिक दृष्टि के कारण ही वे जैन साहित्य में विशिष्ट अवदान प्रदान कर सके हैं।

'समणसुत्त' का संकलन करने में उनकी यह दृष्टि रही है कि श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों के ग्रन्थों का यथोचित उपयोग किया जाय और उस तरह से किया जाय कि किसी को विरोध न हो। इतना ही नहीं, किन्तु जैन सम्मत कोई भी विषय छूटना नहीं चाहिए इस बात का भी उन्हें आग्रह रहा। यद्यपि इसके कारण समणसुत्त सरल एवं सुबोध बनने के बजाय दार्शनिक एवं तात्त्विक ग्रन्थ बन गया है और उसमें जटिलता आ गई तथा यत्र तत्र पूर्वापर संगति नहीं बन पायी। फिर भी इतना तो मानना ही पड़ेगा कि दोनों सम्प्रदायों को सम्मत और जैनेतर को उपयोगी ऐसा एक उत्तम ग्रन्थ का निर्माण करने में वे सफल रहे हैं और उसका श्रेय केवल वे ही पा सकते हैं। मैंने उनके 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' का विशेष अध्ययन किया है। इससे पूर्व श्वेताम्बर साहित्य का उपयोग करके पूज्य विजय राजेन्द्र सूरि ने 'अभिधान राजेन्द्र' का निर्माण किया। वह इतना विशाल है कि पाठक उसमें खो जाता है। कभी-कभी तो पूरे ग्रन्थ के ग्रन्थ उसमें अवतरित हैं। वाचक को पूरा अवकाश हो तब ही वह उसका उपयोग कर सकता है। विषयों की खान और जैन विश्वकोष का बृहद् रूप वह है इसमें संदेह नहीं। किन्तु दिगम्बर ग्रन्थों का उपयोग करके पूज्य वर्णी जी का 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' एक संतुलित रूप में निर्मित

है। 'अभिधान राजेन्द्र कोष' में संस्कृत भाषा का प्रयोग है निरूपण के लिए। मूल प्राकृत और संस्कृत का अवतरण विस्तार रूप से है फिर भी उसे प्राकृत-संस्कृत कोष ही कहा जायेगा। जबकि "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' की विशेषता यह है कि मूल-अवतरण संस्कृत-प्राकृत में देकर उसका हिन्दी-अनुवाद दिया गया है। अतएव केवल प्राकृत-संस्कृत जानने वाले ही उस कोष का उपयोग कर सकें ऐसी बात नहीं है। भारत के प्रायः सभी जैन और हिन्दी जानने वाले जिज्ञासु भी उसका उपगोग कर सकते हैं। वास्तविक दृष्टि से भले ही वह केवल दिगम्बर ग्रन्थों से निर्मित हो, किन्तु जैन-विषयों को जानने के लिए वह एक उत्तम विश्वकोष का काम देगा इसमें मुझे सन्देह नहीं है।

वर्णी जी के अन्य भी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, किन्तु मेरे पढ़ने में आये नहीं। अतएव उनके विषय में कहना उपयुक्त नहीं।

ऐसी विभूति को जैन समाज ने वे रहे तब तक पूरी तरह से जाना नहीं, अन्यथा बहुत कुछ विशेष लाभ जैन समाज उनसे उठा सकता था। किन्तु वे तो अपनी कृति के द्वारा अमर हो गये हैं। उन्हें शतशः वन्दन!

●

प्रेम

प्रेम का वाच्यार्थ लौकिक प्रेम नहीं है। यह हृदयगत एक अत्यन्त पवित्र तथा महान् तत्त्व है। स्वार्थजन्य लौकिकप्रेम उसी की एक क्षुद्र स्फुरणा है। शरीर की संकीर्ण परिधि में बद्ध होकर जो स्वार्थ का रूप धारण कर लेता है और जो अपनी परिधि को बढ़ाता हुआ जो पत्नी तक जाकर प्रथम बार प्रेम नाम पाता है, वही तत्त्व सन्तान में व्याप्त हो जाने पर वात्सल्य, मित्रों में जाने पर साख्य, स्वामी में जाने पर दास्य, दुखियों में जाने पर दया, गुणीजनों में जाने पर प्रमोद, दुष्टों में जाने पर माध्यस्थ, समाज में जाने पर सेवा, वृद्ध जनों में जाने पर विनय, प्रभु में अथवा गुरु में जाने पर भक्ति, सर्व प्राणियों में जाने पर मैत्री, जड़-चेतन सभी व्यष्टियों में व्याप्त हो जाने पर समता कहलाता है यह प्रेम जितना व्यापक होता जाता है, उतना ही धर्माचरण भी मँजता है। पराकाष्ठा प्राप्त हो जाने पर वह सकल व्यष्टियों में प्रभु का दर्शन करने लगता है और अपनी क्षुद्रसत्ता को महासत्ता में मिलाकर पूर्ण हो जाता है।

—वर्णी प्रवचन

आध्यात्मिक साहित्य के शिल्पी

श्री राजमल पवैया, भोपाल

●

आध्यात्मिक साहित्य के मूर्धन्य शिल्पी, अनेकों ग्रन्थों के रचनाकार, 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' के निर्माता स्व० श्रीजिनेन्द्र वर्णी अपने आप में ज्ञान के समुद्र थे। बुद्धि, स्मृति, धारणा के धनी थे। लगभग ४० वर्ष से एक फेफड़े पर जीवित वर्णी जी निरंतर स्वाध्याय, चिंतन, मनन, लेखन में ही व्यस्त रहते थे। 'सिद्धान्त कोष' का निर्माण उनकी सर्वोत्तम देन है। आचार्य विनोबा भावे के आग्रह पर 'समणसुत्तं' की रचना अभूत पूर्व कृति है। जिसको दिगंबर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरह पंथी सभी जैन संप्रदायों के संतों ने मान्यता प्रदान की। उनकी लेखनी जन कल्याणार्थ अंतिम दिनों तक अनवरत चलती रही।

मुझे भोपाल में उनके सन् १९८१ के चातुर्मास में उन्हें निकट से देखने-समझने का सौभाग्य मिला। स्वास्थ्य तो साधारण ही रहता था। बीच-बीच में श्वास एवं ज्वर का प्रकोप बढ़ता जाता था, किन्तु ३-४ दिनों को छोड़कर उनका प्रवचन कभी बंद नहीं रहा। ज्वर के १०१-१०२ होने पर भी वे प्रसन्न मुद्रा में ही प्रवचन देते थे। ज्वर कभी-कभी १०५-१०६ तक भीषण हो जाता था, श्वास रोग भी पराकाष्ठा को पहुँच जाता था, किन्तु उनके चेहरे की मुसकान वैसी ही सहज रहती थी। सतत शान्त रहना ही मानों उनका स्वभाव बन गया था। सदैव संयम-नियम में वे दृढ़ रहते थे।

महावीर ट्रस्ट के अधिवेशन के समय १०४ डिग्री ज्वर में भी वे रोकने पर भी आए और अपना उद्घाटन भाषण देकर सबको उद्बोधन दिया। ऐसे कई अवसर आए जब उनकी प्रसन्न मुद्रा रोग अवस्था में भी जन-जन को आकर्षित करती थी। भोपाल मे एक और बड़े महत्त्व का काम उन्होंने यह किया कि 'सिद्धान्त कोष' के चारों भागों की अनुक्रमणिका की अधिकांश पांडुलिपि तैयार की, जो पाँचवें भाग के रूप में छपेगी, इससे जिज्ञासु भाइयों को संदर्भ आदि देखना दु:सह न होकर सरल हो जाएगा। और भी पुस्तकों की पांडुलिपियाँ तैयार कीं।

भोपाल आकाशवाणी से उनकी २ वार्ताएँ प्रसारित हुईं। भोपाल समाज ने 'कोष' के द्वितीय-संस्करण के प्रकाशन का भारतीय ज्ञानपीठ से प्रबल आग्रह किया। यही नहीं ३५ हजार रुपया भी इसलिए एकत्र किया कि कोष के १-१ सेट विदेशों की यूनिवर्सीटियों को इस रकम से भेंट स्वरूप दिये जाएँ। इस योजना से वर्णी जी बहुत प्रभावित हुए। मेरा समाज की संस्थाओं खासकर परिषद, महासभा, संघ, महावीर ट्रस्ट आदि से अनुरोध है कि 'कोष' का १-१ सेट भारत के विश्वविद्यालयों को भेंट किया जाय, ताकि शोध विद्यार्थियों को लाभ मिले और जैन-धर्म का प्रचार हो सके।

हजारों स्त्री-पुरुष प्रातः सायं उनके प्रवचन दत्त चित्त होकर सुनते थे। अपूर्व आध्यात्मिक प्रवचन देने की उनकी प्रवचन कला पर सभी चकित और मुग्ध हो जाते थे।

भोपाल में उनका स्वागत जुलूस और विदाई-समारोह स्मरणीय रहेगा। पूरी समाज ने जब तक उनसे पुनः आने का वचन नहीं ले लिया, तब तक रेलवे प्लेटफ़ार्म पर वर्णी जी की जय के गगनभेदी नारे गूंजते रहे, और उन्होंने मंदमुसकान से आने की स्वीकृति भी दी। लगभग ५ मास बाद उस वचन को पधार कर पूरा भी किया।

प्रश्नों का समाधान जिन सहजता से वे हित-मित शब्दों में करते थे, वह इस बात का प्रतीक था कि उन्हें चारों अनुयोगों पर अच्छा अधिकार था। तत्त्व चर्चा में भाई पं० राजमल जी बी० काम के साथ बड़ा आनन्द आता था। मेरे आध्यात्मिक गीतों को बड़ी रुचि से सुनते थे। मेरी जैन पूजांजलि को देखकर बड़ी प्रसन्नता से उसकी भूमिका उन्होंने लिखी, जिससे मुझे बड़ी प्रेरणा मिली। मेरे ऊपर उनका बड़ा स्नेह था। भोपाल का यह चातुर्मास स्मरणीय चातुर्मास रहा, चार महीने तक पर्यूषण पर्व जैसा आनंद रहा। मैं उनके जैन-साहित्य के लिए समर्पित व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धावनत हूँ। उनकी पवित्र स्मृति में अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

●

भक्त

भगवान् का एक अनन्य भक्त था वह प्रतिदिन प्रभु की पूजा अर्चना करता, रात दिन उन्हीं के ध्यान में लीन रहता था। साधु सन्तों की सेवा सुश्रुषा किया करता था। निश्चय ही वह प्रभु भक्त था।

एक दिन उसके दरवाजे एक व्यक्ति आया जो भूखा था। भक्त ने स्वभावतः उसे रोका व उसके भोजन आदि का प्रबन्ध करने लगा। जैसे ही वह विप्र भोजन की थाली पर बैठा वह भगवान् को बुरा भला कहने लगा। भक्त को यह बात नागवार लगी। पहले तो कुछ देर उसने सुना फिर उसने उसे भगा दिया, कि जो भगवान् को गाली दे, बुरा भला कहे उसे मैं भोजन नहीं करा सकता।

रात को भक्त ध्यान में लगा कि भगवान् प्रकट हुए। ईश्वर को देखकर भक्त बड़ा खुश हुआ और सगर्व बोला कि प्रभु आपको एक विप्र गाली दे रहा था—उसे मैंने भगा दिया, भूखा ही भगा दिया।

भगवान् बोले, "हे भक्त, जिस नासमझ को मैं वर्षों से सहता आ रहा हूँ, यह जानकर कि वह मुझे गाली देता है मैं उसका भरण पोषण करता आ रहा हूँ उसे तुम एक वक्त भी भोजन नहीं करा सके। तुम मेरे भक्त कहलाने लायक कैसे हुए ?"

अहा ! कैसी है प्रभु की क्षमा !

—वर्णी प्रवचन

संत-पंथ-ग्रंथ से मुक्त

श्री राधाकृष्ण बजाज, सर्व सेवा संघ, राजघाट वाराणसी

पूज्य विनोबाजी की भावना थी कि अन्य धर्मों की भाँति जैन धर्म का सार एक पुस्तक में पाठकों तथा जिज्ञासुओं को मिले। उन्होंने स्वयं बाइबिल, कुरान, जपुजी, धम्मपद तथा मनुस्मृति, भागवत धर्म, उपनिषदों पर अपनी सारपूर्ण कृतियाँ भेंट की हैं। समस्या थी जैन-धर्म विषयक रचना की। वास्तव में यह काम कठिन था, क्योंकि जैन धर्मावलम्बियों का कोई एक ग्रन्थ है नहीं, अनेक ग्रन्थ हैं और भिन्न विषयों पर हैं। फिर सांप्रदायिक मान्यताएँ भी ऐसे काम में बाधक थीं। लेकिन विनोबाजी की बात हम लोगों के मन में थी।

संयोग की बात है कि श्री जमनालाल जैन द्वारा मेरा सम्पर्क श्री जिनेन्द्र वर्णीजी से आया और वर्णीजी ने बाबा की भावना को समझकर यह काम करने का संकल्प किया। इसी सिलसिले में श्री वर्णीजी बाबा से जैन-धर्मसार विषयक चर्चा के लिए जनवरी १९७३ में पवनार पहुँचे। दो दिन तक बाबा के साथ चर्चा चली। मैंने अनुभव किया कि इस चर्चा से बाबा को भी सन्तोष एवं समाधान रहा।

वर्णीजी अतीव कर्मठ, लगनशील एवं सरल-हृदय थे। दमे की दमतोड़ बीमारी तथा अत्यन्त कृशकाया के बावजूद वे निरन्तर साहित्य-सेवा तथा चिन्तन में लगे रहते थे। कुछ ही महीनों में उन्होंने 'जैन धर्मसार' नामक ग्रन्थ संकलित कर दिया। यह ग्रन्थ सर्व सेवा संघ प्रकाशन की ओर से छपवाकर प्रमुख मुनिजनों तथा विद्वानों के अभिप्रायार्थ, सुझावार्थ भेजा गया। तरह-तरह के अनुकूल-प्रतिकूल सुझाव आये। इस सिलसिले में मुझे अपनी गम्भीर जिम्मेदारी का भान हुआ। लेकिन इसका एक लाभ यह हुआ कि आचार्य श्री तुलसीजी, उपाध्याय अमर मुनिजी, कानजी स्वामी, एलाचार्य विद्यानन्दजी, मुनि सुशील कुमारजी, मुनि जनक विजयजी, युवाचार्य मुनि नथमलजी जैसे सन्तों-मुनियों का सम्पर्क हुआ और अनेक विद्वानों से भी परिचय हुआ। अपनी-अपनी मान्यताओं के आग्रह के बावजूद सबने इस योजना को आशीर्वाद किया और सबने हार्दिक सहयोग प्रदान किया।

सारे सुझावों को सामने रखकर वर्णीजी ने दुबारा पर्याप्त श्रम करके 'जिणधम्म' नाम से संकलन तैयार किया, जिसमें लगभग ८०० गाथाएँ थीं। फिर दिल्ली में एक संगीति का आयोजन २९-३० नवम्बर, १९७४ को किया गया। इस संगीति में दिगम्बर, श्वेताम्बर, स्थानकवासी, तेरापंथी आदि सभी सम्प्रदायों के प्रमुख आचार्य, साधु तथा विद्वान् उपस्थित हुए। यह संगीति अपने में अतीव महत्त्वपूर्ण तथा ऐतिहासिक थी। दो-दिनों की लम्बी चर्चाओं के बाद इस ग्रन्थ को अन्तिम रूप देने के लिए मुनि श्री नथमलजी, एलाचार्य विद्यानन्दजी, मुनि जनकविजय जी, मुनि सुशीलकुमारजी आदि के साथ कतिपय विद्वान् भी आठ दिन तक बैठे और 'समणसुत्तं' नामक ७५६ गाथाओं का सर्वसम्मत ग्रंथ निष्पन्न हुआ। मुनिगणों की ओर से पूज्य विनोबाजी को पत्र लिखा गया कि आप इसे अन्तिम रूप दें। पू० विनोबाजी ने इस सुन्दर संकलन के लिए अपना आशीर्वाद दिया। संगीति में साहू शान्तिप्रसाद जी, उनकी धर्मपत्नी रमारानी जी ने विशेष रूप से योग दिया।

आज मैं अनुभव करता हूँ कि यह दुरूह कार्य वर्णीजी के ही बस का था। वास्तव में वर्णीजी सर्व-धर्म समन्वय के आराधक थे और वेश, परम्परा, सम्प्रदाय आदि से ऊपर उठकर वे सबका आदर करते थे।

उनका चिन्तन और अध्ययन अतीव व्यापक था। उन्होंने उपनिषदों का सार संग्रह भी तैयार किया था तथा वैदिक पुराण-ग्रन्थों का भी सार-संकलन किया था। ये दोनों कृतियाँ मूल संस्कृत में लगभग १५०० पृष्ठों की हैं। उन्होंने कुछ स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी हैं। सत्य दर्शन उनकी एक ऐसी कृति है, जिसमें वेदान्तमूलक चिंतन व्यक्त हुआ है। उनकी दृष्टि में सारा संसार एक महासागर है जिसमे प्रत्येक जीव एक बूँद के समान है और यह बूँद सागर में लीन होकर सागर ही बन जाती है। इसमें सन्देह नहीं कि जैन धर्म और दर्शन के प्रति उनके मन में गहरी श्रद्धा थी, चारित्र भी तदनुकूल था और अन्त में भी उन्होंने दीक्षा ग्रहण कर, सल्लेखना धारण कर शरीर का त्याग किया था। फिर भी उनके मन में साम्प्रदायिक या धार्मिक कट्टरता नहीं थी। वे रूढ़िवादी नहीं थे।

विनोबाजी ने जब गोरक्षा के लिए सत्याग्रह तथा जीवन-बलिदान करने तक का आह्वान किया तो वर्णीजी ने आत्म-समर्पण करने वालों में अपना नाम दिया था और आग्रह किया था कि उनका नम्बर पहले रहे।

जब उन्होंने अनुभव किया कि इस जर्जर काया से कुछ होने वाला नहीं है, तो उन्होंने देह-विसर्जन का निर्णय ले लिया और सन् १९७६ में ४० दिनों के उपवास किये। चारों ओर से सन्देश तो आते ही थे कि अभी देह-विसर्जन का समय नहीं आया है। विनोबाजी ने भी लिख भेजा कि देह-त्याग का आग्रह न रखें। इस उपवास में उन्हें सत्य का दर्शन हुआ। परमात्मा का स्पर्श हुआ और उन्होंने ४० दिन बाद उपवास का विसर्जन किया। उसके बाद गीता-उपनिषद् आदि पर उनकी श्रद्धा बढ़ गयी। सत्य-दर्शन नामक ग्रंथ इसी का परिणाम है। उनका आहार भी तोला-माशा ही था। एक फेफड़ा भी नहीं था। सीधे तनकर बैठ भी नहीं पाते थे। फिर भी उनके चेहरे पर एक ऐसी आभा दिखाई देती थी, जिसे देखकर कोई भी व्यक्ति अभिभूत हो जाता था।

वे संसार में रहकर भी संसार से ऊपर उठे हुए थे और परम धार्मिक होते हुए भी धर्म के आडम्बर से दूर थे। परम दिगम्बर एवं निर्ग्रन्थ होते हुए भी कम से कम वस्त्रों का उपयोग करते थे।

मैं अपने आपको सौभाग्यशाली समझता हूँ कि ऐसे एक महान् सन्त से मेरा सम्पर्क एवं आत्मीयता हुई जो देह में रहते हुए भी विदेह थे, मुक्त थे।

●

समणसुत्तं की रचना—सभी आम्नायों के प्रमुख आचार्य तथा मुनिगणों के बीच वर्णी जी

बायें से—श्री जिनेन्द्र वर्णी जी, आचार्य श्री धर्मसागरजी, मुनि श्री विद्यानन्दजी, मुनि श्री सुशील कुमारजी, मुनि श्री नथमलजी, आचार्य श्री तुलसीजी, आचार्य श्री विजय समुद्र सूरिजी।

जैन-धर्म के प्रमुख पंडित, विद्वान् तथा श्रावकगण

बायें से पहली पंक्ति—पं० भुजबली शास्त्री, श्री मानव मुनि। दूसरी पंक्ति—डॉ० ए० एन० पं० उपाध्ये, श्री यशपाल जैन, श्री शांतिलाल सेठ, श्री राधाकृष्ण बजाज, पं० कैलाशचन्द्रजी शास्त्री, पं० खुशालचन्द्र गोरावाला, श्री कृष्णराज मेहता। तीसरी पंक्ति—पं० सुमेरचन्दजी दिवाकर शास्त्री, पं० दरबारीलाल कोठिया, श्री अगरचन्दजी नाहटा तथा अन्य विद्वान् एवं श्रावकगण।

समण सुत्तं की महत्ता

श्री हीरालाल पांडे, भोपाल
प्राचार्य, शास्त्री, बी० एड०, एम० ए० साहित्याचार्य

प्राकृत "समण सुत्तं" का संस्कृत अनुवाद "श्रमणसूत्रम्" है। 'श्रमण' विश्व-समता, रागद्वेष में समता तथा इष्ट-अनिष्ट विश्व-पदार्थों में समता का द्योतक है।

श्रमण-संस्कृति संतों की उच्च संस्कृति है। 'श्रमण' उच्च त्याग और तपस्या के प्रतीक हैं। अहिंसा के उत्कृष्ट आदर्श हैं। वे जीवंत अहिंसा हैं। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह पंच पापों के पूर्ण त्यागी 'श्रमण' विश्व के गौरव हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने "सूत्र प्राभृत" में सूत्र शब्द का अर्थ बताया है—

सूत्तत्थं जिणभणियं, जीवाजीवादिबहुविहं अत्थं।
हेया हेयं च तहा जो जाणइ सो हु सद्दिट्ठी॥

"जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष सात तत्त्व और पुण्य एवं पाप को जोड़ नव पदार्थों के सर्वज्ञ जिनेन्द्र प्ररूपित सत्य-ज्ञान को सूत्र कहते हैं। इस—ज्ञान में जो पर-पुद्गलादि द्रव्यों को हेय तथा आत्मा के अंतरात्मा और परमात्मा रूप को उपादेय जानता है, वह सच्चे श्रद्धान वाला भव्य सम्यग्दृष्टि जीव है।"

जैन-समाज-व्यवस्था श्रमणों के सूत्र पर आधारित है। सूत्र का अर्थ डोरा भी है। सुई में डोरा हो तो सुई गुमती नहीं है। जिनेन्द्र के सूत्र वाला श्रमण भी तत्त्वज्ञान का, रत्नत्रय का और आत्म स्वरूप का पारखी बन मार्ग भ्रष्ट नहीं होता है या संसार-समुद्र में डूबता या गुमता नहीं है। वह तो डोरेवाली पतंग की तरह ध्यान के आकाश में उड़ता हुआ मुक्ति पा जाता है।

'श्रमणसूत्र' संपूर्ण श्रमण-संस्कृति या दर्शन का संक्षिप्त संकलन है। यह श्रमण-मार्ग की उत्कृष्टता का प्रतिपादक है। "समणसुत्तं" को श्रमणों का संकलन ग्रंथ कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। श्रमण परम्परा में आचार्य विनोबा भावे के मार्गदर्शन में प्राप्त एवं श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा संकलित यह ग्रन्थ बीसवीं सदी का क्रांतिकारी कदम है। विनोबाजी भी श्रमणसंस्कृति की सदस्यता से परे नहीं माने जा सकते। श्रमणों की सत्ता वीतरागविज्ञान में है और विनोबा जी रागद्वेष से परे मार्ग के पथिक हैं।

तीर्थंकर की वाणी दिव्यध्वनि सर्वभाषामयी "ओम्" रूप है जिसे विश्व के अनेक भाषाभाषी अपनी-अपनी भाषाओं में समझते हैं और मन के प्रश्नों के उत्तर पाते हैं। 'ओम्" श्रमणदर्शन का मूल है क्योंकि साधु-श्रमण ही अपने कार्यों से—पाँचों पद पाता है या पंच परमेष्ठी कहलाता है। परम आत्मज्ञान और ध्यान में तल्लीन श्रमण परमेष्ठी है। "समणसुत्तं" का प्रारम्भ "ओम्" में निष्ठ पाँच परमेष्ठियों से होता है। इनके लक्षणों में या स्वरूपों में श्रमण दर्शन निहित है। अतः अनादिनिधन मूलमंत्र या महामंत्र "णमोकार महामंत्र" के नाम से प्रसिद्ध है। "ओम्" एकाक्षर ब्रह्म है और ओम्, तत् और सत् भी है या सत्य, शिव, सुन्दर है।

आचार्य पुष्पदंत तथा भूतबली प्रणीत 'षट्खण्डागम" के समान "श्रमणसूत्रम्" का प्रारंभ सप्तभयों से मुक्ति दिलाने वाले महामंत्र 'णमोकार मंत्र" से होता है। इस मङ्गल सूत्र में विश्व का मङ्गल निहित है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र रत्नत्रय के अन्तर्गत या प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत निबद्ध श्रमणदर्शन को

ज्योतिर्मुख, मोक्षमार्ग, तत्त्वदर्शन तथा स्याद्वाद इन चार खण्डों में बाँटा गया है। प्रत्येक खण्ड निर्विवाद है और श्रमणदर्शन की उत्कृष्टता का परिचायक है। सम्प्रदायों के बन्धन से परे निर्विवाद सिद्धान्तों का दर्पण है। निग्गंठ्ठनाथपुत्त भ० महावीर के मार्ग में या सिद्धान्तों के प्रतिपादन में नग्नता, पूर्ण अपरिग्रहता या परहंस होने का कहीं विरोध नहीं है।

समाज व्यवस्था में गृहीमार्ग तथा श्रमणमार्ग की व्यवस्था जुदा-जुदा होती है। "समणसुत्तं" में कहीं विवादी स्वर नहीं हैं। श्रमण दर्शन के सिद्धान्तों की एकता के आधार पर सामाजिक एकता, सहिष्णुता तथा विश्व-बंधुत्व को जगाने वाला यह समन्वय ग्रन्थ सच्चा, स्याद्वाद का—अनेकान्त का पथिक है। दर्शन प्रेमियों का भुक्ताहार है। तीर्थंकर विश्व-वात्सल्य के लिए जीवन सर्मपित करते हैं। "भगवद्गीता" भक्तियोग, ज्ञानयोग और कर्मयोग के अन्तर्गत भारतीय दर्शनों को समन्वय मार्ग पर ले जाने वाला ग्रन्थ है। "समणसुत्तं" संग्राहक दर्शन ग्रन्थ है। अतः सर्वमान्य "जैन गीता" बन गया है। आत्मा को परमात्मा बनाने वाला श्रमणदर्शन सप्त भंगों से कर्म-मल या क्रोध, मान, माया और लोभ चार कषायों पर विजय पाने वाला ७५६ गाथाओं में समाहित है। यह 'जैन गीता" चिंतन की चरम सार्वजनीन गीता है। प्रत्येक गाथा चिंतन की गाथा है और रत्नों के पारखियों की गाथा है। "गीता" कोई भी हो, हम तो यही अंतरात्मा से कहेंगे—"गीता सुगीता कर्तव्या"—अर्थात् गीता को जीवन में, कोरा कंठस्थ नहीं किया जावे, किन्तु उतारा जावे तो निश्चित लौकिक शान्ति और पारलौकिक शान्ति के साथ-साथ मानव-समाज सच्ची शान्ति या विश्वशांति का पथिक बन सकता है। इसी दर्शन में स्व-पर-कल्याण या विश्व कल्याण निहित है। "श्रमणसूत्रम्" ऐसी डोरी है जो संसार के एक छोर में व्यवहारनय की गाँठ बाँध तथा अंतिम छोर में निश्चयनय की गाँठ बाँध मानव समाज को मोक्षमहल तक पहुँचाने में सहायक होती है। "समणसुत्तं" प्रत्येक घर तथा प्रत्येक पुस्तकालय में संग्रहणीय एवं पठनीय है।

●

हमेशा आसन नीचा ढूँढो, तभी आत्मा ऊँची उठेगी।

संकल्प-विकल्प स्वतंत्र तत्त्व नहीं हैं, चिदाभासी जगत चेतन शरीर का दीखता है जैसे चन्द्रमा का स्वतंत्र प्रकाश नहीं, बल्कि प्रकाशाभास है।

बेटा! प्रेम स्वयं प्रभु है।

—वर्णी वचनामृत

जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश की रचना प्रक्रिया

डॉ० नेमीचन्द जैन की श्री जिनेन्द्र वर्णी से वार्ता

•

डॉ० नेमीचन्द जैन : पूज्य वर्णीजी, पहला प्रश्न यह कि कोश के सम्बन्ध में प्रेरणा आपको कैसे, किससे मिली ?

जिनेन्द्र वर्णी : प्रेरणा का प्रश्न नहीं है। पिताजी की प्रकृति मुझे प्राप्त हुई। उनकी प्रकृति थी कि वे जो पढ़ते थे, उसके नोट्स लेते थे। मैं भी जो पढ़ता था, उसके नोट्स लेता था।

ने० : उत्तराधिकार में नोट्स लेने की प्रकृति मिली, यही न।

जि० : मैं जो भी पढ़ता हूँ, उसके नोट्स अवश्य लेता हूँ।

ने० : नोट्स यानी टीपें तैयार करते हैं ?

जि० : हाँ, सन् १९४९ से जो पढ़ा, उसके नोट्स लिये। नोट्स बढ़ते गये। ज्यों-ज्यों विकास होता गया, अधिक अच्छे नोट्स लेता गया। पाँच वर्षों में १००-१२५ ग्रन्थों का अध्ययन-मन्थन मैंने किया। इनके नोट्स का संग्रह इतना बड़ा हो गया कि चार मोटे-मोटे रजिस्टर भर गये।

ने० : अर्थात् सन् १९४९ से ५४ तक आप नोट्स तैयार करते रहे। इन्हें तैयार करने की प्रक्रिया क्या थी ?

जि० : पहले कुछ पता नहीं था। मैं सामान्य नोट्स ले लिया करता था; किन्तु जब मेरा स्वाध्याय पूरा हुआ, तब तक चार रजिस्टर भर चुके थे। अब मैं पत्रों में लेख देने लगा। मुझे संदर्भ (रेफरेन्स) की जरूरत पड़ती। धारणा थी कि रजिस्टरों में से छाँट लूँगा; किन्तु जब छाँटने बैठता, तो बहुत समय लग जाता, कहीं कुछ लिख रखा था, तो कहीं कुछ।

ने० : यह है कोश की जन्म-कथा।

जि० : मुझे लगा कि ऐसी कोई व्यवस्था अवश्य होनी चाहिये कि आवश्यकतानुसार संदर्भ तुरन्त मिल जाए। जी में आया कि अब इन्हें दूसरे ढंग से तैयार करना चाहिये। शास्त्रों को पढ़ना मैंने बचपन से ही शुरू कर दिया था। पढ़ते-पढ़ते बौद्धिक विकास होता ही है। विगत पाँच सालों के स्वाध्याय से मैं सन्तुष्ट नहीं था, क्योंकि अब तक वह सतही रहा। उसमें और अधिक गहरे उतरना था—आत्मकल्याण के लिए; और तो कोई प्रयोजन था नहीं।

ने० : किया आपने यह सब आत्मकल्याण के लिए, किन्तु हुआ इसमें से लोककल्याण।

जि० : केवल आत्मकल्याण के लिए। कोश की बुद्धि नहीं थी। कल्पना भी नहीं थी कि कोई कोश बनेगा। मैंने 'स्लिप सिस्टम' (कोश में शब्द-प्रविष्टियों के लिए कार्ड्स बनाये जाते हैं) काम में लिया। लेजर पेपर में से कागज काटे। उन पर विषयानुसार नोट्स लिखता गया। अलग-अलग विषयों के शीर्षक लिखे; जैसे—ज्ञान का ज्ञान में, दर्शन का दर्शन में। जो-जो विषय आये, उन्हें शीर्षकशः लिखता गया। इतनी बुद्धि विकसित हो गयी थी। मूल विषयों को ध्यान में रखकर उनके अन्तर्गत विषयों को लिखता रहा। एक एक विषय/शब्द के अन्तर्गत पच्चीस-पच्चीस तीस-तीस, परचे इकट्ठा हो गये। इस तरह कुछ होता चला गया। पहले, पाँच वर्षों में मेरा स्वाध्याय पूरा हुआ था (सन् १९५८ तक); इस बार चार वर्षों में पूरा हो गया। इस अवधि में डेढ़ रीम लेजर पेपर की स्लिपें (परचे) बन गयीं।

ने० : मैं यही जानना चाहता था कि आपने कोश-रचना के दायित्व को सहज रूप में, प्रकृति से या उत्तराधिकार से अपनाया या वह आकस्मिक था। क्या आपने कोश-रचना-प्रक्रिया का अध्ययन किया था ?

जि० : वस्तुतः मैं कोश-रचना जानता ही नहीं था। वर्गीकरण मुझे सीखना पड़ा। मुझे हिन्दी या अंग्रेजी डिक्शनरी (कोश) देखने का अभ्यास भी नहीं था। सहज ही सब होता चला गया। मेरा स्वाध्याय पूरा हो गया था। अब मुझ में कोश की बुद्धि (परिकल्पना) उपजी (अंकुरित हुई) कि यह जो परचों का इतना सारा ढेर है, इसे वर्णानुक्रम (अकारादि-क्रम) से जमाऊँ। तब मैंने इन्हें व्यवस्थित रूप से लिपिबद्ध किया। ऐसा करने पर कोश के आठ खण्ड हो गये।

ने० : 'जैनेन्द्र प्रमाण-कोश' के नाम से ?

जि० : हाँ, उसमें इसका चित्र छपा है।

ने० : 'शान्ति-पथ दर्शन' में भी आपने चार्ट (सारणी) दे दिया है। 'भूमिका' में भी आपने यही लिखा है।

जि० : ये आठ खण्ड अब भी मेरे पास हैं। बहुत सुन्दर जिल्दें बनायी थी मैंने अपने हाथ से। कोश के पहले दो खण्डों का नाम था—**'जैनेन्द्र शब्द-कोश'** और शेष छह खण्डों का **'जैनेन्द्र प्रमाण-कोश'**। जब मैं पहली बार इन्दौर गया था, तब इन्हें अपने साथ ले गया था। 'जैनेन्द्र शब्द-कोश' में केवल शब्द और उनके अर्थ थे; विषय का विस्तार 'जैनेन्द्र प्रमाण-कोश' में था।

ने० : मानूँ कि 'जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश' 'ब्रह्मास्मि' की माला-गणना है। क्या आप मेरे इस कथन पर हस्ताक्षर कर सकेंगे ?

जि० : कुछ अनुचित नहीं होगा। 'ब्रह्मास्मि' से प्रारम्भ हुआ था। पं० रूपचन्दजी गार्गीय मेरी मनःस्थिति देखते हुए, जो शास्त्र मैंने शुरू किये थे, उन्हें बराबर प्रेम से देखते थे, मैं नोट्स लेता रहता था। धीरे-धीरे इस 'स्टेज' तक आ पहुँचा। कोश चार बार लिखा गया है।

ने० : पहली बार; कौन-सा वर्ष था वह ?

जि० : सन् १९१४; चार रजिस्टरों में तैयार हुआ वह।

ने० : दूसरी बार ?

जि० : १९५८; परचों (स्लिपों) के रूप में। तीसरी बार परचों का संग्रह करके आठ खण्डों वाला कोश तैयार किया, इस कोश को पं० गार्गीयजी ने लक्ष्मीचन्द्रजी जैन (भारतीय ज्ञानपीठ) को बताया। मैं तो जानता नही था। कमरे मे बन्द अकेला अपना काम करता था। मेरा किसी से परिचय भी नहीं था। मुझे भी कोई नहीं जानता था।

ने० : अब आप 'अनेकान्त' में हैं, पहले 'एकान्त' में थे।

जि० : मैं 'एकान्त' में ही रहता आया हूँ।

ने० : तो 'अनेकान्त' कब जागेगा ?

जि० : 'अनेकान्त' लेखनी-द्वारा सध जाता है; प्रवचन आदि में भी।

ने० : अब मैं सुनता हूँ कि पाँचवीं बार भी कुछ चल रहा है।

जि० : 'जैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश' का संस्करण समाप्त हो गया, तो लक्ष्मीचन्द्रजी ने लिखा कि इसे पुनः प्रकाशित होना है। मैंने कहा कि जब कोश का पुनः प्रकाशन ही कर रहे हैं, तब उसमें जो अशुद्धियाँ/भूलें रह गई हैं, उन्हें भी दूर कर लीजिये। उत्तर आया कि हम तो कोश का 'फोटो-

प्रिंट' निकाल देंगे। यदि संशोधन के चक्कर में पड़ेंगे, तो पुनः कंपोजिंग कराना पड़ेगा। मैंने कहा : अशुद्धियाँ तो बहुत ज्यादा हैं, मुद्रण में भी भूलें रह गयी हैं। मैं मूल में भी कुछ संशोधन करना चाहता हूँ; कुछ जोड़ना चाहता हूँ। इस पर उत्तर आया : अच्छा, आप वैसा कर लें।

ने० : कोश का जो आगामी संस्करण आयेगा, क्या वह परिवर्धित होगा ?

जि० : परिवर्धित तो नहीं, संशोधित होगा।

ने० : क्या कुछ जोड़ रहे हैं उसमें ?

जि० : जोड़ा जायेगा। जो ऐतिहासिक विषय थे—आचार्यों के, शास्त्रों के उन पर तब इतना अनुसंधान-कार्य (रिसर्च) नहीं हो पाया था। मेरे पास 'प्रस्तावना' के सिवाय कोई आधार नहीं था। आजकल इन विषयों पर व्यापक खोजें (रिसर्च) हुई हैं; अतः तदनुसार 'परिवर्तन' आवश्यक है। पहले विद्वानों ने प्रस्तावना में ऐतिहासिक दृष्टि से जो पाद-टिप्पणियाँ लिखीं, उन पर आज विस्तार से मिलता है। विद्वानों ने जो 'रिसर्च' की है, उनसे अनेक आचार्यों का काल-परिवर्तन भी हुआ है।

ने० : डिलीशन (निकालना) कुछ नहीं होगा; एडीशन (जोड़ना) ही हो सकता है; यही न।

जि० : 'एडीशन' थोड़ा-बहुत हो सकता है। अब मुझमें इतनी शक्ति नहीं है कि नये शब्द जोड़ूँ।

ने० : सुना है, आपने एक खण्ड का संशोधन भी संपन्न कर लिया है ?

जि० : एक पूरे खण्ड का। दूसरे का चल रहा है। लक्ष्मीचन्द्रजी को लिखा है कि पहले खण्ड का संशोधन पूरा हो चुका है आप जब चाहें तब भेज दूँ। पहले आप अपनी अनुकूलता देख लीजिये।

ने. : गुलाबचन्द्रजी (भारतीय ज्ञानपीठ) ने मुझे लिखा है कि हम एक वर्ष की अवधि में दो खण्डों का प्रकाशन कर सकेंगे। दूसरे वर्ष में शेष दो लेंगे।

जि० : यह काफी है।

ने० : उन्होंने मुझे सूचना दी है कि कोश का पाँचवाँ खण्ड भी आ रहा है; यह क्या है ?

जि० : 'पाँचवें खण्ड' का अर्थ विषय-परिवर्तन नहीं है। विद्वान् इसमें से विषय छाँट सकते हैं : इसमें 'वर्ड इन्डैक्स' (शब्द अनुक्रमणी) रहेगा। सारे खण्ड में जो शब्द आये हैं, वे कहाँ-कहाँ आये हैं, उनकी पृष्ठ-सख्या इनमें रहेगी।

ने० : इससे कदाचित् शब्द ढूँढ़ने में सुविधा होगी ?

जि० : हाँ।

ने० : यह सुविधा आप जोड़ रहे हैं; नया शायद कुछ नहीं होगा ?

जि० : हाँ।

ने० : ऐसा भी तो कर सकते हैं कि प्रत्येक खण्ड के साथ उसका वर्ड-इन्डैक्स (शब्द-अनुक्रमणी) दें।

जि० : वह काम नहीं देगा; क्योंकि वह तो सारे कोश का 'इन्डैक्स' होगा। जैसे 'सम्यग्दर्शन' चौथे खण्ड में है और उनका सम्बन्ध 'चारित्र' के साथ है, तो वह दूसरे खण्ड में है।

ने० : अब चूँकि सारा कोश पुनः अपने संशोधित रूप में तैयार हो गया है, तो इससे लगता है, आपने 'कोश-रचना-पद्धति' पर विचार किया है।

जि० : कोश-रचना-पद्धति मेरे लिए धीरे-धीरे विकसित हुई। पहले मैंने परचे बनाये, फिर जब चौथी बार लिखा, तब शब्दों के प्रमाण को समानान्तर मिलाया, तब दूसरी पद्धति बनी। अभी तक प्रमाण-कोश मे अवान्तर शब्द नहीं आये थे, फिर अवान्तर शब्दों को छाँट कर उनका समावेश किया। इस तरह धीरे-धीरे विकसित होकर कोश-रचना-पद्धति पर पकड़ आपोआप बन गयी। जब कोश की चौथी पाण्डुलिपि तैयार की, तब सूचियाँ तैयार करनी पड़ीं।

ने० : क्या आपने अन्य किन्हीं सम्भावनाओं पर भी विचार किया है? जब आप पाँचवाँ खण्ड सम्पादित कर रहे हैं, तब क्या यह सोच सके हैं कि सम्पूर्ण कोश का कोई लघुसंस्करण भी आ सकता है?

जि० : पाँचवें खण्ड का?

ने० : चारों खण्डों का एक 'लघुखण्ड'।

जि० : यह विचार जब मैं नसीराबाद में था, तब आया था। मैंने वहाँ 'लघुजैनेन्द्र सिद्धान्त-कोश' के नाम से एक पुस्तक भी लिखी थी। कोश के 'प्रथम खण्ड' का संक्षिप्तीकरण किया था। इसमें शब्दों की व्याख्याएँ न देकर केवल संदर्भ दे दिये थे। स्रोत का उल्लेख-भर कर दिया था। शास्त्रों को खोल कर नहीं देखना पड़े, इसलिए उनका पृष्ठ-संख्या-सहित उल्लेख कर दिया था। इस तरह मैंने 'लघु जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' लिखा था। जब नसीराबाद में लक्ष्मीचन्द्रजी मिले थे, तब मैंने उन्हें इसकी पाण्डुलिपि बतायी थी। यह मैंने अपने लिए तैयार किया है। मैं सारे खण्डों को उठा कर नहीं ले जा सकूँगा; उन्हें रखूँगा अवश्य; लेकिन आवश्यकता होने पर ही उन्हें खोलूँगा। अपना काम इस लघुकोश से चला लूँगा। तब उन्होंने कहा था कि समाज के लिए यह विशेष उपयोगी नहीं होगा। बाद में उत्साह खत्म हो गया।

ने० : अभी मैंने अंग्रेजी में एक छोटा-सा कोश देखा है। उसमें क्या है कि व्याख्या के लिए शब्द-संख्या सीमित कर दी है; अर्थात् ३००० सामान्य शब्द चुन लिए हैं और उन्हीं के द्वारा विशिष्ट शब्दों को (प्रविष्ट शब्दों को) समझाया गया है, ताकि पारिभाषिक गूढ़ता समाप्त हो। क्या ऐसी कोई योजना आपके दिमाग में है? कोई ऐसा करना चाहे, तो क्या-क्या सावधानियाँ बरतनी होंगी?

जि० : सावधानियाँ तो बहुत-सी बरतनी चाहिये। शब्दों के प्रयोग करेंगे, उनमें पक्षपात आने की आशंका है, वह नहीं आना चाहिये। आप देखते हैं, जगत् में खींच-तान बहुत है, इसलिए इसमें शब्दों के अपने आशय दे दें, ताकि पाठकों को स्पष्टता रहे।

ने० : 'अभिधान राजेन्द्र कोश' के बारे में आपके क्या विचार हैं?

जि० : यह कोश भी एक बहुत बड़ी उपलब्धि है। उसमें व्यक्तिगत मेहनत बहुत हुई है, उसमें जो शब्द आये हैं, उनकी आचार्य व्याख्या लिखते चले गये, बीच-बीच में उद्धरण (कोटेशन) दे दिये हैं, इसलिये वह एक बड़ा जंगल-सा बन गया है।

ने० : यह आपके कोश का पुरखा तो है ही।

जि० : इसमें कोई सन्देह नहीं।

ने० : बहुत-से कोश पूर्ववर्ती हैं। उन कोशों को आपने देखा तो होगा ही?

जि० : बिलकुल नहीं देखा।

ने० : उसके बाद देखा होगा?

जि० : उसके बाद 'अभिधान राजेन्द्र' जरूर देखा, लेकिन पढ़ा उसमें से कुछ भी नहीं। ईसरी आश्रम में मैंने सोचा कि इसके दर्शन तो कर लूं। देखा-भर था; तब ऐसा लगा कि आचार्य ने बहुत मेहनत की है। 'अर्द्धमागधी कोश' भी देखा जरूर है। उसमें शब्द हैं, उनके अर्थ हैं। कुल मिलाकर वह भी बहुत उपयोगी है।

ने० : वह प्राकृत में ही है।

जि० : आचार्यों की अपनी भाषा है। प्राकृत में लिखा है। उद्धरण (कोटेशन) हैं, लेकिन व्याख्या आचार्य की स्वयं की है। यह बहुत बड़ा पुरुषार्थ है।

ने० : यह तो रचना-प्रक्रिया पर थोड़ा विचार हो गया; अब बतायें कि कोश की लोकोपयोगिता क्या है ?

जि० : समाज में ज्ञान की बहुत कमी है। समझिये, सभी समाजों में है। लौकिक ज्ञान तो है, लेकिन धार्मिक ज्ञान नहीं है, अतः हमें भक्तिभाव से ही लाभ उठाना पड़ेगा। संभव हो, तो यह प्रचार करना चाहिये कि यह कोश जिनवाणी का प्रतिनिधि है।

ने० : 'प्रतिनिधि' की बात लोगों से कैसे कहेंगे ?

जि० : समस्त दिगम्बर जैन आगम/वाङ्मय है, वह सब इसमें सम्मिलित है। आगम में कुछ बचा नहीं है, जो इसमें न हो। हो सकता है, छोटी-छोटी पुस्तकें इसमें न हों; लेकिन मूलाचार्यों या प्राचीन आचार्यों के जितने ग्रन्थ हैं, वे सब इसमें आ गये हैं। इस प्रकार यह सम्पूर्ण दिगम्बर जैन वाङ्मय का प्रतिनिधि है, ऐसा कहने में कोई आपत्ति नहीं है।

ने० : जैन-मात्र इसका उपयोग करे, तो कोई आपत्ति है ?

जि० : जैन ही क्यों, जैनेतर भी कर सकते हैं। इसमें श्वेताम्बर आगम का कोई शास्त्र नहीं है, केवल दिगम्बर आगम का है। जो स्कॉलर्स हैं, अनुसंधानकर्ता हैं, वे आज भी इसका उपयोग कर रहे हैं।

ने० : क्या कभी किसी श्वेताम्बर ने इसके प्रति असंतोष व्यक्त किया ?

जि० : मेरे पास तो कोई समीक्षा नहीं आयी। असंतोष का प्रश्न ही नहीं है।

ने० : आपने अच्छा बताया यह कोश जब प्रकाशित हो गया, तो प्रतिक्रियाएँ कैसी आयीं— दिगम्बरों की ओर से, श्वेताम्बरों की ओर से ?

जि० : मेरे पास समीक्षा न दिगम्बरों से आयी, न श्वेताम्बरों से। बाद-बाद को कुछ आयीं। वे, जहाँ तक मैंने सुना है, सब इसके अनुकूल ही हैं।

ने० : चाहते थे आप कि कोई प्रतिकूल प्रतिक्रिया आये ?

जि० : चाहता तो नहीं था, लेकिन कोई बताता और मुझे पता चल जाता कि यहाँ या वहाँ ग़लती है, तो उसे संशोधन के समय ठीक कर लेता।

ने० : लेकिन कोश-रचना कोई सर्जनात्मक लेखन (क्रिएटिव्ह राइटिंग) तो है नहीं, यह तो संकलन-कार्य (कम्पाइलेशन) है; लेकिन ऐसा करते-करते कभी लगा आपको कि यदि आप सर्जनात्मक कुछ लिखते तो अच्छा होता ?

जि० : यह सब जो मैंने किया है, वह आत्मकल्याण के लिए, या अन्तःप्रेरणा से। बाहर के लिए कुछ किया ही नहीं। जो कुछ हुआ है, उसमें से कुछ सर्जनात्मक भी है। 'नय-दर्पण' और 'कर्म-सिद्धान्त' हैं, ये मौलिक हैं। ये भी दूसरे के लिए हैं, ऐसा नहीं है। जो सहज प्रवचन थे,

उनका संग्रह है 'शान्ति-पथ-दर्शन'। जो प्रवचन इन्दौर में हुए, उनका संग्रह है 'नय-दर्पण'। पहले जब यहाँ आया था, उस समय के प्रवचनों से 'कर्म-रहस्य' नामक पुस्तक बन गयी।

ने० : ऐसा लगता है कि सम्यक्त्व की सरिता ही बाहर उमग रही है।

जि० : समझ सकते हैं ऐसा।

ने० : अब तो किताबें निकल रही हैं वहाँ से। पहले किताबें गयी होंगी वहाँ। अब तो नदी समुद्र बनने जा रही है।

जि० : ठीक है। (हँसी)

ने० : इतना सारा काम, वर्णीजी, आप अकेले तो नहीं कर सकते थे। आपके सहयोगी कोई थे क्या?

जि० : सहयोगी से आपका तात्पर्य? काम मैं अकेला ही करता था।

ने० : कुमारी कौशल का नाम इसमें जुड़ता है, वह क्या है?

जि० : कुमारी कौशल मेरी शिष्या रही है। वे सन् १९५५ में मैट्रिक पास करके अपनी माता के साथ मेरे पास पढ़ने के लिए पानीपत आती थीं। जब मैं पानीपत आता था, तब वे पढ़ने आया करती थीं। उनकी रुचि बढ़ती चली गयी। मैं बाद में ईसरी चला गया। ईसरी से वापस आया। १९६१ में फिर वहीं गया था। १९६१-६२ में वहीं रहा। कुछ दिन वे ईसरी आकर रहीं, फिर पानीपत चली गयीं। उस समय मैं आठ खण्डों वाला जो कोश है उसे संशोधित कर रहा था। बाद को मैं नसीराबाद चला गया। पं० रूपचन्दजी गार्गीय की प्रेरणा थी कि इसे प्रकाश्य बनाऊँ। मैंने लक्ष्मीचन्द्रजी से कहा कि यह सब मैंने प्रकाशन के लिए नहीं, बल्कि अपने लिए लिखा है। इसका प्रकाशन हो नहीं सकता।

ने० : जो 'प्रकाश' के लिए लिखा हो उसे 'प्रकाश-न' में कैसे डाला जा सकता है?

जि० : यदि प्रकाशित ही करना है तो मुझे इसे आद्योपान्त दो बार लिखना पड़ेगा। यह इतना बड़ा कार्य है कि मुझे घबराहट छूटती है इसे अकेले करने में, किन्तु पं० रूपचन्दजी की प्रेरणा फिर-फिर आती रही, अतः अन्ततः मैंने प्रकाशन का संकल्प कर लिया। संकल्प करके भारतीय ज्ञानपीठ को पत्र लिखा कि यदि मुझे कोई लिपिक दिला दें, तो यह काम हो सकता है। उत्तर आया : लिपिक रख लीजिये; जो पैसा लगेगा, हम देंगे, लेकिन प्रबन्ध कुछ हुआ नहीं; क्योंकि मुझको लिपिक ऐसा चाहिये था जो मेरे साथ लगातार बैठक कर सके। मैं चौदह घण्टे बैठूं, तो वह भी चौदह घण्टे बैठे।....

ने० : यानी आप एक और जिनेन्द्र वर्णी चाहते थे।

जि० : ....मैं दो बजे जागूं, तो वह भी दो बजे जागे। मैं दस बजे सोऊँ, तो वह भी दस बजे सोये। ऐसा लिपिक मुझे चाहिये था। ऐसा लिपिक तो कोई मिल नहीं सका; क्योंकि मुझे पास बिठा कर काम करवाना था; कुछ स्लिपें बना कर दे देता और कहता कि तू उसे 'फेअर' कर दे (सुपाठ्य लिपि में लिख दे)। यह 'डायरेक्ट' काम था; तो फिर मैंने सोचा कि अब मैं ही इसे करूँगा। (इस उत्साह में निमग्न) मैं सीधा स्लिपें बना रहा था कि कुमारी कौशल दर्शन के लिए वहाँ आयीं और मुझे काम करते देख स्वयं भक्ति-प्रेरित बोलीं : 'आप अकेले यह काम कर रहे हैं, मैं भी इसमें सहयोगी हो सकती हूँ।' मैंने कहा : 'तू तो अभी बच्चा है, तुझे अभी तक ज्ञान ही नहीं है कि कोश है क्या चीज? फिर तुझे यहाँ रहना भी पड़ेगा; तू अकेली रहेगी कैसे? मेरे पास

ती कोई संग-वंग भी नहीं है, मैं तो अकेली जान हूँ। तो तू वापस चली जा।' लेकिन उसने फिर आग्रह किया कि मैं सहायता करूँगी। इतने आग्रह के फलस्वरूप मैंने यह समझ कर कि ऐसा करने से इसकी भी बुद्धि विकसित होगी; गुरु के नाते से भी कि इसका भी ज्ञान कुछ विकसित हो जाएगा; उसके ठहरने की व्यवस्था करा दी। एक वर्ष मुझे जो पाण्डुलिपि तैयार करने में लगा, उसे लिखने में उसने मेरी सहायता की पाण्डुलिपिकार की हैसियत में, वस्तुतः लिपिक के स्थान की पूर्ति उसने (कु० कौशल ने) की। कोश के द्वितीय खण्ड में मैंने उसका उल्लेख* किया है कि उसने पाण्डुलिपि बनाने में बहुत सहायता की है। जैसा मैं चाहता था वैसी ही, क्योंकि उसके पास गुरु-भक्ति थी। वेतन का तो वहाँ कोई प्रश्न ही नहीं था। मैं दस बजे सोता था, तो वह भी तब तक बराबर बैठी रहती थी। इसका आशय यह कि मैं बराबर स्लिपें उसको देता और कहता कि यह लो स्लिप और यह ग्रन्थ निकालो, और यह लिखो; अर्थात् डायरेक्ट बताना पड़ता था। पास बैठ कर लिखाना होता था। मैं १० बजे तक जागता, तो वह भी १० बजे तक जागती; मैं सबेरे २ बजे जागता तो वह कहती, मुझे भी जगा लिया करो। (इस पर) मैं कहता, बेटा, मैं तो जगाने का नहीं। तुम बच्चा हो, जब चाहो तब जागो; किन्तु उसमें रुचि इतनी थी कि वह स्वयं ही २ बजे जाग कर काम करने लगती थी।

ने० : यह बताइये कि भारतीय ज्ञानपीठ से आपका पहला संपर्क कब आया ?

जि० : पं० रूपचन्दजी गार्गीय, जो मेरे परम उपकारी थे, उन्होंने आठ खण्डों वाला कोश ले जाकर लक्ष्मीचन्द्रजी को दिखाया; दिखाया कि प्रकाशित हो जाए।

ने० : अयोध्याप्रसादजी गोयलीय 'पिक्चर' में नहीं आये ?

जि० : नहीं।

ने० : रमाजी से सम्पर्क था ?

जि० : रमाजी पृष्ठभूमि (बेक ग्राउण्ड) में थीं; लक्ष्मीचन्द्रजी सामने थे। रूपचन्दजी तो मेरे उपकारी थे ही। उनकी प्रेरणा से मैं कोश तैयार कर रहा था।

ने० : रमाजी कभी प्रत्यक्ष संपर्क में नहीं आयीं क्या ?

जि० : मैं रमाजी से नहीं मिला। साहू शान्तिप्रसादजी से कई बार भेंट हुई। दिल्ली में विद्यानन्दजी के साथ एक महीने रहा, तब मैंने उन्हें चार खण्डों वाले कोश की पाण्डुलिपि दिखायी थी। मैंने कहा था कि यह वह पाण्डुलिपि है, जो आपकी संस्था की ओर से प्रकाशित होने जा रही है। मैं बच्चा हूँ, प्रसिद्ध तो हूँ नहीं। बच्चे द्वारा लिखित चीज का क्या महत्त्व हो सकता है ? लेकिन मैं जिनवाणी का ही बच्चा हूँ, केवल मेरी तुष्टि के लिए ही इसे प्रकाशन हेतु दिया है।

ने० : आपने यह कोश जैन धर्म/दर्शन पर ही शुद्धतः तैयार किया है; क्या दर्शनों के तुलनात्मक कोश बनाने की जिम्मेदारी आप ले सकते हैं ?

जि० : पहले ले सकता था; अब नहीं।

ने० : यदि कोई बनाना चाहे, तो वह क्या करे ?

---

*इस संदर्भ में पानीपत-निवासिनी कु० कौशल का नाम विशेष उल्लेखनीय है, जिसने इस ग्रन्थ की पाण्डुलिपि तैयार करने में सहायता ही नहीं दी, बल्कि गुरु-भक्तिवश अपनी सुध-बुध भूल कर इस कार्य की तत्परता के रूप में कठिन तपस्या की। प्रभु-प्रदत्त इस अनुग्रह को प्राप्त करके मैं अपने को धन्य समझता हूँ। —जै० सि० को०, द्वि० खं०, प्रास्ताविक, जिनेन्द्र वर्णी।

जि० : मैं उसको निर्देशन (डायरेक्शन) दे सकता हूँ। जितने दर्शन हैं; षट्दर्शन, जैन, बौद्ध—इन सबकी शब्दावली छाँट ली जाए। फिर इन्हें एक कोश के रूप में निबद्ध कर लिया जाए। भूमिका में इसका क्रम दे दिया जाए। कौन किसका पूरक है, इसकी रूपरेखा दे दी जाए। इसे होना चाहिये तुलनात्मक। डॉ० गोपीनाथजी ने यह योजना रखी थी। कुछ काम भी इस दिशा में उन्होंने किया था। मैंने भी एक "वैदिक कोश' बनाने का संकल्प किया था। पिताजी ने जो काम किया था, उसे आगे बढ़ाया था। सोचा, चारों वेदों से धर्म-सम्बन्धी शब्दों को ले कर उनकी व्याख्या के रूप में कोश तैयार किया जाए। पहले मैंने समस्त वैदिक वाङ्मय का संग्रह किया, और फिर इसका तथा अपनी लायब्रेरी में पहले से उपलब्ध ग्रन्थों का उपयोग किया।

ने० : यह कोश तो बड़ा है; लेकिन मैं देख रहा हूँ कि ऐसे कोश भी तैयार होते हैं, जो व्यक्ति या ग्रन्थ पर होते हैं, जिन्हें 'व्यक्ति-कोश' या 'ग्रन्थ-कोश' हम कह सकते हैं; जैसे—जयशंकर प्रसाद पर 'प्रसाद साहित्य-कोश' या 'प्रसाद काव्य-कोश।' इस संभावना पर विचार कीजिये—'समयसार-कोश', 'कुन्दकुन्द-कोश'; क्या ऐसे कोश तैयार किये जा सकते हैं ? आप कोशकार हैं; थोड़ा मार्गदर्शन दीजिये।

जि० : अच्छा विचार है। 'समयसार-कोश' न रख कर 'कुन्दकुन्द-कोश' रखिये; उसमें कुन्दकुन्द के समस्त वाङ्मय का समावेश कीजिए। उनके साहित्य में प्रयुक्त सभी शब्द उसमें रखिये। शीर्षक-उपशीर्षक में विभाजित करके विविध विषय प्रतिपादित कर दीजिये।

ने० : आपने तो सारे आगम का मन्थन किया है। इसलिए आप बताइये कि ऐसे कौन-कौन से आचार्य हैं, जिन्हें लेकर 'व्यक्ति-कोश' बनाये जा सकते हैं ?

जि० : कुन्दकुन्दाचार्य, उमास्वाति आदि।

ने० : यदि प्रक्रिया निर्धारित की जा सके; तो ऐसे 'व्यक्ति-कोश' बनाये जा सकते हैं।

जि० : व्यापक दृष्टिकोण रख कर एक बृहद् जैन कोश तैयार किया जाना चाहिये—जैन विश्वकोश' (एनसाइक्लोपीडिया), जिसमें दिगम्बर-श्वेताम्बर आगमों का परिमन्थन हो और जो सबके लिए उपयोगी हो।

ने० : 'अभिधान राजेन्द्र कोश' को 'जैन विश्वकोश' का नाम तो दिया गया है। अभी जैन विश्व भारती, लाडनूँ की ओर से 'जैन विश्वकोश' बनाया जा रहा है। डॉ० नथमल टाँटिया जिसका संपादन कर रहे हैं।

जि० : यह अच्छी चीज होगी।

ने० : भारत सरकार की मदद से कर रहे हैं।

जि० : वह तो कई वर्षों से बन रहा है।

ने० : क्या आपसे भी कुछ परामर्श लिया गया था ?

जि० : उनका एक पत्र आया था—लेश्या-प्रकरण पर।

ने० : जैन क्रिया-कोश, लेश्या-कोश, वर्धमान-कोश प्रकाशित (जैन दर्शन समिति, कलकत्ता) हुए हैं; क्या इन्हें आपने देखा है ?

जि० : सब तो मैंने नहीं देखे। 'लेश्या-कोश' मेरे पास आया था। उसमें लेश्या के विषय में श्वेताम्बर आगम में जो भी है, उसका समावेश है; लेकिन शीर्षक-उपशीर्षकों में वह विभाजित नहीं है।

ने० : कोश से सम्बन्धित आपके अनुभव पूर्ण विचार हमारे लिए मार्गदर्शक तो हैं ही; सहजता और सरलता भी इनके मूल में है। आपका यह अवदान सदैव उल्लेखनीय और स्मरणीय रहेगा।

—तीर्थंकर : जुलाई ८३ से साभार

योग से अयोग की ओर

श्री जमनालाल जैन, सारनाथ

●

जिनेन्द्र वर्णीजी का नाम तो सुना था, लेकिन मैंने उनके दर्शन सर्वप्रथम तब किये, जब 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के प्रकाशन के बाद काशी के जैन समाज की ओर से मैदागिन स्थित जैन मन्दिर में उनका अभिनन्दन किया गया। देखकर मैं चकित रह गया कि इस लघु-सी कृशकाया में कितनी महान् कर्मठ विभूति विराजमान है। वास्तव में यदि सापेक्ष दृष्टि से 'जैनेंद्र सिद्धान्त कोश को और वर्णीजी के लघुतम आत्मालय को तौला जाय तो उनकी काया का वजन न्यूनतम ही साबित होगा। लेखन, सम्पादन, मुद्रण और प्रकाशन के क्षेत्र से जिसका गहरा और निरन्तर का सम्बन्ध रहा है, वह सरलता से समझ सकता है कि इतने विशालकाय सूक्ष्म टाइपों में मुद्रित कोश का काम कितना श्रम-साध्य और दुस्तर कर्म है। मैंने तब विनयांजलि प्रकट करते हुए कहा था कि यह ऐसा कार्य अकेले वर्णीजी ने सत्रह वर्षों में सम्पन्न किया है जिसे २० विद्वान् मिलकर भी २० वर्षों में पूरा नहीं कर सकते थे। जिसने अपने को माँ जिनवाणी का शिशु (कविवर बनारसी दासजी के शब्दों में जिनेंद्र का लघु नन्दन) मान लिया, उसमें प्रमाद और स्वार्थ हो ही कैसे सकता है? मैंने तब तुलसीदास जी का यह दोहा भी कहा—

> संत समागत अरु हरिकथा, 'तुलसी' दुर्लभ दोय।
> सुत, दारा औ लछमी तो पापी के भी होय॥

मेरे यह कहने का तात्पर्य यह था कि अब तक मैं ऐसे कर्मठ, त्यागी-सन्त के सान्निध्य से, उनकी संगति से वंचित रहा। बड़ी दुर्लभ बात है! हरएक के भाग्य में सत्संगति नहीं आती। बाहरी ऐश्वर्य, वैभव—लक्ष्मी, पत्नी और पुत्र तो पापियों के भी होते हैं, इसका क्या महत्त्व! उनकी छवि आँखों में छायी तो रही, लेकिन फिर मैं अपने कामकाज में इतना उलझा रहा कि चाहकर भी उनके निकट नहीं पहुँच पाता था।

एक दिन अचानक देखता हूँ कि वे हमारे परिसर में, सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन के कार्यालय में (राजघाट, वाराणसी) ऊपर आ गये हैं। मैं उन्हें वहाँ आकस्मिक रूप में उपस्थित देखकर अचरज में पड़ गया। ऐसा क्यों हुआ? इनके साथ और कोई क्यों नहीं है? ये क्या देखने आये हैं? इतना तो मैं जानता था कि इन्होंने जैन परम्परा की स्वीकृत आचार-संहिता का त्याग कर दिया है—दीक्षा और पद के भार से, पिच्छि-कमण्डलु से मुक्त हो गये हैं 'लेकिन आचार उनका यथावत् था। इस कारण मेरे मन में इनके प्रति विशेष आकर्षण भी था। स्वतन्त्र चेता व्यक्ति नियमाधीन नहीं रह सकता। सहज भाव से, ज्ञानपूर्वक सत्य का पालन करना एक बात है और सत्य पालन का व्रत लेकर सत्य व्यवहार करना बिलकुल दूसरी बात है। ऐसे ही एक दूसरे महापुरुष का सान्निध्य मुझे मिला है और वे थे महात्मा भगवानदीन! उन्होंने भी सातवीं प्रतिमा का पारम्परिक अर्थ में, वैधानिक रूप में त्याग कर दिया था। त्याग 'सहज' ही श्रेष्ठ होता है, त्यागी कहलाकर तदनुरूप क्रिया-काण्ड के पालन का भार ढोने में तो मुझे कतई त्याग के दर्शन नहीं होते। लेकिन ऐसा वे ही लोग करते हैं जो तथाकथित धर्म के अभिमानी होते हैं, किंतु समझदारी से कोई प्रयोजन नहीं रखते।

सो, उनके आने पर मैं अचरज में भी पड़ गया और प्रसन्न भी हुआ, उनको बैठाया। विनोबाजी के साहित्य का परिचय दिया। कुछ पुस्तकें दिखायीं। अचानक मुझे सूझा कि अपनी बात इनसे कह सकते हैं। बात यह थी कि पूज्य विनोबा लम्बे अरसे से कहते आ रहे थे कि जैनधर्म का संक्षेप में सर्वांग परिचय देनेवाली कोई कृति होनी चाहिए जो गेय भी हो, छोटी हो और वह सर्वमान्य भी हो। विनोबाजी ने धम्मपद, कुरान, बाइबिल, जपुजी, मनुस्मृति, भागवतधर्म, उपनिषद्, ताओ आदि पर काफी काम किया है, लेकिन जैन-वाङ्मय की स्थिति इन सबसे सर्वथा भिन्न रही। अनेक संप्रदाय, अनेक विषय, सैकड़ों कृतियाँ। कोई एक रचना ऐसी नहीं रही जो सर्वमान्य तथा प्रचलित हो। मैं पंडित-वर्ग की कठिनाइयों से परिचित था। प्रश्न आर्थिक उतना नहीं था, जितना समभाव पूर्ण दृष्टि का था। मैं मधु-मक्खी के छत्ते को छेड़ना नही चाहता था।

लेकिन वर्णीजी के आगमन को मैंने एक अवसर मान लिया। मेरा मन कह रहा था कि यह काम वर्णीजी श्रद्धापूर्वक विनम्र भाव से कर सकते हैं। उनके सामने मैंने अपनी भूमिका रखी। उन्होंने विनोबाजी का साहित्य देखा, कुछ रचनाएँ उनके लिए दीं। शायद वे भी मन से चाहते थे कि विनोबाजी के संपर्क में आये। जिनवाणी की सेवा और बाबा का सान्निध्य सोने में सुगन्ध थी।

जनवरी १९७३ में वर्णीजी को वर्धा ले जाने का कार्यक्रम बना। श्री राधाकृष्ण जी बजाज भी वर्णीजी से काफी प्रभावित हुए। ऋषि विनोबा की अभिलाषा पूरी करने के लिए वे भी कटिबद्ध थे। पवनार आश्रम में बाबा के निकट दो दिन तक बैठक हुई। पुस्तक के प्रारूप पर, विषयों के निर्धारण पर अच्छी चर्चा हुई। वर्णीजी अपने अंगीकृत कार्य में प्राण-पण से जुट गये।

लगभग दस महीनों में एक संकलन 'जैनधर्म सार' नाम से तैयार हुआ। उसकी मैंने ६-७ प्रतियाँ टाइप करायीं और अधिकारी विद्वानों को भेजीं। ऐलाचार्य मुनि श्री विद्यानंदजी महाराज के पास भी मेरठ पहुँचा और उन्हें एक टाइप-प्रति अभिप्रायार्थ दी। यह मुनि महाराज का मेरा प्रथम दर्शन था। पाँच-सात मिनटों में ही उन्होंने 'प्रति' देखकर प्रसन्नता व्यक्त की। मैं समझ गया कि अब यह काम पूरा होने वाला है।

परिस्थितियाँ कुछ ऐसी बनीं कि मैंने सन् १९७४ के प्रारम्भ में सर्व-सेवा-संघ प्रकाशन से मुक्ति ले ली। अब सर्व-सेवा-संघ में कौन था जो इस काम को जिम्मेवारी पूर्वक पूरा करता। काम इतना ही तो नहीं था कि वर्णीजी पुस्तक संकलित कर दें और वह प्रकाशित हो जाय। पचासों बाधाएँ, प्रतिकूलताएँ सामने आने वाली थीं। लेकिन यह काम तो पूरा होना ही था। मैं पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान में कार्यरत हो गया और वर्णीजी का डेरा था भदैनी में। श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों आम्नायों का प्रचुर वाङ्मय पार्श्वनाथ विद्याश्रम के पुस्तकालय में था। वर्णीजी को आवश्यकतानुसार साहित्य वहाँ से उपलब्ध कराता रहा। राधाकृष्णजी बजाज की भावना थी कि मैं इस काम को सम्पन्न कराने में अन्त तक पूरा सहयोग दूँ। मुझे आन्तरिक प्रसन्नता है कि एक छोटी-सी, क्षण भर की बात ने कितना बड़ा काम कर दिया! इसी को कहते हैं बीज से वृक्ष बनना! कौन कह सकता है कि बीज में, छोटे से बीज में विशालकाय वृक्ष समाया रहता है। उसे तोड़ कर देख लीजिए, कहीं वृक्ष नहीं मिलेगा। अनेक सुझाव आये, नया संकलन भी बना, पर वर्णीजी अपने काम में लगे रहे। फिर संगीति हुई। उसमें 'जिणधम्म' नाम से आठ सौ गाथाओं का एक संकलन प्रस्तुत हुआ। सभी सम्प्रदायों के प्रमुख मुनिजन, विद्वान् एकत्र बैठे। सद्भावना-

पूर्ण वातावरण में चर्चा हुई। लगा कि हम अब, उसी समवसरण में पहुँच गये हैं जब भगवान् महावीर (समस्त प्राणियों को धर्म-देशना देते थे। सचमुच यह संगीति अपने में इस युग की महान् ऐतिहासिक घटना थी। अन्त में कुछ त्यागीजन तथा विद्वान् लोग आठ दिन तक बैठे और ७५६ गाथाओं का 'समणसुत्त' ग्रन्थ सर्वमान्य रूप में सामने आया। विनोबा जी को भी समाधान हुआ।

मुझे तो स्वयं अपने ऊपर ही आश्चर्य होता है जो आदमी जैनधर्म-सिद्धान्त का क, ख, ग तक नहीं जानता, जिसे कभी अध्यात्म की गंध तक नहीं छू सकी, जो अपनी रोजी-रोटी में ही लगा रहा, जिसने कभी विद्यालय-विश्व विद्यालय में पैर नहीं रखा, उसके एक अनुरोध ने कितना महान् कार्य कर डाला। आचार्य विद्यासागर जी महाराज ने भी इसी लेखक के विनम्र अनुरोध को स्वीकार करके 'समणसुत्तं' का हिन्दी पद्यानुवाद 'जैनगीता' के नाम से कर दिया। आचार्य रजनीश जैसे अद्भुत, क्रांतिकारी और गहरे विचारक ने 'समणसुत्तं' की कुछ गाथाओं पर ६२ प्रवचन किये, जो 'जिनसूत्र' नाम से चार जिल्दों में प्रकाशित हुए। आचार्यश्री रजनीश का जैन धर्म तथा महावीर विषयक चिन्तन इतना मूलगामी, मौलिक, गहन और सरल है कि यदि हम जैनधर्म और महावीर की दृष्टि को समझना चाहते हैं तो जिनसूत्र अवश्य पढ़ना चाहिए।

जब भी मैं वर्णीजी से मिलने जाता था, वे कुछ न कुछ लिखते रहते थे। उनके पास एक छोटी-सी पेटी (कैशबॉक्स जैसी) थी जिसमें तरह-तरह की पेंसिलें, पेन्स, सूई धागा, कैंची, चाकू, गोंद आदि सभी चीजें करीने से, यथास्थान रखी रहती थीं। लिखने-पढ़ने से संबन्धित हर आवश्यक चीज उनके पास रहती थी। वे अपनी हस्तलिखित प्रति की जिल्द भी बढ़िया बना लेते थे। वे अपने लेखन में संशोधन, शब्द-परिवर्तन भी प्रायः करते रहते थे। मैंने देखा कि वे छोटी छोटी चिप्पियाँ भी बड़ी खूबी से चिपकाते थे। अक्षर भी उनके अत्यन्त स्पष्ट होते थे। मतलब यह कि शब्द साधना के प्रति उनकी दृष्टि कलात्मक थी। कोश के नये संस्करण के लिए जब उन्होंने संशोधन का बीहड़ काम हाथ में लिया, तब उनके पेन-कलम का कमाल देखने जैसा था। शब्दों की, अर्थों की, शीर्षकों की छोटी-छोटी महीन कागजों की हजारों परचियाँ सम्भाल कर रखते थे। यह काम इतना नीरस तथा ऊबा देनेवाला होता है कि आदमी थक जाता है, तंग आ जाता है। लेकिन जो शब्द-ब्रह्म का उपासक होता है, उसे उसमें ब्रह्मानन्द आता ही है। असल में जो कार्य स्वान्तः सुखाय, अपने कल्याण के लिए किया जाता है, उसमें विषाद या थकान का अनुभव होता ही नहीं। गांधीजी ने भी जेल में जब गीता पदार्थ-कोश तैयार किया तो उन्हें बाल्यकाल में गोलियाँ खेलने जैसा आनन्द आने लगा था।

'समणसुत्तं' के काम में भी लगभग दो वर्ष का समय लगा था। इस अवधि में उन्होंने जो श्रम किया, वह केवल उनके निकट बैठकर अनुभव ही किया जा सकता था। अन्य लोगों के बस का यह काम नहीं था। यह बात मैं इसलिए कह रहा हूँ कि अनम्र या अहंकारी लोग तो जरा-सी टीका-टिप्पणी सुनकर ही भाग खड़े हो जाते। शब्द-पांडित्य एक बात है, शब्द-उपासना दूसरी ही चीज है। वर्णीजी जैसा विनम्र, समर्पित व्यक्ति ही, बिना देह-शक्ति के भी आत्म-विश्वास के साथ शब्दों के महावन में सहज विचरण कर सकता है।

वर्णीजी को निसर्ग अच्छा लगता था, गंगा का पावन-प्रवाह उन्हें आह्लादित करता था। घंटों वे खुले में बैठकर गंगा-दर्शन करते रहते थे। कंठ उनका इतना महीन या बारीक था कि

अनेक बार तो उनके शब्द बीच में ही हवा में बिखर जाते थे। देह पर एक छोटी-सी चादर लपेटे रहते थे। खाँसी या दमे का प्रकोप बढ़ जाता तो लेटे रहते थे। लेकिन चेहरे पर सहज मुस्कान बराबर बनी रहती थी। पता नहीं इस सहज प्रेम का पाठ उन्होंने कहाँ कैसे सीखा था। वास्तव में वे देही होकर भी देहातीत थे।

अशान्त वे नहीं थे, पर समाधान नहीं मिल रहा था। खोज उनकी निरंतर चलती रही। लगता था कि वे कुछ तलाश रहे हैं, टटोल रहे हैं। जाँच-परख उनका स्वभाव था। वे इलेक्ट्रिकल इंजीनियर थे। बिजली के उपकरणों का व्यवसाय भी वे कर चुके थे। विद्युत्-शक्ति का प्रभाव उनके कार्य-कलापों पर भी पड़ा, दिमाग तो प्रभावित था ही। विद्युत्-गति से वे खोज रहे थे। संतों के पास गये, आश्रम में भी रहे, लेखन-चिन्तन भी किया, ध्यानावस्थित भी हुए। जैन-वाङ्मय ही नहीं, सम्पूर्ण वैदिक वाङ्मय भी छानकर पी गये, उपनिषद्-पुराण सबका रस-पान किया। अतीतकालीन अनेक चरित्रों को पढ़ा। लेकिन लगता है कि न वे किसी में समा सके, न उनमें कोई समा सका। वे होना चाहते थे समर्पित, वे चाहते थे आदेश, पर तर्क-शक्ति बाधक बनकर खड़ी हो जाती थी। जिन्होंने अपने शरीर तक को साधक न मानकर बाधक, पराया और कृतघ्न मान लिया, उनका हाथ बँटाने और कौन आता। वे चिर-एकाकी रहे, एकान्त में ही उन्हें शांति मिलती थी।

शरीर को वे भोजन देते तो थे, पर उतना ही जितने से वह कार्य-क्षम रहे। आत्म-शैथिल्य की कीमत पर शरीर का पोषण उन्हें स्वीकार नहीं था। अध्यात्म की प्यास उनकी इतनी तीव्र थी कि बाह्य उन्हें कुछ रुचता ही नहीं था। देह तो मात्र सोपान था जिसके सहारे वे ऊपर उठना चाहते थे, आत्म-प्रकाश प्राप्त करना चाहते थे।

क्या वे द्वन्द्व से, सृष्टि के द्वैत से परे निर्द्वन्द्व और अद्वैत की भूमिका में प्रवेश कर रहे थे? या द्वन्द्व का समन्वय चाहते थे। पढ़ा उन्होंने चाहे जितना हो, तर्क की कसौटी पर चाहे जिसे कसा हो, पर लगता यह है कि जिनवाणी का सार तत्त्व उनके रोम-रोम में व्याप्त था। प्रबुद्ध पिता की ज्ञान-विरासत उनके रक्त के कण-कण में समाहित थी। महावीर की क्रांतिकारी, मौलिक प्रस्थापनाओं को उन्होंने अपने में समा लिया था। कहा जा सकता है कि वे 'योग' से 'अयोग' में जा रहे थे।

वैदिक दृष्टि में योग का बड़ा महत्त्व है। ज्ञान, भक्ति, कर्म, प्रेम, ध्यान, वाक्, जप आदि अनेक शब्द हैं जिनके साथ योग जोड़ देने पर उनका महत्त्व सर्वोपरि हो जाता है। इसी विचार-सरणी से प्रभावित होकर जैन मुनि और व्रती को भी हम योगी, महायोगी कह देते हैं। प्रवाह में बहकर हम महावीर को महायोगी कह जाते हैं। कहना अच्छा लगता है, पर यह दृष्टि महावीर की नहीं थी। महावीर ने तो सिद्ध उसे कहा जो 'अयोगी' है। योग को तो महावीर ने तोड़ ही दिया, उसका अवमूल्यन ही नहीं किया, उसे मूल्य-रहित ही कर डाला। जब अरहंत-सिद्ध अयोगी होते हैं तब महावीर महायोगी कैसे हो सकते हैं?

योग का अर्थ है जोड़। योग हमें पदार्थों से, परिस्थितियों से, रिश्तों से जोड़ता है। जोड़ ही तो बंधन है। कष्ट का, पीड़ा का कारण योग है। महावीर ने कहा था कि मन, वचन, काय की प्रवृत्ति ही योग है। इनसे मुक्त हुए बिना अयोगी (सिद्ध) कैसे बना जा सकता है? वर्णी जी

संभवतः महावीर की इस स्थापना के मूल तक पहुँच गये थे। इसीलिए उन्हें किसी भी प्रकार के योग में रुचि नहीं थी, सहयोग में भी नहीं।

और अन्त में सल्लेखना धारण कर, समाधिमरण करके उन्होंने यही तो साधा कि भोग से विलग होते-होते देह से भी अलग हो गये। योग हमें देह से टूटने कब देता है ?

तो फिर वे देह से इतना कठोर श्रम क्यों लेते थे ? क्या देह उनका दास था कि भोजन देते हैं तो काम करना ही होगा। नहीं, वे देह को दास नहीं समझते थे। वे उससे काम लेकर आत्म-प्रकाश पाना चाहते थे। दास थक-हार जाये तो स्वामी को ही पुरुषार्थ करना पड़ता है। देह सक्षम हो तो आत्मा सुप्त रहती है। आत्म-जागृति के लिए देह का सुप्त रहना, अक्षम होना, टूटना, गिरना आवश्यक है।

यथार्थ बात यह है कि उनका चिन्तन व्यापक स्तर पर वैज्ञानिक था, उनका चारित्र निष्कलुष, निर्बन्ध, विवेकपूर्ण, विनय सम्पन्न और स्व-स्वीकृत था। अन्त में उन्होंने पिच्छि तो इसलिए अंगीकार कि अब सब झाड़-पोंछकर बूंद को सागर में विलीन होना है, ज्योति को ज्योति में मिलना है।

इसी अर्थ में वे अयोगी पथ के पथिक थे। कौन कह सकता है कि अभी वे पथ पर हैं या गन्तव्य पर पहुँच गये हैं।

मेरा सौभाग्य कि उनके निर्मल चरणों को स्पर्श करने का अवसर मिला।

●

सच्चे मोक्षमार्गी

श्री उदयसिंह जैन बी० ए०, वाराणसी

श्रद्धेय गुरुदेव श्री जिनेन्द्र वर्णीजी में मोक्ष-मार्ग के सभी लक्षणों का साक्षात् दर्शन होता था, जैसे—सहनशीलता, समय-समय पर शास्त्र का अभ्यास, प्रभु-स्मरण द्वारा मन की शान्ति, अल्पाहार में सुख, धन से विरक्ति, सदा समाधि में अनुराग, एकान्त में निवास, सज्जनों का संग, आत्मचिंतन में प्रेम और काम पर विजय। निश्चय ही उन्होंने इहलोक व परलोक सार्थक किया।

उनके चरणों में मेरा शत शत नमन !

गणितज्ञ वर्णी

श्री अनुपम जैन
अध्यक्ष, गणित विभाग, शासकीय महाविद्यालय, ब्यावरा (राजगढ़)

●

सम्भवत: १९८२ का वसन्त ! भ० पार्श्वनाथ की पावन-जन्मभूमि काशी के तटों को स्पर्श करती हुई बहने वाली गंगा के अस्सी घाट के समीप स्थित भ० सुपार्श्वनाथ के मन्दिर के प्राङ्गण में निरन्तर प्रगटित, विलीन होता पक्षियों का मधुर कलरव एवं अस्ताचल की ओर जाता रक्तिम सूर्य, जहाँ वातावरण को वैराग्यमय बना रहा था वहीं शब्द-साधना, आगम-मंथन एवं त्याग हेतु पूर्णतः समर्पित, कृश-काय किन्तु प्रबल इच्छाशक्ति के धनी पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी की अर्चचित, एकाकी एवं मौन-उपस्थिति भौतिकवादी मानवों के मस्तिष्क को झकझोर रही थी। क्या शारीरिक अक्षमता महान् कार्यों के सम्पादन में बाधक है ? क्या गहन अध्ययन हेतु आधुनिक सुख-सुविधायें जरूरी हैं ? क्या विस्तृत ग्रंथों के सृजन एवं अध्ययन हेतु सहयोगी-समूह जरूरी है क्या ? किसी महान् कार्य के सम्पादन के बाद आत्म प्रशंसा कराने के भाव सभी मे जगते है ? इन सबका उत्तर वर्णी जी का निस्पृह एवं शान्त व्यक्तित्व है।

वर्ण को स्वयं में आत्मसात् कर शारीरिक स्वास्थ्य प्रतिकूलता की चुनौती को सहजरूप में स्वीकार करते हुए 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' एवं अन्य प्रकाशित-अप्रकाशित ग्रन्थों का सृजन किया। श्री वर्णी जी की उपस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर मैं उनके दर्शन हेतु जब पहुँचा तो सामायिक (सायंकालीन) मात्र आधा घण्टा शेष था। यद्यपि मन एवं मस्तिष्क तो उनके दर्शन मात्र से, श्रद्धाभक्ति से आप्लावित हो गया था, तथापि शाब्दिक रूप से विनयादि करने के उपरान्त हम लोगों ने चर्चा प्रारम्भ की।

प्राचीन जैन ग्रन्थों में निहित गणितीय तत्त्वों के सन्दर्भ में चर्चा प्रारम्भ होने पर आपने बताया कि 'वस्तुतः गणित, जैन-दर्शन विशेषतः कर्म-सिद्धान्त से अभिन्न रूप से जुड़ा है। हम गणित के अभाव में इसकी कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। किन्तु प्रतीकों के रूप मे व्यक्त इस गणित को बहुत कम लोग ही समझ पाते हैं। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के भाग-२ में गणित-शीर्षक के अन्तर्गत काफी सामग्री संकलित है। बहुत सी सहनानियों को भी संकलित किया है। जैन-ग्रन्थों में लौकिक एवं अलौकिक दोनों प्रकार का गणित विपुल परिमाण मे ही युवा लोगों को, जिन्हें आधुनिक गणित का ज्ञान हो, प्राचीन ग्रंथों का अध्ययन कर दोनों का तुलनात्मक-अध्ययन करना चाहिये। वे अधिक समीचीन रूप से विषय को प्रकट कर सकेंगे।'

यह बताये जाने पर कि जैन ग्रंथों में निहित अनेकों सिद्धान्त कई शताब्दियों तक पाश्चात्य गणितज्ञों को अज्ञात रहे एवं कई शताब्दियों के बाद पुनः आविष्कृत किये गये, यथा Theory of Combination & Permutation (भंग एवं विकल्प गणित), Lograthims लघुरिक्थ गणित, अर्द्धच्छेद वर्ग शलाका आदि लघुत्तम समापवर्त्य (निरुद्ध), Eclipse (आयतवृत्त) आदि अनेक जटिल ज्यामितीय आकृतियों के क्षेत्रफल, विश्लेषण पद्धतियाँ, प्रतीक योजना, Theory of Sequence (धाराओं का सिद्धान्त) आदि, आपने खुशी व्यक्त की। तथा इस सन्दर्भ में विस्तृत आलेख तैयार करने की आवश्यकता पर बल दिया।

चर्चा के मध्य श्वांस फूलने पर आपने लेटकर चर्चा की, किन्तु मेरे द्वारा मौन हो जाने पर भी अपनी बात जारी रखी। धन्य हैं ऐसे महान् तपस्वी एवं जिनवाणी के सच्चे सेवक ! कोश का व्यापक प्रचार एवं प्रसार करना तथा उसके हर संस्करण को विद्वानों की टीम द्वारा Up to date रखना ही उनके प्रति सच्ची विनयाञ्जलि होगी। ●

स्वयंभू श्रुतधर

प्रो० खुशालचन्द्र गोरावाला, वाराणसी

जैन परम्परा के युगपुरुषों में अन्यतम बाबू जय भगवान जी के धर्मनिष्ठ परिवार में संवत् १९७८ में एक बालक का जन्म हुआ। ग्रहदशा देखकर ज्योतिषी को स्पष्ट हो गया कि यह बालक बुद्धिमान्, शान्त किन्तु दृढ़ संकल्पी होगा। फलतः उसने नामकरण इन गुणों के अनुकूल ही करना चाहा, किन्तु जैनत्व के प्रबल पक्षधर पितरों ने 'जिनेन्द्र' नाम को ही देशकालोचित माना। शैशव से ही कर्त्तव्य परायण बालक की लौकिक शिक्षा निर्बाध रूप से चली और विज्ञान का अध्ययन करने के बाद स्वतन्त्र-उद्योग में जिनेन्द्रकुमार लग गये। २८ वर्ष की वय तक 'जीविका' को लक्ष्य करके बढ़ते युवक को यह ख्याल ही न था कि उसकी यह पर्याय 'जीव-उद्धार' के लिए ही है। पिता के जैन वाङ्मय के गम्भीर ज्ञान और माता की सहज एवं दृढ़ जैसी चर्या की कोई छाप युवक पर नहीं उभरी थी, जबकि षोडशी बनकर आयी क्षय-व्याधि ने किशोरीचाह को कीलित कर दिया था। और भावी पीढ़ी में क्षय के कीटाणु को न देने के संकल्प ने बालब्रह्मचारी रहने की अडिग प्रेरणा कर दी थी।

बिन उपदेश स्वयं वैराग्य

संवत् २००६ का भाद्र (दशलक्षण पर्व) जिनेन्द्र जी के जीवन में समकित-सावन बनकर आया। घर बैठे युवक को पहिली बार यह भान हुआ कि इन दिनों माता-पिता का पूरा समय मन्दिर में ही जाता है। जिज्ञासा इतनी अक्षम्य थी कि वह मूसलाधार से लथपथ होने पर भी मन्दिर जाकर ही रुका। और पिता जी का शास्त्र-प्रवचन सुनने में अपने भींगे कपड़ों को उतारने की भी सुधि न रही। तथा स्वाध्याय का नियम लेते ही शास्त्र-समुद्र में ऐसा आलोडन किया कि संस्कृत-प्राकृत भाषाएँ भी उसे रोक न सकीं। संवत् २०११ आते-आते जिनेन्द्र जी का प्रथम आगम-पारायण ही पूर्णता पर न था, अपितु उसके संक्षेप (नोट्स) भी लिपिबद्ध थे। ये चारों रजिस्टर ही आगे चलकर 'जिनेन्द्र सिद्धान्त कोश' रूपी गंगा के मूल-स्रोत बने। क्योंकि इन्हें व्यवस्थित करने के लिए उन्होंने प्रथमानुयोग आदि के क्रम से दुबारा आगमों का स्वाध्याय किया। और वे कलकत्ता जैसी महानगरी के भीषण-कोलाहल में अपने उद्योग की गद्दी पर बैठे-बैठे भी ७ ८ घंटे स्वाध्यायलीन रहते थे। यह क्रम संवत् २०१६ मे पूरा हुआ। और गुरुजनों ने इनके स्वाध्याय के लिखित रूप की ८ जिल्दों में से प्रथम दो का 'जैनेन्द्र शब्दकोश' तथा शेष का 'जैनेन्द्र-प्रमाणकोश' नामकरण भी कर दिया। तथा प्रकाशन के लिए प्रयत्न भी आरम्भ कर दिया। किन्तु जिनेन्द्र जी सहमत न हुए क्योंकि कोशों के आधुनिकतम रूप से सुपरिचित थे। और चाहते थे कि पाठकों को कम-से-कम समय मे अधिकतम भिज्ञता की प्राप्ति हो। फलतः स्वान्तः-सुखाय संकलित शब्द वाक्यरूपी तिलों को तीसरी बार कोश-पद्धति के कोल्हू में डालकर मानवता के लिए उन्होंने 'जिनेन्द्र कोश' रूपी स्नेह (तेल) बहाने की दृष्टि से इतना अथक परिश्रम किया कि ब्रह्मचर्य-प्रतिमा की अन्तर्मुखता में बाधा आने लगी। तो अपनी साधना को अक्षुण्ण रखने के लिए वे इसको छोड़कर श्री १०५ क्षुल्लक हो गये। और कोश की पूरी फाइल गुरु (श्री रूपचन्द) जी को भेज दी। वे भीड़-भाड़ से दूर स्थानों में रहने लगे और जिज्ञासुओं को पढ़ाने के सिवा अपने ध्यान-स्वाध्याय के सिवा कोश का नाम भी नहीं लेते थे। वे जो भी पढ़ते-पढ़ाते थे, वह लिख या लिखवा कर ही करते थे। फलतः उनके द्वारा लिखवाये गये विषयों को छपवा कर अनेक

अनुगामी या शिष्य लेखक बन रहे थे। तब गार्गीयजी ने संवत् २०२१ में इन्हें 'जैनेन्द्रकोश' के प्रारूप को अन्तिम रूप देने के लिए विवश किया, क्योंकि भारतीय ज्ञानपीठ इसे प्रकाशित करने के लिए तैयार थी। और चाहती थी कि किसी योग्य सहायक को रखकर वे अपनी २४-२५ हजार पर्चियों (पतले कार्डों) को प्रेस कापी का रूप दिला देवें।

तू एकला चल रे—

वर्णीजी ने कुछ शिष्याओं को केवल सुन्दर अक्षरों में नकल करने को दिया किन्तु सन्तोष नहीं हुआ। टाइपिस्ट का भी यही हाल रहा। फलतः पूरे एक वर्ष भर एकाकी जुट कर उस कोश को तैयार किया, जो विश्व के कोश-इतिहास में एकाकी व्यक्ति की साधना का अनुपम उदाहरण है। क्योंकि संसार के प्रमुख कोशकारों को समाज-राज'और कुटुम्ब से सभी तत्कालीन सुविधाएँ सुलभ करायी गयी हैं, किन्तु वर्णीजी ने तो कार्डों की भी प्रतीक्षा नहीं को और अपने ज्ञान-रत्नों को सादे कागज की चिटों में ही रखा था। वास्तव में ऐसे रुग्ण, दुर्बल तथा कठोर-व्रती शारदा-साधक विश्व में 'न भूतो न भविष्यति' के एक मात्र निदर्शन हैं।

असीम सत्साहस-मनोबली—

जब अति श्रम के कारण रुग्ण एवं जर्जर शरीर ने क्षुल्लकचर्या को समयदि निभाना कठिन कर दिया, तो उन्होंने आचार्य की अनुमति पूर्वक 'क्षुल्लक' लिखने-करने से भी अनुयायियों को विरत कर दिया, जबकि उनके वस्त्र-उपकरण-आहारादि पद के अनुकूल ही चलते थे। इतना ही नहीं, बीच-बीच में समाधिमरण का अभ्यास भी चालू था। तथा आचार्य इसको कराने के लिए निवेदन भी करते रहते थे। किन्तु प्रातः स्मरणीय पूज्यवर आचार्य समन्तभद्र गुरुवर के समान आचार्य श्री १०८ विद्यासागर भी इन्हें 'जिनेन्द्रकोश' के द्वितीय-संस्करण का कारण मानते हुये रोकते रहे। और जब यह कार्य भी पूरा करके उन्होंने लेखनी को सदा के लिए रख दिया। तथा आचार्य संघ में पहुँचे 'समाधि' के लिए; तो निर्यायकाचार्य श्रीने काल-क्षेत्र की प्रतीक्षा का संकेत किया।

आदर्श उद्यमी, त्यागी, स्वाध्याय तपस्वी जिनेन्द्र वर्णीजो ने गुरु-आदेश को शिरोधार्य करके उस दिन की प्रतीक्षा की, जिस दिन 'ज्ञान-ध्यानतपो रक्त' निरारंभ-परिग्रही एवं दिगम्बरी मुद्रा-मर्यादा के प्रतीक आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी के संघ ने युगपुरुष, पाठशाला-विद्यालयों की दीपमालिका के चेतन प्रकाशपर्व पूज्य श्री १०५ गणेशवर्णी के आश्रम (ईसरी) में पदार्पण किया। आचार्यसंघ के पार्श्वनाथवर्णी-शान्ति निकेतन आते ही जिनेन्द्र वर्णी जी भी वहाँ जा पहुँचे और प्रारंभ हुआ ज्ञानमूर्ति का मरण-महोत्सव। 'जैनी तपस्या हि स्वैराचार विरोधिनी' के निदर्शन बालयति-संघ के निरवद्य, परिपूर्ण तथा जागरूक सहयोग तथा वैयावृत्त पूर्वक जिनेन्द्रवर्णी जी की छेदोपस्थापना हुई और वे श्री १०५ क्षुल्लक सिद्धान्त सागर होकर संवत् २०४० में जब की चर्म चक्षुओं से हो अदृश्य हुए हैं। दुर्बल एवं जर्जर काया से, महाबली-सुलभ अडिग साधकता तथा 'धर्मशास्त्र का अभ्यास केवल जीव उद्धार कला है' के निदर्शन रूप से युग-युग तक प्रकाश-स्तम्भ के समान हमारा जीवन आलोकित कर रहे हैं—

"जैनेन्द्रं कोशग्रन्थं प्रभवतु बलवान् सर्व सौख्यप्रदायी।"

मर्मज्ञ सारस्वत श्री जिनेन्द्र वर्णी

श्री कन्हैयालाल सरावगी, छपरा (बिहार)

●

श्री जिनेन्द्र वर्णी एक अप्रतिम साधक, स्वतंत्र चिन्तक और निर्भीक-निष्पक्ष लेखक के रूप में लोक के सामने आए। उन्होंने अनेकों ग्रंथों का प्रणयन, संकलन आदि किया। स्व० पू० गणेश प्रसाद जी वर्णी के सान्निध्य और विचारों के स्पर्श से उनके विचार और आचार भी स्वर्णिम ही नहीं स्वयं पारस बन गये। "जैनेन्द्र सिद्धांत कोष", "समणसुत्तम्" और "शान्तिपथ प्रदर्शन" उनके ग्रन्थों में विशेष उल्लेखनीय हैं। आध्यात्मिक-साहित्य के क्षेत्र में इन्हें कई दृष्टियों से उच्चकोटि की श्रेणी में रखा जा सकता है।

साहित्यिक प्रतिभा वर्णीजी को विरासत में मिली है और उन्होंने उसकी न केवल रक्षा की बल्कि उसे कई गुना बढ़ाया। विचारों के तल पर उन्होंने जो दिया है उसके लिए लोक उनका युगयुगांत ऋणी रहेगा। वर्णी जी का चिन्तन ऋजु, निष्पक्ष, सचोट और मर्म को छूने वाला है। साम्प्रदायिकता के घेरे में बँधे लोग भले उनकी आलोचना करें पर वस्तुतः वे आलोच्य नहीं स्तुत्य थे। साम्प्रदायिकता और उसके आग्रह के वे विरोधी थे। शान्ति पथ-प्रदर्शन में उन्होंने स्पष्ट शब्दों में इसे ध्यान पद्धति में विद्यारूप बताया है। इस सम्बन्ध में उनकी निम्नलिखित सशक्त वाणी उनके विचारों की परिचायक है—

"धर्म का स्वरूप जानने से पहले इस पक्षपात (साम्प्रदायिक आग्रह) को तिलाञ्जलि देकर यह निश्चय करना चाहिये कि धर्म सम्प्रदाय की चारदीवारी से दूर किसी स्वतंत्र दृष्टि में उत्पन्न होता है, स्वतंत्र वातावरण में पलता है और फल देता है।"

और भी कहते हैं, "धर्म का स्वरूप साम्प्रदायिक नहीं वैज्ञानिक है।"

उनका चिन्तन स्वाभाविक और वास्तविक है। उन्होंने आध्यात्मिक चिन्तन को सूत्रों में पिरो दिया है। वे कहते हैं—"शान्ति का उपासक इसे (कर्मधारा को) छोड़ कर ज्ञानधारारूप पुरुषार्थ का आश्रय लेता है और जीवन को तदनुरूप ढालने का धीरे-धीरे अभ्यास करता है। ····यद्यपि उसका बाह्य जीवन तो एकदम वैसा होने नहीं पाता, परन्तु उसका दार्शनिक जीवन, जिसका आधार केवल श्रद्धा है, अवश्य पलटा खाता है और करने-धरने की या कारण-कार्यभाव खोजने की टेव विराम पाती है। इस अभ्यास या प्रयत्न का नाम ही मोक्षमार्ग या शान्तिपथ है।"

सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय की यह सरलतम व्याख्या उनकी लेखनी का चमत्कार है।

सम्प्रदायों और धर्मों के बाजार में मनुष्य किस प्रकार ठगा जाता है और उसका मानस कितना कुंठित हो जाता है, इस पर सचोट भाषा में श्री वर्णी जी लिखते हैं कि, "यातायात के साधन सम्पन्न युग में साधुओं, तपस्वियों तथा त्यागियों के दर्शन सुलभ तथा बहुल हो जाने के कारण जन-साधारण में आज एक ऐसी भ्रान्ति उत्पन्न हो गई है कि गृहत्याग अथवा भोजन, वस्त्र आदि का अधिकाधिक त्याग किये बिना शान्तिपथ की साधना की जानी सम्भव नहीं है। भक्तजनों से प्राप्त साधुओं तथा त्यागियों की पूजा, प्रतिष्ठा, ख्याति व प्रसिद्धि देखकर पूर्व संस्कारों की वासना से मन में जो लोकेषणा जागृत होती है, वह इस भ्रान्ति को बल प्रदान करती है और भोले-भाले व्यक्ति इस जाल में उलझ कर अपने जीवन को नष्ट कर डालते हैं। अमृत भी उनके लिए विष बन जाता है।...,"

विभिन्न देवी-देवताओं की परिकल्पना पर उन्होंने करारी चोट करते हुए सीधी और स्पष्ट बात पूरी निर्भीकता से कह डाली है। इसे भी उन्हीं के शब्दों में देखें—

"......यह लो ! मेरे सौभाग्य से ऋषियों ने बना दिया इस निराकार को साकार, तत्त्व को मानव, अति मानव। किसी को लगा दिए चार हाथ पाँव और किसी को दस। किसी का रूप बनाया सुन्दर और किसी का भयंकर। विविध शक्तियों के प्रतीक रूप में विविध आयुध दे दिये, उनके हाथों में और उनकी प्रधान चित्-शक्ति को ला बैठाया उनके बाम भाग में, उनकी अर्धांगिनी बनाकर। विविध गुणों के प्रतीक रूप में विविध प्रकार के वस्त्राभूषणों से अलंकृत कर दिया उनके दिव्य शरीरों को। परन्तु कहाँ से लाऊँ बुद्धि इतनी कि दर्शन कर सकूं इन विविध प्रतीकात्मक आकारों में, निराकार को देख सकूँ इन अति मानवों को तत्त्व के रूप में, जिसके प्रतीक बनाये गये हैं ये। मुझे तो दीखता है केवल उनका बाह्य रूप....एक लौकिक सम्राट् से अधिक दीखते ही नहीं वे मुझे। कैसे करूँ इनमें देव के दर्शन, अपनी आत्मभूत समता तथा शान्ति के दर्शन ?"

अहिंसा पर उनकी चुभती बात का भी जायका लीजिए:—

"यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाय तो आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि मेरे द्वारा क्षुद्र जीवों को इतनी पीड़ा नहीं पहुँच रही है, जितनी कि मनुष्य को, स्वयं मेरे भाई को। शरीर के द्वारा नहीं वचन के द्वारा, मन के द्वारा। निन्दा, चुगली तथा व्यंग्य आदि रूप मर्मच्छेदी वचनों के द्वारा मैं किस प्रकार उसका कलेजा छलनी करता रहता हूँ, यह मुझे पता ही चलने नहीं पाता।"

'समणसुत्तम्' भी उनका उल्लेखनीय और मननीय ग्रंथ है। इसमें श्री वर्णीजी ने जैन सिद्धांत के अनमोल बोलों को चुनने में पूरी असाम्प्रदायिकता बरती है। जो सूत्र उन्होंने इनमें संकलित किये हैं, वे दिगम्बर आम्नाय के ग्रंथों में हैं या श्वेताम्बर, तेरापंथी या स्थानकवासी, इसकी ओर उन्होंने ध्यान ही नही दिया। किसमें से कितना लेना इस पर विचार करने के लिए भी वे कहीं रुके हों, ऐसा नहीं लगता। इसे जैनियों की गीता, वेदांत अथवा वैचारिक सारांश कहें तो अत्युक्ति नहीं होगी। मैंने इसे जितना कुछ देखा है, उस पर से उपरोक्त बात बेहिचक कह सकता हूँ और कहता हूँ। साम्प्रदायिक आग्रह वश जो लोग इस ग्रंथ की आलोचना करते हैं, ऐसे आलोचकों के लिये इतना ही कहना उपर्युक्त और पर्याप्त होगा कि उन्होंने केवल ऊपरी खाल को देखा, पर उसके हार्द से दूर रहे। इस ग्रंथ को स्व० विनोबा भावे जी का आशीर्वाद प्राप्त है। उन्हीं की प्रेरणा से यह लिखा गया और संतुष्ट होकर उन्होंने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

इस युग के जैन सिद्धांत कोषों में 'अभिधानराजेन्द्रकोष' का ही नाम लिया जाता था। श्री वर्णी जी ने 'जैनन्द्र सिद्धांत कोष' की रचना कर इस एकाधिकार को निरस्त कर दिया। 'अभिधानराजेन्द्र' की तरह यह विशाल ग्रंथ भी ४ जिल्दों में है और भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा प्रकाशित है। वर्णी दर्शन आदि इनके और भी कई छोटे-बड़े ग्रंथ हैं। निष्कर्ष यह कि क्रांत द्रष्टा, जिनवाणी के सफल चितेरे और संग्राहक वर्णीजी को पाँचवें आरे का गणधर कहें तो सम्भवतः अतिशयोक्ति नहीं होगी। अब वे हमारे बीच नहीं हैं, पर अपनी रचनाओं के द्वारा वे चिर जीवित हैं। सागार-अनगार सभी का सही मार्ग दर्शन करते रहेंगे। उन्होंने जो कुछ लिखा है साधिकार लिखा है और उसी जीवन को जोया भी है। उनका जीवन अनुकरणीय है। उनकी प्रतिभा और चिन्तन जैन-चिन्तन या वाङ्मय तक ही सीमित नहीं था। वे वैदिक और बौद्ध साहित्यों के भी मर्मज्ञ सारस्वत थे। ऐसे साधु को मेरा शत-शत नमन।

पूज्य वर्णीजी : कृशकाया में दृढ़ आत्मा

श्री मूलचंद बडजाते, वर्धा

सन् १९७३ की बात है। २५सौ वाँ भगवान् महावीर निर्वाण महोत्सव मनाने की भारत व्यापी तैयारियाँ चल रही थीं। देश का संपूर्ण जैन समाज एक प्रकार से नई स्फूर्ति और नव चैतन्य से भर गया था। लगता था कि इस महोत्सव के कारण बिखरा और बँटा हुआ समाज एकता के धागे में बिंध जायेगा।

उधर वर्षों से पूज्य बाबा (आचार्य विनोबा जी) कह रहे थे कि जैनधर्म की संक्षेप में सर्वांग जानकारी देने वाली कोई रचना तैयार होनी चाहिए। वैसे उनको संस्कृत का तत्त्वार्थसूत्र और हिन्दी का छह ढाला ग्रन्थ बहुत प्रिय थे। लेकिन कठिनाई यह थी कि प्राचीन प्राकृत गाथाओं में ऐसा कोई ग्रंथ नहीं था। वैसे तो जैन वाङ्मय विपुल है और एक-एक अंग पर ढेर सारी कृतियाँ गिनाई जा सकती हैं, लेकिन जैसा ग्रंथ बाबा चाहते थे वैसी कोई रचना थी नहीं। किसी एक सर्वमान्य ग्रंथ पर कार्य करना तो उनके लिए सरल था, जैसे कि बाइबिल, धम्मपद, कुरान, मनुस्मृति, भागवत धर्म आदि पर उन्होंने किया।

संयोग की बात है कि इसी बीच मेरे मित्र भाई जमनालालजी जैन पूज्य जिनेन्द्र वर्णीजी के संपर्क में आये। वर्णी जी महाराज को विनोबा जी की अभिलाषा जंच गयी। विनोबा जी से इस विषय में चर्चा तथा विचार-विमर्श करना जरूरी था। अतः वर्णी जी का वर्धा आने का कार्यक्रम बना।

यह मैं अपना परम भाग्य समझता हूँ कि पूज्य वर्णी जी मेरे ही निवास पर ठहरे। उन्हीं दिनों मकान का एक ऊपरी कमरा बनकर तैयार हुआ था। भाई जमना लालजी भी चाहते थे कि पूज्य वर्णीजी मेरे ही निवास पर ठहरें। पूज्य वर्णीजी शाम को कलकत्ता से आने वाली बम्बई मेल से उतरे। उनकी कृशकाया देखकर तो मैं चकित रह गया। उन्हें घर पर लाया गया और ऊपर कमरे में उनकी समुचित व्यवस्था कर दी गयी। घड़ी वाले श्री मुन्नी बाबू भी पहुँच गये। यहीं मेरा वर्णीजी से प्रथम परिचय था।

भोजन तो उनका और भी नपा-तुला, तोला-माशा में था। मानना पड़ा कि आत्मशक्ति, संकल्प-शक्ति के आगे देह-शक्ति का कोई महत्त्व नहीं है। कहावत है, चंदन की चुटकी के आगे गाड़ी भर कपास का क्या मूल्य ?

दो-तीन दिन की इस अवधि में ही वर्णीजी के साथ कुछ ऐसा संबंध जुड़ गया कि वह निरन्तर प्रगाढ़ होता गया। मेरी धर्मपत्नी भी अतीव श्रद्धाभिभूत हो गयीं।

जैन धर्मसार या समणसुत्तं के सिलसिले में जो कुछ आयोजन और कार्य हुआ, उसे सब जानते हैं। मैं उसे यहाँ नहीं दोहराऊँगा। यहाँ मैं उनका एक अन्य संस्मरण लिख रहा हूँ।

सन्'७५ में पूज्य वर्णीजी समणसुत्तं के सिलसिले में विनोबाजी से मिलने वर्धा आये। उनके साथ भाई जमनालालजी के सुपुत्र बाबू अभय कुमार आये थे। कुछ दिनों तक विनोबाजी के साथ विचार-विमर्श होने के बाद वर्णीजी का कार्यक्रम वापस वाराणसी जाने का बना। रिजर्वेशन करा लिया गया था। निकलने के ठीक पहले दिन वर्णीजी को बुखार आ गया। मैं सोच में पड़ गया कि ये कल कैसे जा सकेंगे। श्वास की तकलीफ भी बढ़ गयी थी। ऐसी स्थिति में कल निकलना तो मुश्किल है।

लेकिन वर्णीजी तो ठहरे संकल्प के पक्के। दूसरे दिन पवनार आश्रम से फोन आया कि वर्णीजो आज ही वाराणसी के लिए निकल रहे हैं और ठीक समय पर वर्धा पूर्व स्टेशन पर पहुँचेंगे। मैं फल आदि लेकर स्टेशन पहुँच गया। वर्णीजी के साथ भाई जमना लालजी का पुत्र अभयकुमार तथा पुत्री सौ० सुषमा भी वाराणसी जाने वाले थे। उस समय भी उन्हें बुखार था। बोलने में भी काफी कष्ट हो रहा था। मैंने निवेदन किया कि रास्ते में फल-रसाहार आदि कीजिएगा। अभय कुमार आपकी व्यवस्था कर देगा। सुनकर उन्होंने बड़ी सहजता से कहा, 'आश्रम से तुलसी का काढ़ा लेकर आया हूँ, और बनारस में लेही लूंगा।' यह वाक्य से इतनी सहजता से बोल गये मानो बनारस घण्टे-दो घण्टे के फासले पर है। बाद में मुझे जमना लालजी के पत्र से पता चला कि दूसरे दिन गाड़ी लेट पहुँचने के कारण उन्होंने तीसरे दिन ही आहार ग्रहण किया। संयम में भी कितनी सहजता।

वास्तव में वे देहातीत आत्म पुरुष थे। देह तो कर्म करने का साधन है, साध्य तो आत्मा ही है।

वर्णीजी कृशकाया में दृढ़ आत्मा की अद्वितीय मिसाल थे।

●

"जगत् तात्त्विक-स्पन्द के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है, इसलिए व्यक्ति जो कुछ भी करता है उसमें उसका अहंकार ही हेतु है। यही कारण है कि उसके द्वारा कृत-कर्म का फल उसे प्राप्त होता है। तत्त्व-दृष्टि से देखने पर कोई भी किसी का कुछ इष्ट या अनिष्ट न करता है, न कर सकता है। सब कुछ कर्म तथा कर्मफल के अकाट्य नियम के अधीन चल रहा है, चलता रहेगा। यह सोचकर व्यक्ति हर प्रकार के दुःख-सुख में अपने ही किसी पूर्वोपार्जित कर्म को हेतु समझते हुए शान्त रहना चाहिए। राग-द्वेष उत्पन्न होते अवश्य हैं, परन्तु उसमें पूर्व कर्म या पूर्व संस्कारों का कृत्य देखकर इनसे बचने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इसी से व्यक्ति सुखी रहता है। अन्यथा इस जगत् में कहीं भी सुख का स्वप्न देखना निरी भ्रांति है। —वर्णी वचनामृत

संकलन—अरुण जैन

महाप्राज्ञ जिनेन्द्र वर्णी

ब्र० स्वरूपानन्द, इन्दौर

●

प्रज्ञा के धनी, जिनवाणी मर्मज्ञ, षट्दर्शन-चिन्तक, सर्वोपरि—उस महान् परम तत्त्व के व्याख्याकर्ता जिनेन्द्र वर्णीजी अन्तरङ्ग-शान्ति से ओतप्रोत वाणी का प्रसार-प्रचार श्रोताओं के सन्मुख करते थे, तब श्रोता विह्वल हो जाते थे, उसी समय शान्ति का अनुभव करते थे।

जिनेन्द्र वर्णीजी 'कोश' की रचना जिस समय कर रहे थे, ईसरी-आश्रम में मैं मौजूद था। किस प्रकार घण्टों तक मन-वाणी-लेखनी तथा शरीर की क्रिया चलती थी, देखते ही बनती थी। आलमारी पास थी करीब १२५ ग्रंथ रखे थे—जैसे पट्टेबाजी खेलते हैं इस प्रकार ग्रंथ उठाया, उसमें से पर्ची पर नोट किया, रखा, दूसरा उठाया। इस तर पाँच मिनट तक वह दृश्य चलता था। चित्त इतना संलग्न था कि कौन आया-गया, कुछ खबर नहीं थी। इस प्रकार उस आनन्दमयी कार्य का प्रयोगात्मक रूप था। वास्तव में वे विद्वत्ता के समुद्र थे।

प्रेम (वात्सल्य) मूर्ति जिनेन्द्र वर्णीजी प्रत्येक प्राणी के प्रति अत्यन्त उदार थे, अन्तरङ्ग में मानों अपने से एकाकार कर लेते थे। तत्त्व-जिज्ञासुओं को प्रभु बनने की प्रेरणा देते थे कि तुम प्रभु हो, थोड़ा उस अपने प्रभु का एक क्षण को दर्शन करो तो अल्पकाल में तुम भी प्रभु हो जाओगे। प्रेम के जो भी गुण हैं, उनका बखान करना एवं प्रेरणा उत्पन्न करना कि 'जगत् में प्रेम (धर्म) से बढ़कर कोई वस्तु नहीं है भैया! इस जीवन में मानव मात्र के लिये प्रेम नहीं उमड़ा तो वास्तव में वह मानव नहीं है'—यह उनका प्रमुख उपदेश था। जिस प्रकार खुला आसमान सबको स्थान देता है, उसी प्रकार सम्प्रदाय से हठकर प्रत्येक प्राणी को वह चाहे जिस कुल में जन्म लिया हो—'समता व प्रेम-सन्देश' देते थे। एकान्त में जो भी अपने कल्याण के सम्बन्ध में वार्ता करने आता, उसे प्रेम-संवेग-अनुकम्पा-आस्तिक्य आदि भावनाओं द्वारा समझाते थे। यदि किसी कारणवश असमर्थ है तो दूसरे वात्सल्यधारी आत्माओं से संकेत द्वारा ग्रन्थ तथा द्रव्य आदि की पूर्ति कराते थे, ताकि वह पूर्ण सन्तुष्ट होकर जावे। अपूर्व भावना थी जिसका वर्णन लेखनी से नहीं हो सकता।

श्रद्धावान् जिनेन्द्र वर्णीजी को अपने अनन्त गुण-शक्तियों के धारी आत्मा व अनन्त धर्मों के अधिष्ठाता 'अखण्ड' के प्रति अति दृढ़ भावना थी तथा उसी का चिन्तन-मनन करते थे। उसी अपने प्रभु में, जो सामान्य शक्ति रूप से हैं—प्रतिपल लीन; तब आनन्द-शीतलता-समता का झरना झरता था। तप-वीर्य शक्ति जिनकी स्फुरायमान होती थी, उसका निमित्त पाकर शक्ति में रोमांच हो जाते थे। यदि प्रेरणा हुई अन्तर से, तो सामने वाले प्राणियों के लिये वही बताना कि—'जब तक महान् शक्तियों का धारी अनादि अनन्त चैतन्य प्रभु (आत्मा) हूँ—स्वयं ऐसी रुचि प्रतीति ज्ञान में न हो, तब तक जीवन को अपूर्व शान्ति व सुख नहीं मिल सकता। अतः हर कार्य करते हुए निरन्तर एकमात्र यही लक्ष्य होना चाहिये।'

साक्षात् चारित्र मूर्ति वर्णी जी का शरीर यद्यपि दुबला-पतला था, भोजन भी अत्यल्प, फिर भी दशलक्षण व अष्टाह्निका पर्व आदि में १०-८ निर्जल उपवास करना तथा ज्ञान-ध्यान में रत रहना—उनके लिए सहज था। ध्यान-कला २-२॥ घंटे चलती थी, जिसकी शक्ति की व्यक्ति परिणाम में होती थी। वे अपूर्व साधना में निरत रहते थे। इससे हम जैसे शरीर से हट्टे-कट्टे को एक

जागरूकता मिलती थी कि सम्यग्दर्शन हो जाने के बाद भी वास्तव में इस प्रकार की साधना के बिना प्रभु नहीं बना जा सकता। उस महान् आत्मा ने अपने अन्तरङ्ग मे उस प्रभु का दर्शन-ज्ञान कर जो तपोमयी वीर-वृत्ति निरन्तर अपनायी, उसी का फल था कि बाह्य इच्छाएँ सभी समाप्त हो गयीं और अन्तर में ऐसा समताभाव प्रकट हुआ कि कोई प्रशंसा करे, उसके प्रति राग नहीं; निन्दा करे उसके प्रति द्वेष नहीं। जो आचार्य कुन्दकुन्द के शब्दों में 'चारित्तं खलु धम्मो'—इस रूप में उपदिष्ट है।

पूज्य वर्णीजी संसार में रहते हुए भी वैरागी थे। जैसे जल में कमल रहता है, परन्तु उससे भिन्न रहता है; उसी प्रकार उस महान् आत्मा के चित्त में कंचन-कामिनी के प्रति रंचमात्र भी कामना नहीं, वांछा नहीं, भोगने का भाव नहीं था। बाकी बहन-भाइयों के प्रति निरन्तर उनकी यही भावना थी कि सभी उस अपने परम तत्त्व (प्रभु) का दर्शन-चिंतन-मनन करें। प्रभु बन जायें।

उन महान् पुरुष (आत्मा) वर्णी जी के सम्बन्ध में कुछ लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है। उनका व्यक्तित्व का कृतित्व उनके साहित्य से स्वयं प्रकट होता है। आज के इस भयंकर अशान्ति पूर्व युग में श्री वर्णीजी ने जीवों को जो अन्तरङ्ग-शान्ति का संदेश दिया, यह सचमुच लौकिक होते हुए भी लोकोत्तर कार्य था। क्या लिखें? लेखनी असमर्थ है, वह लिखने की बजाय जीवन में उतारने की बात है। मैं कुछ समय साथ रहा, जीवन में बहुत प्रेरणा व सफलता मिली।

•

अक्षर पुरुष

कु० कुन्ती जैन, दमोह

लम्बे अरसे से पू० वर्णीजी के दर्शन की काफी इच्छा थी, वह बनारस जाकर सन् '८२ में पूर्ण हुई। इनके चेहरे की सौम्यता देख कर मन में बहुत आनन्द आया। इसके पश्चात् वर्णीजी के कुछ शब्दों को कागज पर कैद करने की इच्छा जाग्रत् हुई। साहस करके अपनी डायरी सामने ले जाकर रख दी। उनसे कुछ लिखने का आग्रह किया तो कहने लगे—'क्या करोगी इसका, फायदा क्या है? तब मैंने कहा—'पता नहीं अब कब दर्शन होंगे या नहीं, कम से कम आपकी अक्षर थाती तो हमारे पास रहेगी। उनके मना करने पर भी अति आग्रह करके थोड़ा सा लिखा लिया। उन्होंने अपनी कलम से लिखा था—

'प्रभु कल्याण करें।'

ॐ

ॐ लिखने पर पुन आग्रह किया कि आप अपना नाम लिख दीजिये तो हँसने लगे और कहा—'आत्मा ॐ तो है ही। यही मेरा हस्ताक्षर है।'

आत्मगंगा की पुनीत लहरों में स्नान ध्यान-मग्न वह सौम्यमूर्ति आज हमारे बीच नहीं हैं, किन्तु फिर भी जन-जन के मानस में अमिट रूप से छाये है और छाये रहेंगे।

ऐसे निःस्पृह अक्षर पुरुष को शतशः प्रणाम!

युग के परम श्रुताराधक सन्त

ब्र० हेमचन्द्र जैन, भोपाल

समय का पंछी अपनी निश्चित अविराम गति से उड़ता ही चला जाता है। न तो कोई उसकी गति से चलने की होड़ कर सकता है और न ही उसे पकड़कर स्थिर कर सकता है। फिर भी बिरले आत्मसाधक ज्ञानी अपनी सुदृढ़ साधना के फलस्वरूप समय की गति से चलने की होड़ कर ही जाते हैं और अपने अनुभव रस से अनेकों अनाखी आध्यात्मिक उपलब्धियाँ इस जगत् को यों विरासत में ही छोड़ जाते हैं। ऐसे ही थे पूज्य वर्णी जी। महात्मा गांधी को घड़ी का दास कहा जाता था, परन्तु मुमुक्षु जीवों ने सन्त श्री जिनेन्द्र वर्णीजी को घड़ी का दास न कहकर घड़ी को उनका दास कहने में गौरव का अनुभव किया। वे अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी बन श्रुत देवता को प्रसन्न करने में जुट गये। वे द्रव्य-श्रुत रूप महासागर में गहरे और गहरे उतरते ही चले गये। फलतः उन्हें अपने अभीष्ट की सिद्धि हुई एवं सल्लेखना-व्रत धारण करके देहोत्सर्ग किया, जो कि मानव जीवन का सारभूत अन्तिम चरण है। अस्तु, श्री वर्णीजी स्वहस्ताक्षर मात्र ॐ के रूप में ही किया करते थे।

बालब्रह्मचारी क्षु० श्री जिनेन्द्र वर्णीजी को विद्या के प्रति प्रगाढ़ अनुराग-पैतृक-संस्कार के रूप में प्राप्त हुआ था। उन्होंने आत्मपौरुष के बल पर पैतृक-सम्पत्ति को पनपाया और अपने पिता के समान ही जैन व जैनेतर साहित्य में पारङ्गतता प्राप्त की। उनका एलेक्ट्रिक व रेडियो विज्ञान का उच्च शिक्षण भी उनकी चिन्तनधारा को व्यापक बनाने में सहायक सिद्ध हुआ यही कारण था कि उनके आध्यात्मिक प्रवचन शिक्षित युवावर्ग को अधिक रुचिकर एवं हृदयग्राही हुए।

आपका हृदय अन्तर शान्ति व प्रेम से ओतप्रोत साम्य व माधुर्य का आवास था। आप अपने प्रवचनों में मुख्य रूप से पक्षपात के विष को वमन कर स्वाध्याय करने पर जोर देते थे। उनका कहना था—'जो कुछ भी करो (चाहे धर्म या कर्म)—ईमानदारी पूर्वक करो, तभी सफलता मिलना संभव है।'

मैंने पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के विशिष्ट क्षयोपशमी एवं अभीक्ष्णज्ञानोपयोगी होने की चर्चा सन् १९७७ राजकोट में पूज्य श्री कानजी स्वामीजी के मुख से सुनी थी तथा उनके द्वारा लिखित सरल हृदयग्राही सत्साहित्य 'शान्ति पथ प्रदर्शन', 'नयदर्पण', 'पदार्थ विज्ञान', कर्म सिद्धान्त, 'समणसुत्तम्' का आद्योपान्त पूर्ण स्वाध्याय भी तब तक मैं कर चुका था। उनकी बहुमूल्य कृति 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' का भी नियमित थोड़ा-थोड़ा स्वाध्याय करता जा रहा था। वास्तव में वर्णी जी की प्रत्येक पुस्तक स्वाध्यायशील प्रेमियों के लिये अवश्य ही पठनीय एवं मननीय है। सन् १९८१ भोपाल में हुए चातुर्मास के शुभावसर पर मुझे पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के प्रवचनों को भी सुनने का साक्षात् एवं दुर्लभ सुयोग मिला।

यह भी गौरव का विषय है कि आज भी बड़े-बड़े मनीषी एवं लेखक जिनेन्द्र वर्णी जी द्वारा रचित साहित्य का रुचिपूर्वक स्वाध्याय करते देखे जाते हैं। यहाँ तक ही नहीं, कई लेखकगण तो अपने लेखों में उनके कथनों को समर्थन के रूप में उद्धृत करते हुए भी हर्ष का अनुभव करते हैं। मुझे आश्चर्य तो तब हुआ जब एक पहुँचे हुए पंडित विद्वान् ने 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' को "जिनवाणी का एक जगह संकलन मात्र" बतलाकर उसकी मौलिक विशेषताओं को कुछ न कुछ

सिद्ध करना चाहा। यद्यपि वे पंडित जी स्वयं अपने लेखों में इस कोश की अनेकों बार मदद लेते हैं एवं उसे उद्धृत भी करते हैं। शोधार्थी जीवों को यह ग्रंथ कितना उपादेय है—यह बात कहीं निष्पक्ष-विचारकों से छिपी नहीं है। 'कोश' में अनेक स्थलों पर वर्णी जी द्वारा दिये गये सरलीकृत शीर्षक एवं वक्तव्य विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उदाहरणार्थ-'नियति' शब्द के बारे में जिनागम सम्मत वर्णी जी का कोश में दिया गया वक्तव्य इस प्रकार है—

नियति—'जो कार्य या पर्याय जिस निमित्त के द्वारा जिस द्रव्य में जिस क्षेत्र व काल में जिस प्रकार से होना होता है, वह कार्य उसी निमित्त के द्वारा उसी द्रव्य, क्षेत्र व काल में उसी प्रकार से होता है, ऐसी द्रव्य, क्षेत्र, काल व भाव रूप चतुष्टय से समुदित नियत कार्यव्यवस्था को 'नियति' कहते हैं, नियत कर्मोदय रूप निमित्त की अपेक्षा इसे ही 'दैव', नियतकाल की अपेक्षा इसे ही 'काल-लब्धि' और होने योग्य नियत भाव या कार्य की अपेक्षा इसे ही 'भवितव्य' कहते हैं।

वर्णी जी के चिन्तन का सार निम्न प्रकार है, आशा है विज्ञजन इसे निष्पक्ष भाव से ग्रहण करेंगे—

''मोक्षमार्ग का रहस्य अध्यात्म (उपयोगात्मक अंग) एवं आगम (योगात्मक अंग) इन दोनों की सच्ची समझ एवं आचरण में निहित है। अध्यात्म केवल उपयोगात्मक विशुद्धि पर जोर देता है, जबकि चरणानुयोग केवल प्रवृत्तियों की संशुद्धि पर जोर देता है। अध्यात्म पद्धति में योगात्मक प्रवृत्तियाँ अत्यन्त गौण हैं और चरणानुयोग में उपयोग गौण है। पर इसका यह अर्थ नहीं कि दोनों ही परस्पर निरपेक्ष कोई स्वतंत्र प्ररूपणायें हैं। उपयोग को योग का और योग को उपयोग का अनुसरण करना ही चाहिये, तभी परमार्थ कल्याण सम्भव है। केवल अध्यात्म चर्चा से कोई लाभ नही और इसी प्रकार केवल व्रतादिक की योगात्मक प्रवृत्तियों से भी कोई लाभ नहीं। जीवन संशोधन में दोनों ही अंगों का बराबर स्थान है। यद्यपि श्रद्धा, ज्ञान व चारित्र तीनों में ही केवल एक अध्यात्म ही उपादेय है, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि चर्या रूप प्रवृत्तियें सर्वथा त्याज्य हैं। उपादेय समझना और बात है और उपादेय रूप हो जाना और बात है। उपादेय समझने में देर नहीं लगती, पर तन्मय (उपादेय रूप हो जाने) में बहुत समय लगता है, जिसके अन्तर्गत उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त अनेकों चारित्रात्मक श्रेणियों में से गुजरना आवश्यक है। उन श्रेणियों में भी निचली श्रेणियों में प्रवृत्ति वाला ही अंग प्रमुख है और ऊपर वाली श्रेणियों में उपयोगात्मक अंग ही प्रमुख है। समझने की प्रमुखता और तन्मय होने के लिये की गयी साधना की प्रमुखता में आकाश-पाताल का अन्तर है। उपरोक्त अन्तर, साधना की अपेक्षा ही समझना, श्रद्धा या लक्ष्य की अपेक्षा नहीं। स्याद्वाद की व्यापकता में विरोध या पक्षपात को अवकाश नहीं।''

वर्णी जी कहते हैं कि—'जब शुभ क्रियाओं को करने के लिये कहा जाय तो वे सुख देने वाली हैं ऐसा मानकर उनको हित रूप समझने लगता है, अभिप्राय को बदलने के लिए कहा जाय तो उन क्रियाओं को ही छोड़ने के लिये तैयार हो जाता है। दोनों प्रकार मुश्किल है, किस प्रकार समझायें। ऐसे कहें तो भी नीचे को ओर जाता है और वैसी कहें तो भी नीचे को ओर ही जाता है। नीचे को ओर जाने को नहीं कहा जा रहा है भगवन्! ऊपर उठने को कहा जा रहा है। दोनों ही प्रकार से नीचे ही जाने का प्रयत्न क्यों करते हैं? ऊपर उठने का प्रयत्न करें।'

अब मैंने जो अपनी दो मुख्य शङ्कायें उनके सामने रखी थीं वह तथा उन्होंने जो समाधान दिया था, उसे यहाँ प्रस्तुत करता हूँ।

शङ्का १–आपके प्रवचनों में सर्वधर्म समन्वय की बात आती है, इससे गृहीत-मिथ्यात्व का दोष लगता है ?

समाधान—प्रायः श्रोता तीन प्रकार के पक्षपात से ग्रसित होते हैं—अभिप्राय का पक्षपात, शब्द का पक्षपात एवं सम्प्रदाय रूप जाति व धर्म का पक्षपात। परमार्थतः निज कल्याणार्थ धर्म का स्वरूप जानने से पहले सर्व प्रकार के पक्षपातों को तिलाञ्जलि देकर यह निश्चय करना चाहिये कि 'धर्म' सम्प्रदाय की चारदीवारी से दूर किसी स्वतंत्र दृष्टि में उत्पन्न होता है, स्वतंत्र वातावरण में पलता है, फल देता है। यद्यपि सम्प्रदायों को आज 'धर्म' के नाम से पुकारा जाता है, परन्तु वास्तव में यह भ्रम है, पक्षपात का विषैला फल है। सम्प्रदाय कोई भी क्यों न हो धर्म नहीं हो सकता। भी 'सम्प्रदाय' पक्षपात को कहते हैं और 'धर्म' स्वतंत्र अभिप्राय को कहते हैं, जिसे कोई भी मनुष्य, किसी भी सम्प्रदाय में उत्पन्न हुआ, छोटा या बड़ा, गरीब या अमीर यहाँ तक कि तिर्यंच भी, सब धारण कर सकते हैं, जब कि सम्प्रदाय इसमें अपनी टांग अड़ाकर किसी को धर्मपालन का अधिकार देता है और किसी को नहीं देता। आज के जैन-सम्प्रदाय का धर्म भी वास्तव में धर्म नहीं है, सम्प्रदाय है, एक पक्षपात है। इसके आधीन क्रियाओं में ही कूपमण्डूक बनकर वर्तने में कोई हित नजर नहीं आता।....लो उभर आया न क्षोभ ? यह धर्म तो सर्वोच्च धर्म है न जगत् का ? अब जरा विचार करो—क्या धर्म भी कहीं ऊँचा या नीचा होता है ? बड़ा या छोटा होता है ? अच्छा या बुरा होता है ? धर्म का कैसा जैन-अजैनपना, धर्म तो धर्म है जिसने जीवन में उतारा, उसके लिये हितकारक ही है। हाँ, सर्वज्ञ मत से बाह्य नहीं होना चाहिये। यदि कोई अजैन बन्धु सामान्य धर्म की रुचि के आधार पर अहिंसा-सत्य आदि को मानता है, पालता है तो क्या उसकी बात का समर्थन करना गृहीत मिथ्यात्व हो जायेगा ? इन्द्रभूति गौतम की तरह सत्य तत्त्वों की ओर प्रोत्साहित करने के लिये कदाचित् उनकी शुभ प्रवृत्ति को ठीक भी कह दिया जाय तो वह गृहीत मिथ्यात्व को कोटि में नहीं आता। अतः जो लोग पापकार्यों से डरते है वे नहीं डरने वालों से तो अच्छे ही हैं, उन्हें ऊपर उठाने का (जिनमार्ग में लाने का) एक यही उपाय है कि उनमें जो अच्छाइयाँ हों उन्हीं के द्वारा उन्हें ऊपर उठाया जाय।

शङ्का २—'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' में 'लोक' के शब्दान्तर्गत आपने जैनाभिमत भूगोल के साथ वैष्णवाभिमत भूगोल एवं आधुनिक वैज्ञानिक दृष्टिवाले भूगोल का भी वर्णन किया है, क्यों ?

समाधान—हाँ, 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' में मात्र जैनाभिमत भूगोल का परिचय देना ही उचित है। अगले संस्करण में शेष बातें निकाल दी जायेंगी। विशेषज्ञजन इस विषय की गहराई में प्रवेश करके जैन आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित लोक के स्वरूप की सत्यता सिद्ध कर सकें—मात्र इसी अभिप्राय को रखकर तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से ही मैंने प्रथम संस्करण में जैनेतर भूगोल का भी समावेश कर लिया था।

अन्त में भवमुक्तिवांछक मैं ऐसे बहुश्रुतज्ञानी मूक आत्मसाधक सन्त स्व० श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

●

स्याद्वादी सन्त

श्री बाबूलाल जैन 'मधुर', बीना

●

शान्तिपथ प्रदर्शन के स्वाध्याय एवं 'नय दर्पण' के आलोड़न से श्री जिनेन्द्र वर्णी के दर्शन की अभिलाषा हुई। जैनेन्द्र सिद्धांत कोश के अवलोकन से अभिलाषा अत्यंत वेगवती हुई और भाई राजमल जी भोपाल वालों के साथ नवम्बर १९८० में उनके दर्शन, चर्चा एवं सान्निध्य के लिए ही सम्मेद शिखर यात्रा में सम्मिलित हो, ईसरी आश्रम में उस महान संत के दर्शन, कर अपने को अत्यंत सौभाग्यशाली समझा। उनके दर्शन से ही अंतरंग शांति, चर्चा एवं सान्निध्य से बहुत सी शंकाओं का समाधान हो जाता था। इसके पश्चात् कई अवसर प्राप्त हुये। ईसरी में एक चर्चा में इतने संलग्न रहे कि समय का ध्यान ही न रहा और अधिक रात्रि हो जाने पर आश्रम के चौकीदार ने दरवाजे आदि सब बंद कर दिये। उसी रात्रि में मुझे १२-०० बजे की गाड़ी से कलकत्ता रवाना होना था, बड़ी परेशानी में पड़ गया। बाबा जी से कहा तो वहीं सोने का आग्रह करने लगे, किन्तु मेरे जाने की इच्छा पर दरवाजा खुलवाने के लिए उन्हें कितनी शारीरिक चहल-कदमी करनी पड़ी, इस पर मुझे अपने प्रति अत्यंत ग्लानि प्रतीत हुई और बाबा (वर्णी जी) के चरण स्पर्श कर क्षमाभाव चाहा। उनकी शारीरिक क्लांति देख मैं लज्जा में सिकुड़ा हुआ आश्रम से बाहर आ गया, किन्तु उनकी वात्सल्य पूर्ण सरलता सदैव मेरे चित्त-पट पर अमिट हो गई।

वाराणसी में श्री छेदीलाल जी के मंदिर के निवास कक्ष में एक संध्या के दर्शनोपरांत बाबा को अत्यंत कफ-बाधा में देख समीप चुपचाप बैठ गया व वैयावृत्ति के लिये तत्पर हुआ तो बाबा कुछ चर्चा रूप उपदेश को तत्पर हो गये। मैंने शारीरिक बाधा देखते हुये मना किया, किन्तु माने नहीं। कितने तत्त्व जिज्ञासु थे आश्चर्य होता था। आगे तो भोपाल, विदिशा, नैनागिर, सागर में उनके सान्निध्य एवं वैयावृत्ति के कई अवसर प्राप्त हुए। उनके सान्निध्य में आज के आध्यात्मिक वातावरण से उत्पन्न कई शंकाओं का समाधान खुले हृदय से हो जाता था। चरणानुयोग की बहुत-सी चर्चाओं का समाधान आज के विज्ञान के माध्यम से उनसे मिलता था, अन्य किसी विद्वान् से आज मिलना तो दुर्लभ ही है।

अप्रैल १९८२ में मैं उन्हें बीना लाने में सफल हो गया। उनका व्रती जीवन अत्यंत मिताहार एवं चर्या अत्यंत सावधानीपूर्ण होते हुए भी विज्ञान सम्मत थी. देखते ही जीवन समर्पण के भाव होते थे। सदैव अभीक्ष्ण ज्ञानोपयोग मे लीन, शारीरिक बाधाओं में लिपटे इस डेढ़ पसली के शरीर से साक्षात् आतमदर्शन होते थे। बीना बजरिया में वर्णीजी के प्रवचन के समय शहर के जिन मंदिर में ठहरे हुए महाराष्ट्र के श्रुतसागर मुनिराज ने पधारना चाहा, शीघ्र ही उनके उच्च आसन का प्रबंध किया गया; किंतु कुछ मन चले दर्शनार्थी उन्हें भ्रम में डाल वापिस ले गये कि "महाराज जी, आपको वहाँ बैठने का भी प्रबंध नहीं है।" वापिस जाते हुये मुनि महाराज को इस छल का पता तो चल गया था। इस घटना का वर्णी जो को पता चला तो उन्हें मुनिराज के दर्शन की तीव्र उत्कंठा हुई और उक्त वातावरण से वे अत्यंत क्षुब्ध हुये। दूसरे दिन तुरंत उन्हें कार द्वारा मुनिराज के दर्शन हेतु ले जाया गया और चर्चा का प्रसंग बनवाया गया। मुनिराज के प्रति उनको अत्यंत भक्ति एवं अपूर्व विनय संपन्नता के दर्शन हुये और उक्त क्षुब्ध वातावरण से मुनिराज के समक्ष निंदन-गर्हण रूप प्रायश्चित के उनके भाव उनकी सहज सरलता के द्योतक थे।

बीना से खुरई समाज के अत्यंत आग्रह वश वहाँ पहुँचे, वहाँ के दानवीर सेठ ऋषभ कुमार भी निवास के नीचे अत्यंत सुन्दर संपन्न व्यवस्थित कक्ष में जहाँ विद्वान् पंडित के ठहरने को सदैव रिजर्व रहता था, वर्णी जी को उतारा गया। अंदर पहुँचते ही महाराज जी ने तुरंत अपने को वहाँ रुकने के लिए मना कर दिया और मंदिर के बगल के संकीर्ण अस्त-व्यस्त कमरे में ही थोड़ा प्रबंध कर ठहरना उचित समझा। जब कि रात्रि में मच्छड़ों के प्रकोप को अपने एक चादर मात्र मे लिपटे रहकर सहना और मसहरी आदि के परिग्रह से रहित होना उन्हें अधिक आनंददायक प्रतीत होता था।

उनका 'करणानुयोग' 'धवला' आदि ग्रंथों का अध्ययन कितना मजा हुआ और विज्ञान सम्मत था—सागर में धवला आदि का वाचन श्रद्धेय महाराज श्री विद्यासागर जी के सान्निध्य में पं० कैलाश चंद जी करते थे। करणानुयोग की उलझी हुई गुत्थियों, शङ्काओं का समाधान वर्णी जी जिस सरलता से करते थे कि प्रायः सबको समझ में आ जाता था, फिर भी कुछ प्रसंग ऐसे आ जाते थे कि उनका समझना चर्चा में सरल न था, मैंने वर्णी जी से प्रसंगवश पूछा तो कहने लगे, यदि ब्लेक बोर्ड की सुविधा वहाँ होती तो चार्ट बना कर समझा देता, उन्हें चर्चा से समझाना सरल नहीं पड़ता। करणानुयोग विषयक गणित की चार्ट संदृष्टियाँ एवं त्रिलोक व भूगोल विषयक नक्शे आदि जिस सुन्दरता से "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष" में देकर जगह-जगह विषय को सरल-सुन्दर बनाया है इससे वर्णी जी की विद्वत्ता की छवि देखते ही बनती है। वर्णी जी के सभी ग्रन्थ प्रायः लोकप्रिय रहे। उनका संबोधन—स्वयं से स्वयं के लिए एवं मनोवैज्ञानिक शैली हृदय के भीतर बैठी बेईमानी रूप कलुषता को प्रत्यक्ष कर देने में सफल हुई है। आज के मात्र द्रव्यानुयोग और चरणानुयोग की खींचतान में शांति पथप्रदर्शन' एवं 'नयदर्पण' के अधिकांश प्रसंग, विचारक के लिए पक्षपात के विषय में शांति रूप अमोघ औषधि हैं। जहाँ अध्यात्म की खुमारी को प्यार भरी थपकियों के साथ संयम व व्रतों की ओर उत्साह है, वहाँ अंध क्रिया-कांड में निवृत्ति रूप शांति का सुन्दर समन्वय है। यहाँ वह शांति उनकी "चौथी शांति" से प्रेरित हो पक्षपात से परे स्याद्वाद की कथन शैली में सम्यगेकांत की आड़ में किस प्रकार एकांत झांक रहा है, 'शांत हो प्रभु ! शांत हो प्रभु !' के संबोधन से विचारक को अपूर्व शांति मिलती है। 'नय-दर्पण' के "कारण और प्रयोजन" प्रसंग नयों की जटिलता को सुलझाने का अनुभव कराते हैं। वर्णी जी के जैनेन्द्र सिद्धांत कोष" को जैनधर्म का 'एन साइक्लोपीडिया' कहना उसकी विशालता के आगे ' सूरज को दीपक दिखाना" जैसी बात है, जहाँ सौ से अधिक आगम ग्रन्थों के रहस्य एवं सिद्धांतों को किस विद्वत्ता से संजोया है, अनेकानेक विद्वान् वर्षों तक यह कार्य नहीं कर सकते थे। यदि यह कोश हाथ में आ गया तो जैन-शोधार्थियों को पुस्तकालय एवं विद्वानों के सम्पर्क की अब बहुत कम दौड़ धूप करनी पड़ेगी। वर्णी जी का भारतीय दर्शनों का ज्ञान, वेदांत और उपनिषदों का गहन अध्ययन और उनका जैन दर्शन के स्याद्वाद के परिवेश में समन्वय एक अपूर्व खोज है।

आज भी कतिपय प्रश्न मुझे कुरेदते रहते हैं, काश ! वर्णी जी होते तो सभी समाधान देते। सिद्धांत-मनीषी श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के धार्मिक-दार्शनिक-साहित्य, हृदयग्राही मार्मिक-प्रवचनों, शांत-गंभीर-चर्चाओं एवं एकाकी-निराकुल-संत-जीवन के अनेकानेक उपकारों के प्रति स्मृति-स्वरूप विचार-श्रृंखला का अंत नहीं हो पा रहा है, उसे शब्दों में बाँधना अत्यंत कठिन हो रहा है, लगता

है लिखता ही चला जाऊँ किन्तु समयाभाव व व्यर्थ का शब्द विस्तार न माना जावे इस भय से विराम ले रहा हूँ।

वर्णी जी के जगह-जगह धर्म प्रवचनों के टेप्स् कैसेट सुरक्षित हैं. यदि उन सबका एवं अन्य अप्रकाशित साहित्य का प्रकाशन हो सके, तो यह भी उनकी स्मृति का सही स्मारक होगा।

हम सब उनके द्वारा निर्देशित शांति और समता को जीवन में जी सकें, यही अंतिम अभिलाषा है!

•

निर्णय हमें करना है

डॉ० कपूरचन्द्र कौशल, भोपाल

•

संसार-सागर में जीवन का रहस्य खोजना एक दुर्लभ अनुसंधान है, इस पथ में निरंतर चलते रहना एक स्वप्न सी बात है। सत्य को वाणी से परे ले जाकर भावना में समाविष्ट कर लेना अति कठिन साधना है, इसके प्रति समर्पित व्यक्तित्व सदा से ही अत्यल्प रहे हैं। इस विकट दौर से जीवन भर गुजरने वाले श्री जिनेन्द्र वर्णी जो बहुत ही मूक साधक रहे हैं। उन्हें कोलाहल और विडंबनाओं से दूर देखने पर ही उनका क्वचित्-कदाचित् मूल्यांकन संभव है—हल्ला मचाकर ऊपर उठ जाने की कला से सदैव वे दूर रहे। उनकी कथनी कम और करनी सदैव ही अधिक रही। वे सदा ही जीर्ण-काया से नूतन आत्मा को साधते रहे, वेदना के क्षणों में भी उनकी मुस्कराहट जगत् को शीतलता देती रही। उनके जीवन के दो ही पहलू थे—साधना और परोपकार, साधना की कोई शर्त और परोपकार की कोई सीमा नहीं थी। परिग्रह और परिवार से मुक्त रहकर उनकी तपस्या चलती रही, परोपकार लेखनी और वाणी से मुखरित होता रहा। अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना को वैज्ञानिक रूप देकर समाज को समर्पित करने में वे बड़े सिद्धहस्त लेखक थे, 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' की रचना तो जैसे जैन-साहित्य के लिए वरदान स्वरूप अक्षय निधि बन गई है।

इस अद्वितीय और मौलिक मूक त्यागी का ऋण समाज कैसे उतारेगी ?

उनके चरण चिह्न पर चलकर या फिर अपनी जीवन-पद्धति को तदनुकूल ढालकर आज इसका निर्णय हमें करना है।

वर्णी और कर्म-साहित्य

कु० मनोरमा जैन, रोहतक
शोधछात्रा, नेहरू विद्यालय, रोहतक (हरियाणा)

●

ज्ञान-दिवाकर, सत्यमार्ग प्रणेता, अलौकिक दृष्टा, महामनस्वी परम श्रद्धेय गुरुवर श्री जिनेन्द्र वर्णी जी अद्भुत कर्मयोगी थे। आपके जीवन में ज्ञान-कर्म और भक्ति का अद्भुत समन्वय अवलोकित होता है। यदि आपके साहित्य का ज्ञान-कर्म और भक्ति के रूप में पृथक्-पृथक् विभाजन करें तो प्रतीत होता है कि 'समणसुत्तं' तथा 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' आपके दिव्य ज्ञान के प्रतीक हैं, 'पदार्थ विज्ञान', 'शान्ति पथ-प्रदर्शन', 'कर्म रहस्य' तथा 'कर्म सिद्धान्त' में ज्ञान के साथ-साथ कर्म के सूक्ष्मातिसूक्ष्म रहस्यों का सहज तथा सरल भाषा में अवलोकन होता है। 'सत्यदर्शन', 'श्रद्धाबिन्दु', 'उपासना-संग्रह', 'प्रेम कीर्तन' आदि विभिन्न रचनायें आपके भक्तियोग की परिचायक हैं। उनकी दृष्टि में ज्ञान, भक्ति तथा कर्म कथन-पद्धति में भले ही पृथक् प्रतीत हों परन्तु साधना में तीनों का ऐक्य ही होता है। श्रद्धेय वर्णी जी के जीवन तथा साहित्य में भी तीनों की एकता का सहज दर्शन होता है तथा आचार्य उमास्वामी का 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः' सूत्र चरितार्थ होता है। मुख्यता तथा गौणता को दृष्टि में रखकर कहें तो उनके समस्त कर्म, ज्ञान तथा भक्ति से अनुप्राणित थे। वे महान् कर्मयोगी थे।

पूज्य वर्णी जी का, कर्मसिद्धान्त का अध्ययन इतना गहरा था कि जटिलतम विषय भी हृदय की अनुभवात्मक गहराइयों को स्पर्श करते थे। गोम्मटसार-कर्मकाण्ड, धवला, जयधवला, पंचसंग्रह आदि महान् ग्रन्थों को, अपनी दिव्यज्ञान-दृष्टि से आलोड़ित कर नवनीत के रूप में सरल तथा सहज-भाषा में 'कर्मसिद्धान्त' तथा 'कर्मरहस्य' हमारे सम्मुख प्रस्तुत किये। आपके द्वारा प्रस्तुत कर्म-साहित्य न केवल ज्ञान-गरिमा से युक्त है अपितु साधकों के लिए साधना का नया आयाम प्रस्तुत करता है। इस प्रकाश में ज्यों-ज्यों साधक साधना की गहराइयों को छूता है कर्म की विचित्रता हस्तामलकवत् स्पष्ट प्रतीत होती है, फलस्वरूप जीवन के समस्त द्वन्द्व उत्स तत्त्व में विलीन होकर शान्त हो जाते हैं।

केवल 'कर्मसिद्धान्त' तथा 'कर्म रहस्य' में ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण साहित्य में श्रद्धेय वर्णी जी ने कर्म के सूक्ष्म तथा मार्मिक रहस्यों का प्रतिपादन किया है। पदार्थ-विज्ञान में पदार्थों का परिचय अत्यन्त वैज्ञानिक-दृष्टि से कराया गया है। जीव तथा अजीव दोनों ही पदार्थ कर्मधारा के मुख्य-स्रोत हैं। इनको जाने बिना कर्म धारा से किनारा करना असम्भव है।

'शान्तिपथ प्रदर्शन' में सप्त तत्त्वों का तथा साधना के विविध मार्गों का दिग्दर्शन कराया गया है। जीव को अजीव से मुक्त कराने के लिए ही ज्ञान तथा वैराग्य की विभिन्न साधनायें हैं। जीव तथा अजीव तत्त्वों का मिलन ही आस्रव तथा बन्ध है, उन्हें पृथक् करने की साधना संवर तथा निर्जरा है और फल मोक्ष है। वर्णी जी के शब्दों में-"बौद्ध शास्त्र चार मुख्य तत्त्वों की स्थापना करते हैं—दुःख, दुःख समुदय, दुःखनिरोध तथा दुःख निरोधगामिनी प्रतिपदा। जैन सिद्धान्त भी सात तत्त्वों के रूप में इन्हीं चार बातों का उल्लेख करता है—जीव तथा अजीव तत्त्वों में दुःख के पारमार्थिक स्वरूप का चिन्तन किया गया है, आस्रव और बन्ध उस दुःख के कारण हैं, संवर तथा निर्जरा वैराग्य तथा साधना के द्वारा दुःखनिरोध का विवेचन करते हैं। मोक्ष तत्त्व चिरन्तन शान्ति का द्योतक है।"

कर्म सिद्धांत तथा कर्म रहस्य में करणानुयोग की शैली में बन्ध, उदय, सत्त्व, अपकर्षण, उत्कर्षण, संक्रमण, क्षय, क्षयोपशम, निधत्त, निकायित इन दस करणों के द्वारा संस्कारों के विचित्र खेल का दिग्दर्शन कराया गया है। साधना रत हुआ जीव संस्कारों से युद्ध करता हुआ धीरे-धीरे सोपानों पर चढ़ता हुआ समस्त कर्मों को क्षयकर 'अयोग केवली' नामक चौदहवें गुणस्थान को प्राप्त होता है। पंचलब्धि, त्रिकरण, पुरुषार्थ का सार्थक्य आदि विषयों को साधकों के समक्ष प्रस्तुत कर, अन्तःकरण के सजीव-अध्ययन की प्रेरणा प्रदान की है।

'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' तो सम्पूर्ण जैन वाङ्मय का दर्पण ही है। कर्मसिद्धांत जैसा महत्त्व-पूर्ण विषय इससे पृथक् कैसे हो सकता था ? अनेक प्रकार के चार्टों, सारणियों तथा विविध रेखाओं के द्वारा बन्ध, उदय, सत्त्व आदि दश करणों को तथा कर्मप्रकृतियों को सरलतम रूप में दर्शाया गया है।

अन्त में, मैं इतना ही कहती हूँ कि परम श्रद्धेय गुरुवर श्री जिनेन्द्र वर्णी जी का सम्पूर्ण जीवन तथा साहित्य कर्म-रहस्यों से अनुप्राणित है। वे महान् कर्मयोगी थे। शब्दों से उनकी स्तुति करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। जिस समय रोहतक में प्रथम बार उनके चरण सान्निध्य में आई उस समय कर्म सिद्धान्त का संक्षिप्त सा परिचय मुझे प्राप्त हुआ था। सन् १९८२ में मुझे इस विषय पर शोधकार्य की प्रेरणा पू० गुरुवर से ही मिली। प्रेरणा ही नहीं, जीवन के अन्त समय तक मार्ग दर्शन भी मुझे मिला। यह सब उनके कर्मसाहित्य के प्रेम का ही परिचायक है। यद्यपि जो शोधकार्य मैं उनके मार्ग दर्शन में कर पाती वह मेरी तुच्छ बुद्धि से होना अशक्य है, परन्तु विश्वास है कि उनकी ज्योति ही मुझे गति प्रदान करेगी। प्रातः वन्दनीय गुरुदेव के चरणों में नित्य कोटिशः वन्दन करती हुई प्रार्थना करती हूँ कि उनके चरणों में मेरा वास सदा बना रहे।

●

प्रभु दर्शन में व्यवहार तथा साम्प्रदायिकता नहीं।
प्रभु को पाण्डित्य नहीं, सरलता चाहिए बालकवत्।
प्रभु का नाम ही है समता।
विचार करना ही जीवन की कला है, यही सम्यक् दर्शन है।
अनेकान्तवादी वह है जो सभी सम्प्रदायों को ठीक कहे।
सम्प्रदाय पक्षपात को कहते हैं, धर्म स्वतंत्र सम्प्रदाय को कहते हैं।
जहाँ मेरा-तेरा, अच्छा-बुरा स्वार्थ कुछ न दिखाई दे, वही सच्चा आनन्द है।
ओंकार प्रभु का ही ध्वन्यात्मक शब्दमय स्वरूप है।

—वर्णीजी के सन् १९६८ के प्रवचनों से संकलित वचनामृत

वर्णी जिनेन्द्र : एक शब्द-योगी भी

श्री सुरेश सरल, जबलपुर

जन्म, बचपन, विद्यार्थी-अवस्था तथा जीवन की अन्यान्य सामान्य घड़ियों की चर्चा इस लेख में आबद्ध न की जाये तो भी वर्णीजी के शेष-जीवन का उल्लेख करते हुए लेख बढ़ते-बढ़ते ग्रंथ का सुकलेवर धारण कर सकता है। यहाँ मैं सब कुछ संक्षिप्त में कह देना चाहता हूँ, किन्हीं सूत्रों में।

जिनेन्द्र वर्णी ऐसे महात्मा थे जो शब्द और सिद्धान्तों की स्वतंत्रता के लिए जीवन भर संघर्ष करते रहे। इसी देश के महात्मा गाँधी ने कभी आदमी की स्वतंत्रता की बात की थी। वर्णीजी का जीवन विभिन्न संस्मरणों का समुद्र बन चुका है अतः कोई लेख में उन्हें कैसे बाँधे ! वे आचरण, सिद्धान्त और साहित्य का अनुशीलनकर चलते रहे जीवन भर ! उनकी साधना जहाँ आत्म-पक्ष के लिए थी, वहीं जन-पक्ष के लिए भी होती चली गई। इसीलिए जोड़कर शब्द-शब्द वे ग्रन्थों में भर गए। तब लगा; दुबली पतली काया के भीतर एक सुदृढ़ आत्मा किल्लोल करता रहा उम्र भर। वह उनकी आत्म शक्ति ही थी जिसके आधार पर बारह ग्रंथ सृजित कर उन्होंने दिए माँ-भारती को। मात्र तीन उनमें से अ-प्रकाशित हैं अभी। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' से ही उनका परिचय, मैं और मुझ जैसे साहित्यसाधक, 'शब्द योगी' कह कर देते हैं। वैसे 'योगी' तो थे ही, परन्तु ग्रन्थों में व्यक्ति श्रम और उनके आकलन ने उन्हें 'शब्द-योगी' कह दिया। शब्दों के सागर में चलने वाले शब्द-पडित बने फिर बने वे जौहरी–शब्दों के, सिद्धान्तों के। बड़ी विचित्र बात हुई आगे चलकर, कि शब्द-सागर में चलने वाला, खुद ही रत्नाकर बन गया। रत्नाकर-शब्दों का, वर्णों का, अर्थों का, सन्दर्भों का।

उनके चिन्तन में भी खूबी थी, अकेला ज्ञान नहीं था उनके पास, उनका चिंतन विज्ञान से प्रारम्भ होता था और अतिज्ञान तक चलता रहता था। उनका तर्क आधार युक्त होता था। वे जैन-परम्परा के ऐसे साधक थे जो ऊपर से श्रावक और भीतर से श्रमण रहे आए पल-पल। सहजता उनके चेहरे से कभी नहीं मरी। जबकि वे भीतर मे तनिक भी सहज नहीं रहे। अपने कार्य के प्रति कठोर और कर्मठ ही सिद्ध हुए हैं, पर सहजता ने उनका पल भर साथ नहीं छोड़ा। उन्हें निःस्पृह-साधक ठीक ही कहा गया है। कर्मयोगी और निष्काम सन्त। पूर्णरूपेण अप्रमत्त।

वेदों, पुराणों का अध्ययन और मनन कर, उन्होंने जैन-एकता की तरफ अनायास ही हेरा और एकता की प्रेरणा का प्रतीक दिया एक ग्रन्थ–'समण सुत्तं'। अकेला यही ग्रन्थ समाज को संगठन और ऐक्य के लिए काफी है, जरूरत है पढ़ने वालों की और पढ़े हुए पर जीवन उतार कर ले आने वालों की।

उनकी साधना, तपस्या, अध्ययन और लगन उन्हें आत्मान्वेषी ज्ञापित करते हैं। आत्मा की यात्रा का आदि-अन्त वे अच्छी तरह समझ चुके थे। तभी तो देह-त्याग के अवसर पर सल्लेखना लेना नहीं भूले। आत्मा दगता रहा, प्रकाश फैलता रहा। परमपूज्य श्री विद्यासागर जी महाराज के गरिमायुक्त सान्निध्य में २४ मई ८३ को सल्लेखना-व्रत धारण कर देह त्यागने वाले इस महापुरुष को 'निर्मम' साधक भी कहना पड़ा है। यही उनके जीवन का श्रेष्ठ्य है।

वर्णी जी की प्रवचनशैली भी विशेष थी, उनकी अपनी छाप होती थी प्रवचनों पर, जिस

तरह वर्तमान में पूज्य विद्यानन्द जी और पूज्य विद्यासागर जी अपने प्रवचनों की एक पृथक् पहिचान बनाए हुए हैं। वर्णीजी की शैली भी प्रशंसित होती रही है श्रेष्ठ श्रावकों द्वारा।

यों तो जिनेन्द्र वर्णी का सम्बन्ध सारे देश से था, सारे विश्व से था, सारी मानवता से था, पर जो सम्बन्ध उनका काशी से था वह अन्य नगरों से कैसे बन सकता था! अन्य नगर उनके ज्ञान का दोहन करते रहे; मगर काशी····काशी ने दिए थे उन्हें ज्ञानार्जन के समृद्ध पल। अतः काशी थी उनकी संस्कारधानी। वे जीवन भर काशी को न भूल सके, अब काशी अपने वरद पुत्र को कैसे भूल सकती है? वर्षों पहले उन्होंने 'काशी' को नमन किया था, अब काशी वर्षों तक उन्हें नमन भेजती रहेगी। शब्द-योगी जिनेन्द्र को नमन!

●

प्रेरक शक्ति-वर्णी

कु० सीताराव, वाराणसी

●

अत्यन्त सरल एवं कृशकाय दिखायी पड़ने वाले बाबा श्री जिनेन्द्र वर्णी मानव जगत् के प्रेरणा स्रोत के रूप में हैं तथा अनन्त काल तक बने रहेंगे। मुझे प्रथम दर्शन में ही आपकी अद्भुत शक्ति एवं भक्ति का परिचय मिला। दर्शन की एक झलक पाकर कोई भी व्यक्ति उनके व्यक्तित्व की आभा से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सका। वस्तुतः यह हृदय की स्वाभाविक प्रतिक्रिया है।

अध्ययन, मनन, चिन्तन, अन्वेषण, तत्त्वज्ञान को उपलब्ध करने की सच्ची जिज्ञासा, एकान्त, मौन, गम्भीरता, एवं कलात्मकता, समता आपके जीवन की निधियाँ थीं। वर्षों तक अथक श्रमकर विभिन्न धर्म, दर्शन, पुराण, भूगोल, खगोल, विज्ञान, इतिहास, आचार-शास्त्र आदि विभिन्न विषयों का अध्ययन करके, उनके मूल्यवान् तत्त्वों एवं सिद्धान्तों को ग्रंथों में सँजोकर रखा है।

आप जैन-समाज के ही नहीं, सम्पूर्ण मानव-जाति के उज्ज्वल उन्नायक थे, हैं, और रहेंगे। आपके अलौकिक-व्यक्तित्व से मनुष्य अपने व्यक्तित्व को सहज ही अलंकृत कर सकता है। आपकी रचनाओं एवं क्रियाकलापों से भारतीय जैन संस्कृति, साहित्य जगत्, मानव जाति एवं विशेषकर जैनधर्म चिर ऋणी एवं कृतज्ञ रहेगा।

आपके संस्कारित अमूल्य जीवन-साधना से मैंने अपने भीतर असीम मनोबल, कर्मठता, सतत-संयम-साधना, सहनशीलता, क्षमाशीलता, आध्यात्मिक-प्रेम जैसी उन्नत शक्तियाँ प्राप्त की हैं। भावी-पीढ़ी भी प्रेरक शक्तियों को प्राप्त करे, यही ईश्वर से प्रार्थना है। सहस्रशः वन्दन!

आगमदर्शी

श्री राकेश जैन, सागर

●

सन् '८२ के अन्तिम मास दिसम्बर, जब पू० जिनेन्द्र वर्णीजी महाप्रयाण से पूर्व कुछ दिनों का समय सागर के लिए, बल्कि हम लोगों को सेवा के लिए दे रहे थे, की बात है।

'वर्णीजी' के लिए वैसे 'मैं' कोई नया आदमी नहीं था, और न वे मेरे लिए। क्योंकि इससे पहले मैंने कई बार उनके साथ रहने का अवसर पाया है।

दिन तो विस्मृत हो रहा है पर समय दोपहर का था, मोराजी में 'स्याद्वाद-परिषद्' के कमरे में वर्णीजी' बैठे थे। बाहर हल्की-हल्की ठण्ड का मौसम था। मैंने दरवाजा खोला, अन्दर गया, विनय की और 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' का तृतीय भाग उनके हाथों में थमा दिया। प्रकरण 'भव्य' का था। 'दूरानुदूर-भव्य' पर मेरी दृष्टि थी अर्थात् शंका थी इस विषय में। वे उस प्रकरण को देखने लगे, मैंने कहा—'दूरानुदूर-भव्य' की परिभाषा, और वाक्य पूर्ण होने से पहले ही रुक गया। एक मिनट तक उन्होंने देखा। मैं उनके चेहरे को देख रहा था। मैंने देखा, अन्दर से पूर्ण विश्वस्त, पर उलझनों से आक्रांत हो रहा है उनका चेहरा, उन धसी-सी आँखों पर लगा हुआ लाल चश्मा कुछ खिसका, पलकें झुकीं, लगा कि कोई उद्वेग है अन्दर, कि उसी क्षण बिलकुल वैसी ही स्थिति में बोले—तो इसमें क्या ठीक नहीं है, कहो ? यह परिभाषा निकाल देना चाहिए क्या ?

मैं एक-दम सकपका गया। लगा शायद मैं कोई वाचलता तो नहीं कर गया ? धैर्य पा मैंने कहा—मेरा अभिप्राय यह नहीं कि, यह हटा दी जाए और अमुक जोड़ दी जाए। मैं तो मात्र यह जानना चाहता था कि जैसी उपर्युक्त परिभाषाओं में सन्दर्भित-ग्रन्थों की चर्चा है, ऐसी इसमें क्यों नहीं ?

अब तक वे पूर्व स्थिति से पूर्ण विलग हो चुके थे और सहजावस्था में कहा—यह परिभाषा मैंने स्वयं बनाई है, क्योंकि मुझे इसकी 'स्पष्ट परिभाषा' कहीं मिली नहीं। अपर भव्य, आसन्न-भव्य और अभव्य की परिभाषाएँ दी हैं, उन्हीं के आधार पर यह लिखी है। अगर उचित न हो तो हटा दूँ ?

मैंने पुनः कहा—हटाना, मेरा अभिप्राय नहीं, परन्तु क्या इस शब्द की परिभाषा आगम-ग्रन्थों में कहीं नहीं है ?

उसी भाव में जवाब मिला—नहीं, मेरे देखने में नहीं आयी।

तो क्या यह शब्द भी आगम में कहीं प्रयुक्त हुआ है ?

हाँ ! यह तो जरूर मिलता है। पर परिभाषा नहीं।

कुछ अन्य शङ्कायें भी थीं, जिन्हें मैंने उनसे समझा। पर इस समाधान ने मेरे हृदय में अजस्र-श्रद्धा-प्रवाह उत्पन्न कर दिया था, आगम के प्रति व उनके प्रति। विचारणा सदा प्रवाह लेती है कि कितना सूक्ष्मावगाहन होने पर भी अपनी एक भी बात कहीं सदोष न हो, उन्हें इसकी चिन्ता हर समय थी और यही उनकी सर्वश्रेष्ठ प्रामाणिकता थी। शत शत नमन !

●

निःस्पृह साधक

श्री बालचन्द्र शास्त्री, हैदराबाद

●

श्रद्धास्पद स्व० जिनेन्द्र वर्णीजी ने जो अपने जीवन में धर्म साधनपूर्वक कठोर साहित्य-साधना की है वह दूसरों के लिये अनुकरणीय है। ऐसे निःस्पृह साधक विरले ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं।

मेरा उनसे एक ही बार क्षणिक परिचय वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली में हुआ था। वे उस समय 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' के निर्माण में रत थे, जो सम्भवतः पूर्ण होने को आ रहा था। वह उनको कई वर्ष की साधना का सुफल है। वह न केवल साधारण जिज्ञासुओं के लिये, बल्कि विद्वानों के लिये भी उपयोगी प्रमाणित हुआ है।

जैसा कि मेरा स्वयं का कुछ अनुभव है, ऐसे कोश की रचना में सैकड़ों ग्रन्थों का अध्ययन अपेक्षित रहता है तथा कठोर परिश्रम करना पड़ता है। वह वस्तुतः अनेक विद्वानों के सहयोग की अपेक्षा करता है। ऐसे परिश्रम साध्य महान् ग्रन्थ का एक ही व्यक्ति के द्वारा रचा जाना आश्चर्य-जनक है। इस ग्रन्थ के रूप में वर्णीजी चिर जीवित रहने वाले हैं। यह उनका एक अपूर्व स्मारक सिद्ध होगा।

अन्य भी उनकी कितनी ही साहित्यिक कृतियाँ श्लाघ्य हैं। उनसे निश्चित ही लोकोपकार होने वाला है।

अन्त में उन्होंने जिस अन्तिम सल्लेखना धर्म का दृढ़ता के साथ अनुष्ठान किया है वह चिरस्मरणीय रहने वाला है। उन्होंने इस कष्टसाध्य अनुष्ठान में तल्लीन होकर यथार्थ मे आ० समन्तभद्र द्वारा प्ररूपित 'सल्लेखना' को चरितार्थ किया है।

इस प्रकार उन्होंने पण्डितप्रवर आशाधरजी द्वारा निर्दिष्ट पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक इस तीनों ही प्रकार के श्रावक धर्म का निष्ठापूर्बक परिपालन किया है। वे यथार्थतः चेलोपसृष्ट-मुनि के समान रहे हैं।

मैं ऐसे महान् साधक के प्रति श्रद्धावनत होकर अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता हूँ।

●

साधक सन्त : वाङ्मय वारिधि वर्णीजी

लक्ष्मीचन्द्र जैन (दिल्ली)

•

समाधिमरण कोई आकस्मिक घटना नहीं होती। संयम और साधना की मंज़िलें तय करते हुए एक साधु पुरुष संकल्प की उस सीढ़ी पर आरोहण करता है जहाँ इन्द्रियों की वृत्ति और शरीर का मोह इतना क्षीण हो जाता है कि संसार में वापिस लौटने की इच्छा ही नहीं रह जाती। सारे द्वार बन्द करके, साधक अपने अन्दर तल्लीन हो जाता है। हमें लगता है कि धीरे-धीरे अन्न छूट रहा है. सात्त्विक तरल पदार्थ की मात्रा भी कम हो रही है, शरीर क्षीण हो रहा है, इन्द्रियाँ शिथिल लग रही हैं, किन्तु अन्दर जो कुछ घटित हो रहा है वह हमारी अनुभूति में नहीं आता—साधक के लिये भी वह अनुभूति नयी होती है। क्या कारण है कि साधक इन्द्रियों और मन की प्रवृत्तियों के विश्लेषण से भी विमुख हो जाता है। काश, एक ऐसा ग्राफ़ बन पाता, एक ऐसी फोटो प्लेट बन पाती जो मन के अन्दर चलने वाले चिन्तन या अनुभूति या स्पन्दन की गतिमयता को अंकित करते करते उस बिन्दु तक पहुँच पाती जिसे निस्पन्द कूटस्थता की दशा कहते हैं। शरीर के तन्तुओं और मानसिक क्रिया की भौतिक रेखाओं का ग्राफ़ तो आज भी बनाया जा सकता है, किन्तु मन के क्षणांश के सहस्रांश का सहस्रांश कितने विश्व नाप लेता है इसका माप-यंत्र शायद असंभव ही रहेगा। इसलिए अन्त मे केवलज्ञानी के ज्ञान में आभासित होने वाली प्रतिच्छवि की कल्पना की शरण लेनी पड़ती है।

हम तो इतना ही जानते हैं कि श्रद्धास्पद जिनेन्द्र वर्णी के समाधिमरण की पूरी प्रक्रिया जिन की नजरों से, जिनकी जानकारी में गुजरी, वह अपनी-अपनी धारणा और अपनी-अपनी अनुभूति को एक उपलब्धि मानते हैं। साक्षात् और प्रत्यक्ष का अलग-अलग आयाम है, प्रत्येक दृष्टा का, साधक के अंतरंग का एक अलग संसार है अनुभूति का, समाधिमरण के अनुष्ठान का, निदेशन करने वाले गुरु का एक अलग मानस लोक है। और केवली के ज्ञान में प्रतिभासित होने वाली समग्रता का एक अपना विश्व है जिसकी पूरी अनुभूति स्वयं को भी नहीं उसका कथन भी किंचित् मात्र हो रहेगा। वक्तव्य से अवक्तव्य का संसार सदा बड़ा होता है।

मुझे लगता है स्व० वर्णी जी अलग-अलग अनेक व्यक्ति थे। समाधिमरण की साधना में लीन वर्णीजी को हम देख ही सकते थे, उनके दर्शन ही कर सकते थे। प्रणाम भी हमने उन्हें सदा किया है, आज भी करते हैं।

हड्डियों के ढाँचे में ढँकी तेजस्विता को हममें से अनेकों ने अत्यन्त निकटता से पहचाना है। फेफड़ा एक ही रह गया है, तो भी चलेगा। रोग आक्रामक हो गया है तो भी चलेगा, इसे सह्य बनाना ही पड़ेगा। यह नहीं हो सकता कि रोग का आक्रमण श्रुतदेवता की उपासना में बाधक बने। ध्यान और मौन और अध्ययन तो सदा उनके अपने काबू में रहे। वह कौन-सी स्थिति थी, कौन-सी ज्वाला थी जो प्रज्वलित होती रही और एक साधारण से माने जाने वाले व्यक्ति को पग-पग असाधारण प्रकाश से मंडित करती चली।

श्रद्धेय वर्णीजी का जीवन इस बात का उदाहरण है, (पूज्य बड़े बाबा गणेशप्रसादजी वर्णी की तरह) कि जिसे फ़ौर्मल शिक्षा कहते हैं—कॉलेज और यूनिवर्सिटी की पढ़ाई-विद्वान् बनने के

लिए वह क़तई जरूरी नहीं है। सबसे बड़े तत्त्व हैं दो संस्कारों का निर्माण और लगन। तीसरा तत्त्व—श्रम (वही तो संयम मूलक श्रमण धर्म है)। इन दोनों तत्त्वों में से उपजता है और संवर्द्धित होता है। वर्णीजी के पिता बाबू जयभगवान जी तो स्वयं शास्त्रज्ञ थे, शास्त्र सभा भी संचालित करते थे, बालक जिनेन्द्र सावधान श्रोता थे। किन्तु पिता के समकक्ष और सम्भवतया उनसे भी अधिक प्रेरणादायक और वात्सल्य ढालने वाले थे पंडित रूपचन्दजी गार्गीय। गार्गीयजी ने कलम और कागज देकर अपने इस सुत को एक सूत्र पकड़ा दिया कि जो पढ़ो उसे गुनो और नोट करते चले जाओ। जैन वाङ्मय की शान्तिदायिनी गंगा के किनारे बैठा दिया तो युवक जिनेन्द्र को अवगाहन के आकर्षण ने घेर लिया—'यदीयावाक्-गंगा विविधनयकल्लोलविमला' का रहस्य खुलता चला गया। नोट पर नोट बनते बढ़ते चले गये। कापियाँ भरी, रजिस्टर भरे, एक-एक विषय की सामग्री के वर्गीकरण को प्रेरणा हुई, पर्चियों पर लिखने और पठित सामग्री की वर्गीकृत परचियों को संभालते-धरते जिनेन्द्रजी एक मन बोझ की सम्पदा के स्वामी हो गये। अब इसे न धरते बने, न संभालते। लगभग सौ सवा सौ मूल शास्त्रों को पास रखना आवश्यक हो गया। पानीपत, कलकत्ता, सहारनपुर नसीराबाद, जहाँ-जहाँ जाते अठारह घण्टे एक आसन से बैठकर इस सामग्री को कोश का रूपाकार देते। व्यापार भी छूट गया, पैसे से दृष्टि हट गई। स्वाध्याय और सामायिक, ध्यान और मनन, प्रवचन और लेखन। इतनी तन्मयता कि वर्णीजी कोशमय हो गये। कोश के प्रारम्भ के आठ खण्ड, सोलह खण्डों की ओर पाँव पसारने लगे। तभी एक दिन आया कि वर्णीजी के मन में विराग जाग गया—"किस चक्कर में फँस गया हूँ मैं? उलझता ही चला जा रहा हूँ। जब धर्मध्यान का आध्यात्मिक सुख प्रत्यक्ष अनुभव कर रहा हूँ, तो फिर इस कोश के पचड़े में क्यों फँसू?" तब तक लोगों को पता लग गया था कि वर्णीजी ने सरस्वती के सागर में गहरी डुबकियाँ लगाकर जो निकाला वह तो रत्नों का भंडार है। पंडित रूपचन्दजी गार्गीय ने विरक्ति के उस क्षण में वर्णीजी को प्रबोधा। हाथ में लिए हुए काम को पूरा करना चाहिए; यह अनमोल निधि है। इसे कोश का सम्यक् रूप दे दो। मैं प्रकाशन के लिये प्रयत्न करता हूँ। अपना कोश सबकी निधि हो जाये, इसी में इन दस-बारह वर्षों के प्रयत्न की सार्थकता है।" आदि आदि।

घटनाओं की जो शृंखला बन रही थी, उसमें एक कड़ी जुड़ गयी—साहू शान्तिप्रसाद जी द्वारा स्थापित भारतीय ज्ञानपीठ और उसका मन्त्री मैं—लक्ष्मीचन्द्र जैन। साहूजी और उनकी धर्मपत्नी श्रीमती रमा जैन ने ज्ञानपीठ को एक यशस्वी संस्था का रूप दे दिया था। जिन वाणी के महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का प्रकाशन सामने आ गया था। वर्णीजी ने कोश के निर्माण की कथा में लिखा है :

"अपने बच्चे अथवा अपने प्रियतम शिष्य की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण यह कृति शीघ्रातिशीघ्र प्रकाश में आये ऐसा भाव उनके (गार्गीयजी के) हृदय में स्फुरित हो जाना स्वाभाविक था। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिये उनकी दृष्टि भारतीय ज्ञानपीठ की ओर ही जा सकती थी क्योंकि इतनी बड़ी कृति का प्रकाशन उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी संस्था करने के लिये समर्थ नहीं हो सकती थी। अतः भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्र जैन को दिखाने के लिए अप्रैल १९६० में वे कोश की हस्तलिखित प्रति लेकर दिल्ली गये। लक्ष्मीचन्द्र जी इस विचित्र कृति को देखकर बहुत प्रभावित हुए और प्रकाशन के लिये उसे माँगने लगे। पंडितजी ने जब यह बात पानीपत आकर मुझे बताई तो मैं धर्मसंकट में पड़ गया क्योंकि मैं जानता था कि यह कोश मैंने अपने निजी प्रयोग के लिए लिखा है, प्रकाशन के लिए नहीं।"

इसके बाद की परिस्थितियों से मैं परिचित हूँ। भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा कोश के प्रकाशन की प्रक्रिया में वर्णीजी के साथ जो सम्पर्क हुआ, बनारस में बैठकर उनके काम करने की जो पद्धति, जो निष्ठा, मैंने देखी, उसने मुझे चमत्कृत कर दिया। अंग्रेजी, मराठी, हिन्दी कोशों के निर्माण के विषय में मैंने बहुत कुछ पढ़ा था। काशी नागरी प्रचारिणी सभा और ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, पूना की कोश प्रकाशन योजनाओं के विशाल तामझाम, लाखों रुपये के बजट और अनेकों वर्षों तक के कार्य-विस्तार का रूप मैं जानता था। यहाँ मेरे सामने एक फेफड़े वाला एक ऐसा दुबला-पतला आदमी था जो स्वयं में अनेक संस्थाओं के बीसियों विद्वानों और कार्यकर्ताओं को अपने व्यक्तित्व में समेटे हुए था। समूचे जैन वाङ्मय का आदि से अन्त तक दो-दो बार अवगाहन, नोट्स और टिप्पणियों और पर्चियों (जिन्हें आज की भाषा में 'इण्डेक्स कार्ड' कहना चाहिए) के आधार पर अपनी ही प्रज्ञा से विधि और प्रविधि का आविष्कार करके कोश के वर्गीकरण की अद्भुत सूझबूझ वर्णीजी ने दिखाई। और, एक विशेष बात यह है कि अच्छे अच्छे डिजाइनरों और ड्राफ्ट्समैनों की कला और अनुभव को मात देने वाले वर्णीजी ने अपने हाथों सारणियों का निर्माण किया। एक बात हो तो आदमी कहे कि यह विशेषता है, यहाँ तो मानो विशेषताओं का विश्वकोष ही प्रत्यक्ष हो रहा था। मैं तो आज भी कहता हूँ कि यदि भारतीय ज्ञानपीठ ने जैन साहित्य के प्रकाशन में और कुछ न भी किया होता, केवल यह कोश ही छापा होता तो साहू शान्तिप्रसादजी और रमाजी का यश इसी कारण भी स्थायी हो गया होता।

जैनेन्द्र कोश की तैयारी का कथानक तो अद्भुत है ही, इसके प्रकाशन का अनुभव भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं। वर्णीजी ने प्रत्येक शब्द के अन्तर्गत आने वाले विषय, वर्ग, उपवर्ग और आनुषंगिक संदर्भों को, आधारभूत मूल पाठ और उसके हिन्दी अनुवाद को दर्पणवत् स्पष्ट करने के लिए इतने प्रकार की हस्तलिपि का उपयोग किया कि उनके मुद्रण के लिए एक टाइप फाउण्ड्री को पूरा का पूरा टेक्निकल सेक्शन स्थापित करना पड़ा, और भिन्न-भिन्न टाइप फेसेज की ढलाई का प्रबन्ध करना पड़ा। वर्णीजी से हम लोगों ने टेक्निकल मामलों में कितना सीखा! कोश की सामग्री को बहु-विधि टाइप में कम्पोज करने वाले कम्पोजीटर अपने अनुभव के कारण भारत के विशिष्ट कम्पोजीटरोंमें माने-जाने चाहिए यह मेरा मत है। वर्णीजी ने जो चमत्कारी काम जिस ढंग से किया उसके लिए यदि उन्हें 'जैन वाङ्मय वारिधि' और 'संपादकाचार्य' का विरुद प्राप्त होता तो उचित था। आज भी उनकी स्मृति के लिये यह उचित है। सौभाग्यशालिनी है वह शिष्या जिन्होंने अपने गुरु के रूप में वर्णीजी के प्रति भक्ति और निष्ठा समर्पित की। इस कोश के निर्माण में इनकी तपस्या किस सीमा तक सक्रिय रही यह इन पंक्तियों के लेखक को पता है। यथावसर उसकी चर्चा आयेगी।

जैनेन्द्र सिद्धांत कोश के निर्माण की और उसकी प्रकाशन प्रक्रिया को सुलझाने की उपलब्धि ने वर्णीजी के लिए यश के द्वार खोल दिये। भारतीय ज्ञानपीठ ने उनकी अनिच्छा के बावजूद, साहू शान्तिप्रसाद जी और रमाजी ने एलाचार्य मुनिश्री विद्यानन्दजी महाराज के सान्निध्य में १ दिसम्बर १९७४ को वर्णीजी का सार्वजनिक अभिनन्दन आयोजित किया। किस बेबसी मे वर्णीजी हमारे पूर्व घोषित आयोजन की 'सम्मान' रक्षा के लिए पधारे, यह मैं जानता हूं। कोश निर्माण के यश के कुसुम में एक ऐसा काँटा आ पड़ा कि वर्णीजी क्षत-विक्षत हो गये। उनकी शान्ति भंग हो गई। ऐसे व्यामोह का प्रतिकार उनके अन्दर से उपजा, जो राग-विराग से परे, आत्म-साधना का एक-

मात्र अन्तरंग मार्ग है। जैसा मैंने प्रारंभ में लिखा, विरक्ति से उपजी आत्मोपलब्धि ने वर्णीजी को समाधिमरण की ओर उन्मुख कर दिया। वीतरागता की साधना केवल उत्कट स्थिति में ही संभव थी, सो वर्णीजी ने गुरु कृपा से वह प्राप्त कर ली।

हम लोग जो पीछे रह गये हैं उनके हाथ में वह अपने जीवन की श्रमार्जित श्रुत सम्पदा छोड़ गये हैं उनका दायित्व है कि जैनेन्द्र सिद्धांत कोश का नया संस्करण जल्दी प्रकाशित करें। सन्तोष की बात यह है कि अपने जीवन काल में ही वह कोश का संशोधन कर गये और नये संस्करण की पाण्डुलिपि भारतीय ज्ञानपीठ के लिये श्री सुरेशचन्द गार्गीय के पास छोड़ गये। ज्ञानपीठ के वर्तमान अध्यक्ष साहू श्रेयांसप्रसादजी और मैनेजिंग ट्रस्टी श्री अशोक कुमार जैन इस विषय में कृतसंकल्प हैं। ज्ञानपीठ की ओर से, और व्यक्तिगत रूप से भी, मैं प्रयत्नशील हूँ कि बनारस के सन्मति मुद्रणालय में फँसे समूचे विशेष टाइप वहाँ के औद्योगिक विवाद के निपटारे के साथ-साथ प्राप्त हो जायें तो नये संस्करण का कार्य आगे बढ़े।

समाधिमरण की स्थिति के द्वार पर जब वर्णीजी पहुँचे तब तक वह कोश के प्रकाशन-अप्रकाशन के प्रति निरपेक्ष हो चुके थे। स्थितियों में तीव्र गति से परिवर्तन आया। देखते-देखते वे निष्काम हो गये, स्वाधीन सत्ता में तल्लीन हो गये। उनके प्रति हमारे शत शत प्रणाम!

●

पत्रावली में झांकता
वर्णी दर्शन

• •

[आचार्य श्री समन्तभद्र जी का वर्णीजी को प्रेरक पत्र-दीर्घ उपवास के समय सन् १९७६]

श्री बाहुबली ब्रह्मचर्याश्रम, बाहुबली [कुम्भोज]

पो०—बाहुबली, कोल्हापुर
दिनांक–२९–१०–१९७६

ॐ

आपको महाराज जी ने अनेक शुभाशीर्वाद कहे हैं—आपका श्री १००८ बाहुबली क्षेत्र पर आगमन हुआ और आपने यहाँ के सबके हृदय पर अमिट छाप डाली, इससे महाराज को अतीव समाधान व आनंद हुआ—आपका जीवन अमोल है। वह और कुछ काल के लिये जीवित रहे यह भावना महाराज जी की तथा सब धर्म बंधुओं को होना स्वाभाविक है।

—आपका शरीर अभी कुछ काल तक स्थायी रह सकता है ऐसी हालत में आप उसकी उपेक्षा न करें—यहाँ आप आये थे उस समय आपकी तबीयत जैसी थी, वैसी ही है ऐसा वहाँ के विद्वान् धार्मिक लोगों का अभिप्राय है। ऐसी हालत में उसकी उपेक्षा करना कभी भी योग्य नहीं होगा—

—स्वर्ग में जाकर असंयमी जीवन बिताने की अपेक्षा ज्ञानीजन आप सरीखे संयमी जीवन ही पसंद करते हैं। इसलिए शरीर त्याग का विचार आता हो तो वह छोड़कर संयमी जीवन जितना अधिक काट सकें ऐसा ही प्रयत्न आपके तरफ से होना इष्ट है ऐसा महाराज का स्नेहपूर्ण निवेदन है।

—महाराज की भावनाओं को विचार में लेकर आपसे अनुकूल उत्तर मिलेगा ऐसी महाराज अपेक्षा करते हैं।

—आपको परिणाम विशुद्धिपूर्वक स्वात्मोपलब्धि व शिव सौख्य सिद्धि हो यह ही महाराज का आपको शुभाशीर्वाद तथा भावना है।

[पूज्य वर्णीजीको श्रीराधा कृष्ण बजाज का पत्र, दीर्घ उपवास के समय सन् १९७६]

गोपुरी, वर्धा (महाराष्ट्र)
दिनांक–२८-१०–१९७६

आदरणीय वर्णीजी महाराज !

सादर प्रणाम ! परसों मुन्नी बाबू का फोन आया तो पता लगा कि आपका २५ दिन से उपवास चल रहा है और आगे आपने संथारा का विचार किया है यह भी जानकारी मिली। पूज्य बाबा ने आपकी उम्र पूछी। मैंने करीब ६० बतायी। पूज्य बाबा ने कहा, यह हो सकता है वर्णी जी के बदले बाबा संथारा करे। बाबा के आग्रह से 'समणसुत्तं' बन गया, तो बाबा पर जिम्मेदारी आती है, बाबा की उमर भी ८१ साल हो गयी। महावीर ७२ में गये, गौतम बुद्ध ८० में, शंकराचार्य ३२, जीसस ३३, ज्ञानदेव २२, तुकाराम ४२, एकनाथ ६६, नामदेव ८० और बाबा ८१ तब एक बहन ने कहा कबीर १२०। बाबा के मन में कई बार यह विचार आया है।

इतनी बात के बाद दूसरे दिन फिर से गया तो कल बाबा ने आपके नाम शुभकामना अपने हाथ से लिख दी। वह पत्र श्री मूलचंद जी के साथ भेज रहा हूँ।

इस जानकारी के बाद मेरा चित्त भी आपसे मिलने के लिए आतुर है।...पूज्य बाबा को इस प्रसंग पर आपके गुरु महाराज श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी का स्मरण हुआ।

आशा है पानी बराबर लेते रहेंगे। आपसे मिलने की मनोकामना पूरी होगी, ऐसी उम्मीद है।

आपका

राधाकृष्ण बजाज

आत्माभिव्यक्ति पत्र के माध्यम से

डॉ० दयानन्द भार्गव

आचार्य तथा अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय

१७-५-८३

ज्योतिपुञ्ज क्षुल्लक श्री १०५ जिनेन्द्र वर्णी जी। मेरा यह पत्र आप तक पहुँचे / न पहुँचे। आप तो निमित्त हैं। यह पत्र तो आत्म-सम्बोधन ही है। जब चैतन्य की शीतल आभा भिगो रही हो तो जड़ का तमम् आपका स्पर्श न कर रहा होगा। अनादिकाल से रूप, रस, गंध, शब्द तथा स्पर्श की प्रत्येक पर्याय भोगी। वह क्षण तो आज आया जब अनंत दर्शन, ज्ञान, वीर्य तथा सुख की झलक मिल सके। कर्तृत्व-भोक्तृत्व तथा दृष्ट-भोक्तृत्व में विकल्प है। एक विकल्प सरल है क्योंकि चिर अभ्यस्त है, दूसरा विकल्प सहज है क्योंकि स्वाभाविक है। सहज का वरण करें, सरल का नहीं। मुझ जैसे हजारों अपना मनोबल आपके साथ लगाये हैं— चाहे आपसे दूर ही क्यों न हों। आपके ऋण से उऋण होने का तो उपाय केवल स्वभाव में स्थित होना है— उसका पूर्ण पुरुषार्थ करूँगा। आप अस्पर्श योग में रहें। सुख-दुःख का स्पर्श शरीर विचार का स्पर्श मन तथा विषयों का स्पर्श इन्द्रियाँ करती हैं। आप किसी का स्पर्श नहीं करते न कोई आपका स्पर्श करता है। अतः आप अडिग हैं। अविचल हैं। इसी भाव में स्थिर रहें। यह किसी के लिए भी कठिन नहीं, क्योंकि यह स्व स्वभाव है। फिर आपके लिए यह कठिन कहाँ जो आजीवन सिद्धान्त सागर में अवगाहन करते रहे? मुक्ति का देश-काल से सम्बन्ध नहीं। मुक्ति अभी यहीं है। आप मुक्त ही हैं। मुक्ति को भविष्य पर मत टालिए। अभी यहीं ग्रन्थिरहित होकर निर्ग्रन्थ बन जायें। सम, शम तथा श्रम—समण के तीन आधार हैं। श्रम आपने किया—अब उसके फल सम तथा शम को प्राप्त हों। देखें! भवसागर का तट दिखायी दे रहा है। बस अमूर्च्छित होकर जाग जायें वहाँ, जहाँ कभी सुषुप्ति नहीं होती। मेरे वचनों पर कोई प्रतिक्रिया न करें। प्रतिक्रिया हीन हो जायें।

अश्रुस्नात मन से दयानंद भार्गव

[कमला बहन को प्रेषित वर्णी जी का पत्र]

ॐ

दिनाक ४-११-६८

पूजन व भक्ति दो प्रकार की है—एक भेद भक्ति, दूसरी अभेद-भक्ति। पहली व्यवहार है और दूसरी निश्चय। पहली साधन है और दूसरी साध्य। सौभाग्य से साध्य को प्राप्त हो जाने पर फिर साधन की क्या आवश्यकता रह जाती है? जैसे कि मंजिल पर पहुँच जाने पर फिर सोपान की क्या आवश्यकता रह जाती है? साध्य की प्राप्ति भी दो प्रकार की है—एक क्षण मात्र के

लिए, दूसरी सदा के लिए। यहाँ भी पहली व्यवहार व साधन रूप है और दूसरी निश्चय व साध्य अपनी शक्ति व स्थिति को देखते हुए सर्वत्र साध्य को उत्तरोत्तर प्राप्ति ही लक्ष्य होना चाहिये। अत: पूजन करते समय दृष्टि भगवान् से हटकर हरक्षण को अन्दर में जाना इष्ट ही है। जहाँ वहाँ से बाहर आये तो पुनः भगवान् का आश्रय ले ले। 'उर' के सिंहासन पर पग रखने का अर्थ भी यही कि बाहर में दिखने वाले प्रभु अंदर में दिखने लगें। अन्दर दिखना भी दो प्रकार का है— एक ज्ञेय रूप में अपने से पृथक् दिखना और दूसरा स्वयं अपने को अपने से देखना। यहाँ भी पहला व्यवहार होने से साधन है और दूसरा साध्य होने से निश्चय है। जितना हो सके अन्दर उतरकर अपने निकट होते जाना श्रेय है।

प्रभुकृपाकांक्षी, जिनेन्द्र

[जयकृष्ण जी की माता जी को प्रेषित वर्णी जी का पत्र]

ॐ

पानीपत
२४–११–६८

प्रेमपूर्ण माँ जी ! कल्याण भाजन हो।

पत्र मिला। जो कुछ लिखा वह आपके लिए योग्य ही है, क्योंकि प्रेम अवश्य अपने को क्षुद्र व प्रिय को महान् देखता है। यदि ऐसा न हो तो उसे प्रेम ही कौन कहे।

माँ जी ! प्रेम ही सच्ची साधना है, पर ज्ञान, व्रत, चारित्र, तप आदि के अहंकार के कारण आज कोई भी इस परम तत्त्व की महिमा को नहीं जानता। प्रेम साक्षात् रस है। आपके हृदय में उसकी एक रेखा मात्र प्रवेश पा सकी है। इसे अपना बड़ा सौभाग्य समझना चाहिए और एक अपूर्व निधिवत् इसकी रक्षा करनी चाहिए। ज्ञान की प्राप्ति बहुत दुर्लभ है। इसी से प्रेम व भक्ति को कलियुग का सर्व प्रधान धर्म कहा गया है, जिसका साक्षात् परिचय वर्तमान भव में ही प्राप्त हो जाता है।........

प्रभुकृपाकांक्षी—जिनेन्द्र

[स्व० अयोध्या प्रसाद को वर्णी जी का पत्र]

ॐ

रोहतक
१९–१२–६८

भव्यमन अयोध्या प्रसाद ! कल्याण भाजन हो।

पत्र मिला। तुम्हारी भावुकता तुम्हें प्रेम में प्रतिष्ठित करके प्रभु के दर्शन की योग्यता प्रदान करे, जिससे कि आप प्रभु के निकट पहुँचकर भव के संताप से मुक्त हो जायें।

मैं तो प्रभु का सेवक हूँ, उस प्रभु का जो कि मुझे आपमें व सबमें दिखाई देते हैं। यही कारण है मेरे हृदय में सबके प्रति प्रेम उमड़ने का। प्रभु करें आप भी अपने भीतर उस प्रभु को खोज सकें। जब भी आओ स्वागत है।

प्रभुकृपाकांक्षी—जिनेन्द्र

[श्री जयकृष्ण की माता जी को वर्णीजी का पत्र]

रोहतक
१९-१२-६८

ॐ

भव्यमन माँ जी ! कल्याण भाजन हो।

प्रेमपूर्ण पत्र मिला। प्रभु की कृपा ही सर्वत्र वांछनीय है। व्यक्ति के हृदय में जो कल्याण की भावना कदाचित् जागृत होती है, वह उसका ही अनुग्रह है। आपको वह प्राप्त है। घर के अन्य झंझटों के कारण उस अनुग्रह को गँवाना योग्य नहीं।

जीवन का बहुभाग बीत चुका। अल्पमात्र शेष है, इसे परमार्थ के चरणों में अर्पण कर देना ही इस भव व पर-भव के लिये कल्याणकारी है और इसी में जीवन का सार्थक्य है।

आपका इस बच्चे के प्रति का प्रेमपूर्ण यह सुकोमल हृदय समस्त विश्व को आत्मसात् करने के योग्य हो जाये। यही प्रेम की महिमा है कि इसमें कोई पर दीखता ही नहीं। स्व व पर के भेद समष्टि में विलीन होकर एक महासत् के दर्शन होने लगते हैं। इसी से प्रेम को भगवान् कहा है।

जब कभी भी आपको अवकाश हो आ सकती हैं। मेरी ओर से हर समय स्वागत है। अन्य बहनों, माताओं व बच्चों को भी पत्र पढ़वा देना।

प्रभु कृपाकांक्षी—जिनेन्द्र

[माता सरस्वती को वर्णी जी का पत्र]

रोहतक
११-३-६९

ॐ

अध्यात्म जिज्ञासु माँ जी कल्याणभाजन हो।

भावपूर्ण पत्र मिला। अध्यात्म प्राप्ति तो दूर उसकी जिज्ञासा को भी अतिदुर्लभ जानते हुये अपना सर्वप्रयास उसी के प्रति उडेलने में ही विवेक की परीक्षा है। माँ जी ! इस जीवन को अगले जीवन का बीज समझते हुये इसे यों ही गँवा देना योग्य नहीं।

प्रयास करना कर्तव्य है। प्राप्ति-अप्राप्ति प्रभु के अधीन है। इस प्रसंग में जिस प्रकार की भी सहायता मुझसे लेने की इच्छा हो मैं देने को तैयार हूँ। हर प्रकार निर्द्वन्द्व होकर उद्यमशील होने का प्रयत्न करें। शेष शुभ ! प्रभु कल्याण करें—

प्रभु कृपाकांक्षी—जिनेन्द्र

[मिर्जा बहन को वर्णीजी का पत्र]

रोहतक
दि० २८-४-६९

ॐ

धर्मवत्सल बहन कल्याण भाजन हो,

पत्र आया था। भाव अत्यन्त पवित्र व कल्याणकारी हैं। कर्मकृत अन्तराय के सामने हाथ अड़ाना सम्भव नहीं। हर अवस्था में सन्तुष्ट रहना ही अध्यात्म का सार है। प्रभु आप सब बहनों,

माताओं व बच्चों को प्रकाश प्रदान करें, जिसमें कि उसके साक्षात् दर्शन करके आप कृतकृत्य हो सकें। मैं तो उनका एक तुच्छ सेवक हूँ, उनकी आज्ञा पाने पर तुरत आऊँगा। अतः चिन्ता न करें। जब तक वह समय न आवे तब तक नित्य स्वाध्याय, मनन व चिन्तन में रत रहना चाहिये। इस पंचमकाल में मुमुक्षुओं के लिये मात्र यही शरण है। २४ घण्टे प्रभु का स्मरण रखना चाहिये। पद-पद पर तात्त्विक भावनाओं से मन का समाधान करते रहना चाहिये। याद रखो कि मन्दिर धर्म की पाठशाला है और घर उसकी प्रयोगशाला।

प्रभुकृपाकांक्षी, जिनेन्द्र

[मिर्जा बहन को वर्णी जी का पत्र]

१४-५-१९७१

ॐ

बहन मिर्जा, कल्याण हो,

पत्र बहुत देर से मिला, इसी से उत्तर में देरी हुई। हे बहन ! प्रकृति के इस विशाल नाटक में 'मैं', 'तू' नाम के छोटे-छोटे व्यक्ति तो अहंकार जन्य क्षुद्र पात्र हो हैं। अहंकार ही की ऐसी टेव है कि वह सोचे कि "ऐसा होना चाहिये, ऐसा नहीं अथवा ऐसा उसने किया, ऐसा मैं करूँगा" वास्तव में सब कुछ प्रकृति के आधीन है। क्षण भर का अहंकार हटाकर देखें तो न 'मैं' है न 'तू' एक विशाल प्रकाश जिसमें समस्त विश्व डूब गया है, अचल होता हुआ भी चल है और चल होता हुआ भी अचल।

किसी दूसरे की तरफ न देखकर और न ही अपने नाम-रूप की परिधि में बद्ध इस क्षुद्र व्यक्तित्व को देखकर, सब कुछ भार सर से उतारकर, मात्र उसकी ओर देखना, यही कल्याण का सच्चा मार्ग है। रूढ़ियों का जिससे कोई भी संबंध नहीं, न ही, है जैन अथवा अजैन की सीमाबद्ध सम्प्रदायों का। तू भी स्वतंत्र है और तेरा मार्ग भी। मंदिर हो या घर, वन हो या नगर सर्वत्र एक ही बात है। प्रकाश, शांति व व्यापक प्रेम ये ही हैं कुछ स्थूल लक्षण कल्याण की जागृति के।

बहन ! भगवान् करें तुम्हें वे प्राप्त हों। उसी आज्ञा होने पर यह शरीर भी अपनी बहन को सान्त्वना देने के लिये वहाँ अवश्य आयेगा।

[श्री नानक चन्द को प्रेषित वर्णीजी का पत्र]

ॐ

भद्र हृदय नानकचन्द जी कल्याण भाजन हो,

दुःख-सुख सभी बिना बुलाये कर्म के उदय से व्यक्ति को स्वतः प्राप्त होते रहते हैं। काई पर पाँव फिसलना अथवा अन्य भी किसी चेतन या अचेतन विभिन्न की प्राप्ति सब विधाता के इस अकाट्य विधान के अन्तर्गत हैं। क्या राजा तथा क्या रंक, क्या ऋषि जन तथा क्या पापी जन, कोई भी महाप्रभु की इस सहज धारा को रोकने में समर्थ नहीं है। पिछले वर्ष बुखार आता रहा और इस वर्ष यह चोट आ गई। खैर जो कुछ भी है उसकी कृपा है। भले ही कष्टप्रद प्रतीत हों परन्तु वास्तव में तो यह सब उसकी दया ही है। वह छोटे-मोटे प्रायश्चित्त देकर व्यक्ति की भव-भवान्तर गत महान् विपत्ति से रक्षा कर लेता है। घबरायें नहीं, शान्ति से सहन कर लीजिये। विष की घूँटवत् नहीं अमृत की बूँदवत्। विपत्ति समझ कर नहीं, उसका आशीर्वाद समझ कर। उसके

ढंग निराले हैं। हम समझ नहीं सकते। उसी का चिन्तन करें, उसी की शरण को प्राप्त हों। वे रक्षा करेंगे। शीघ्र ही संकट की निवृत्ति करेंगे।

हे प्रभु ! इस भद्रात्मा की रक्षा कर, उसे प्रेम प्रदान कर।

[मंजू जैन को प्रेषित वर्णी जी का पत्र]

ॐ

ईसरी
दिनांक २५-६-७७

बेटा मंजू, प्रसन्न रहो !

पत्र मिला ! तुम्हारी तथा इसी प्रकार बनारस की सभी बहनों तथा बच्चों की आग्रहपूर्ण पवित्र भावनायें निःसंदेह चित्त को खेंचती हैं परन्तु बेटा ! आने-जाने के विषय में मैं वास्तव में स्वतंत्र नहीं हूँ। सब कुछ प्रभु के आधीन है। वह जहाँ कहते हैं चला जाता हूँ और जहाँ कहते हैं रह जाता हूँ। इसलिए इस विषय में कोई भी निश्चित उत्तर देने के लिए समर्थ नहीं हूँ।

सुशील मेरा बच्चा है। उसे देखकर अवश्य मुझे हार्दिक शान्ति होगी। लेने के लिए तो नहीं परन्तु वैसे वह आना चाहे तो इसमें मुझसे पूछने की क्या आवश्यकता है। मां जितना प्यार तो सम्भवतः मैं उसे न दे सकूँ परन्तु इतना विश्वास है कि वह मेरे पास हर प्रकार से सन्तुष्ट रहेगा। जब तक उसका दिल हो रहे, मैं उसे हृदय से लगाकर रखूँगा।

बेटा ! गृहस्थ के विषय में अधिक तो मुझे अनुभव नहीं है, परन्तु जैसा कि प्रायः देखने में आया कि हर घर में ही हीन या अधिक कुछ न समस्यायें अवश्य रहती हैं। ये न हों तो इसे संसार कौन कहे और इसे छोड़ने की कौन इच्छा करे। गृह-क्लेश का प्रधान कारण प्राय आर्थिक संकट हुआ करता है। अन्य कारण भी होते हैं। समझदारी इसी में है कि व्यक्ति अपने जीवन को तद-नुसार ढालकर समन्वय कर ले। बेटा ! क्लेश बढ़ जाने पर घर नरक बन जाता है और समन्वय पूर्वक पारस्परिक सहयोग तथा प्रेम उत्पन्न हो जाने पर वहाँ स्वर्ग बन जाता है। इस प्रकार स्वर्ग तथा नरक की सत्ता वास्तव में कहीं नहीं बाहर है। व्यक्ति का अपना हृदय ही इनका निवास स्थान है। बच्चे ! इस समय तू ही घर में सबसे बड़ा है तथा साथ-साथ समझदार भी है। जिस प्रकार भी सम्भव हो समन्वय करने का प्रयत्न कर। दूसरे को बदलने की बजाये अपने को बदल लेना सरल है। कुछ मन को समझा लेना ही पर्याप्त है भगवान् का यही उपदेश है कि दूसरे के अनुसार अपने को ढालकर निष्ठा से अपने काम करते रहना सुख व शांति का मूल मंत्र है। इसी से भगवान् सन्तुष्ट होते हैं। सहनशीलता के बिना वह सम्भव नही।

बेटा ! इतनी दूर बैठकर मैं तुम्हारी क्या सहायता कर सकता हूँ। वहाँ होता तब भी लगभग यही कहता जो कि यहाँ कहा है। इतनी बात अवश्य है कि साक्षात् सामने होने पर आप सब प्रेमवश मेरी बात को मानकर तदनुसार वर्तन करते। इसमें किंचित् भी प्रमाद न करते और उत्साह के कारण उसमें तुम्हें कोई कष्ट भी न होता, परन्तु परोक्ष होने के कारण सम्भवतः अब ऐसा करना कुछ कठिन प्रतीत हो। परन्तु बेटा ! इसके अतिरिक्त अन्य उपाय नहीं। कर्तव्य तो सभी का यही है, परन्तु यदि सब न कर पायें तो जितने भी करें वही अच्छा है। दुःखों की चिन्ता न करें। उनको सह लेने में ही कल्याण है।

ॐ

[रतनजी को वर्णीजी के दो पत्र]

- १ -

बेटा रतन, 30-१२-७६

प्रसन्न रहो।

पत्र प्राप्त हुआ, उत्तर में इसके अतिरिक्त और क्या लिखूं कि परम सौभाग्यवश जो जिज्ञासा तुझे प्रभु ने प्रदान की है उसकी अधिक से अधिक रक्षा कीजियो, क्योंकि दुर्लभ वस्तु का टिकना प्रायः दुर्लभ हुआ करता है। समय की प्रतीक्षा कर जब कि वृद्धिगत होकर इस अंकुर का वृक्ष बन जावेगा, जिसमें तृप्ति के सुमिष्ट फल लगने वाले हैं।

पढ़ा हुआ स्मरण न रहना कोई चिन्ता का विषय नहीं, चिन्ता एक ही होनी चाहिये कि दृष्टि सत्य पर है, असत्य पर नहीं। असत्य की शक्तियाँ अनन्त हैं, गुरु-कृपा के बिना उनसे बचे रहना प्रायः असम्भव हुआ करता है।

तू कभी रूढ़ियों का अथवा लोक दिखावे का शिकार न हो। प्रभु तुझे बराबर असत्य से सत्य की ओर ले चलें, तम से ज्योति की ओर ले चलें, मृत्यु से अमृत की ओर ले चलें। इस दिव्य-सम्पत्ति का दर्शन व्यक्ति स्वयं अपने भीतर कर सकता है, दूसरों के सर्टिफिकेट की इसमें आवश्यकता नहीं, न ही शास्त्र-ज्ञान की आवश्यकता है। हार्दिक-भावना की जिसकी अभिव्यक्ति हृदय में ही होती है, ओठों पर नहीं और आँखें जिसकी गवाही देती हैं—बाह्य क्रियायें नहीं। अत्यन्त गुप्त हैं ये लक्षण, बाह्यदृष्टि वालों में इतना धैर्य कहाँ कि इतने मात्र पर सन्तोष कर सकें। उन्हें चाहिये बाहर वालों की गवाही और इसलिये असत्य से सत्य की ओर जाने की बजाय वह चला जाता है, सत्य से असत्य की ओर। प्रभु तेरी इस महादैत्य से रक्षा करें।

अच्छा तो यही होता कि तू अपने अन्तर्गुरु के संकेत को समझ जाता और उनके आदेशानुसार मुझे भोपाल ले जाने का आग्रह करने से पहिले कुछ समय मेरे साथ रह कर देख लेता।

परन्तु खैर जो हुआ वह भी ठीक ही है, क्योंकि प्रभु का विधान कभी बेठीक होता ही नहीं!

– २ –

[रतनजी को वर्णीजी का पत्र]

ॐ

बेटा रतन, १५-१-७७

प्रसन्न रहो।

पत्र आया था। कुछ दिन पश्चात् उत्तर भी दे दिया था। न जाने क्यों नहीं मिला। सम्भवतः अब मिल गया हो। बेटा! परमार्थ के इस पावन मार्ग में जिसमें पदार्पण करने की प्रेरणा प्रभु कृपा से तेरे भीतर जाग्रत् हुई है, बाहर में देखना अथवा बाहर में कुछ पढ़ना या करना उतना आवश्यक नहीं, जितना कि स्वयं अपने को देखना, अपने को पढ़ना तथा अपने में ही कुछ करना। बेटा! शास्त्रों में बन्ध व मोक्ष की लम्बी-चौड़ी व्याख्यायें हैं और व्याख्याकार उनको और भी विस्तार करके प्रतिपादन करते हैं। मेरी समझ तो ऐसी है कि यदि व्यक्ति अपने मन को पढ़ना सीख लेता है तो उसके लिये ये व्याख्यायें व्यर्थ हो जाती हैं और उनकी स्मृति भी बुद्धि का भार बन जाती है। बेटा! यथार्थ में देखा जाय और संक्षेप में कहा जाय तो इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि मन ही बन्धन है और मन ही मोक्ष। विभिन्न प्रकार के शुभाशुभ विकल्पों में उलझा हुआ मन बंधन है और समता में स्थित हुआ मोक्ष।

बच्चे ! तू नहीं जानता, बड़े-बड़े विद्वान्, शास्त्रज्ञ, प्रवक्ता, त्यागी तथा तपस्वी भी प्रायः दिग्भ्रांत ही हैं। क्योंकि दूसरों को उपदेश देने तथा दूसरों के दोष देखने में ही सब रत हैं। क्या ही अच्छा हो कि व्यक्ति दूसरों को उपदेश देने की बजाय मौन रहकर स्वयं अपने को उपदेश देना सीख ले और दूसरों के दोष देखने की बजाय स्वयं अपने दोष देखना जान जाय, यही परमार्थ विद्या है, सकल विद्याओं का सार है।

बेटा ! व्यक्ति के हृद्देश में दो शक्तियाँ सदा काम करती रहती हैं—आसुरी व दैवी। आसुरी-शक्ति व्यक्ति के देह, इंद्रिय, मन तथा वाणी को अपने रंग में रंग कर उसे सत्य से असत्य की ओर, ज्योति से तम की ओर और अमृत से मृत्यु की ओर ले जाती हैं।

इसी प्रकार दैवी-शक्ति उसके देह, इन्द्रिय, मन तथा वाणी को अपने रंग में रंगकर उसे असत्य से सत्य की ओर, तम से ज्योति की ओर और मृत्यु से अमृत की ओर ले जाने का मार्ग प्रशस्त करती है। परन्तु अनादि काल से परिपुष्ट होती चली आने के कारण असत्य की आसुरी शक्ति इतनी बलवती है कि सत्य की दैवी शक्ति कुछ भी कर नहीं पाती, उसकी झीनी सी आवाज़ असुरों की गर्जना के नीचे दबकर समाप्त हो जाती है।

ये असुर बड़े चतुर कलाकार हैं। ऐसे-ऐसे स्वाँग भरकर सामने आते हैं कि चतुर से चतुर विद्वान् भी चक्कर खा जाते हैं और उन्हें देव या सत्य समझकर उनका अनुसरण करने लगते हैं; फल निकलता है व्यर्थ का परिश्रम तथा दीर्घ संसार। धन्य हैं वे जिनको प्रभु की वह अहेतुकी कृपा प्राप्त हो गई, जिसके कारण कि अपने भीतर खेले जाने वाले असुरों के इस प्रलोभनकारी स्वाँग को वे परख जाते हैं और पद-पद पर स्वयं उनसे सावधान रहकर दैवाधीन सत्य का अनुसरण करते हैं। लोकभय तथा लोकलाज को छोड़कर उसकी अनन्य शरणग्रहण करते हैं।

जगत् के लिये अन्धे, गूगे, बहरे बनकर स्वयं अपने हित को देखते हैं और वही करते है, अन्य कुछ नही। बच्चे ! जब भी तुझ पर प्रभु की यह कृपा अवतरित हो जावे और उसके फलस्वरूप तेरा वैराग्य परिपक्व हो जाय। तेरा चित्त जगत् में प्रसिद्ध धार्मिक व अधार्मिक क्षेत्र में सर्वत्र प्रपंच के दर्शन करने लगे, तब समझ कि तुझमें पात्रता उत्पन्न हुई है। इसके पश्चात् सब कुछ गुरु के आधीन हो जाता है। गुरु स्वयं उसके पथ के सर्व कंटक हटाते जाते हैं और उसकी उँगली पकड़ कर उसे इस प्रकार धीरे-धीरे ऊपर चढ़ाते हैं कि उसे कुछ भी कठिनाई प्रतीत नहीं होती, वे गुरु मुझ पर प्रसन्न हों।

[अरहन्त को वर्णी जी का पत्र]

ॐ

२३-८-७८
वाराणसी

बेटा अर्हन्त,

पत्र मिला। जो कुछ मैंने पत्र में लिखा था उसी का अनुभव तूने किया है। हे बच्चे ! भगवान् ने तुझे चारों ओर से कवच किया है। तू निश्चिन्त तथा निर्भय हो। यह सब तेरे हृदय की पवित्रता का चमत्कार है। बड़े-बड़े पण्डित तथा तपस्वी भी इसके लिये तड़पते हैं।

यह ठीक है कि भगवान् भक्त के वश में होते हैं परन्तु भक्त के हृदय में भक्ति का गर्व आने पर वे लुप्त हो जाते हैं। यही लीला उन्होंने गोपियों के साथ खेली थी। यद्यपि वे उनके बीच स्थित थे परन्तु अहंकार उदित होने के कारण वे उन्हें देख नहीं पा रही थीं।

कोई चिन्ता न कर इस अहंकार को भी उनकी कृपा ही दूर करेगी। तूने उनका पल्ला पकड़ा है पकड़े रह फिर क्या भय है। घर वाले तेरी स्थिति को नहीं जान सकते परन्तु मनोरमा जान सकती है, तथापि भ्रातृ-स्नेहवश ही उसे तेरे विषय में कुछ चिन्ता हुई है। घर वालों के साथ तो तुझे इसी प्रकार चलना होगा। अपनी ओर से जानबूझ कर कोई कार्य ऐसा न कर जो उन्हें अरुचिकर हो। भगवान् की दी हुई अवस्था को बदलना तेरे हाथ में नहीं है। वही रक्षक हैं, वही खिवैया हैं, उन्हीं के चरण परम-शरण हैं।

भगवान् तेरा कल्याण करे। उन्हीं पर भरोसा कर। यदि अर्थ और काम पुरुषार्थ तेरे भाग्य में बदा है तो अवश्य तेरी व्यवस्था हो जायेगी। परन्तु यदि धर्म तथा मोक्ष पुरुषार्थ ही भगवान् ने तुझे देकर भेजा है तो तू ही बता दूसरे मार्ग में तुझे सफलता कैसे मिल सकती है? मेरा बच्चा! भगवान की ओर उन्मुख हो, यह हृदय से प्रार्थना है।

ॐ

[पं० राजमलजी को वर्णीजी के दो पत्र]

– १ –

वाराणसी
२६-११-८१

सत्यान्वेषी पं० राजमलजी धर्मवृद्धि,

सत्योन्मुखी आपकी अभिरुचि अत्यन्त प्रशंसनीय तथा अनुमोदनीय है। बोधि दुर्लभ भावनाओं को समक्ष रखते हुए इस सुअवसर से अधिकाधिक लाभ उठाने में ही बुद्धि तथा विवेक की परीक्षा है। हे कल्याणकारी! आपसे यह बात छिपी नहीं है कि किस प्रकार हमने अनेकों बार ज्ञान प्राप्त करके भी केवल बाह्य-प्रपंच में उलझ कर उसे निरर्थक कर दिया। गुरु-कृपा से अब ऐसी गलती पुनः न हो। हे विवेकी! तुम जानते हो कि इस जगत् में सब स्वतंत्र बर्तन कर रहे हैं। फिर किसी को अपने अनुकूल बनाने की भावना ही उदित क्यों हो? तदपि यह बाहर की वासना इतनी गहरी है कि समीचीन अध्ययन कर लेने तथा समीचीनता को समझ लेने पर भी बाहर से हटने नहीं देती। उपादान ही सब कुछ है, यह जानकर भी हमारी निमित्ताधीन वृत्ति रुक नहीं पाती। देखो, कितनी बड़ी भ्रांति है कि मुख से तो उपादान की महिमा का गान करते हुए तथा निमित्तों के प्रति उपेक्षा बताते हुए भी हमारा चित्त बाह्य-जगत् से विरत नहीं होता। उसी में हेर-फेर करना हमें सुहाता रहता है, उसी में ही प्रवृत्ति करते रहते हैं और भ्रान्तिवश उसे ही समीचीनता मान बैठते हैं। यही तो माया है। भ्रान्त-आचरण को ही शब्द-ज्ञान से समीचीन मान लेने का फल जो होना है वही तो होगा। जानबूझ कर आँखें बन्द कर लेने से भय थोड़े ही टल जावेगा।

जब हमने जान लिया कि यह जगत् तो ज्ञेय मात्र है। इसका स्वरूप ही ऐसा है। तब इसमें हेर-फेर करने की बुद्धि क्यों हो? वह जैसा है, वैसा ही रहेगा। नियति को समझ लेने पर भी यदि इसकी उपेक्षा करके ज्ञाता-दृष्टा न बनें, तो फिर इस समझ का मूल्य ही क्या हुआ। सभी आध्यात्मिक-सिद्धांत हमें ज्ञाता-दृष्टा बनने की प्रेरणा दे रहे हैं, परन्तु उनकी वे सब प्रेरणाएँ इस माया के राज्य में आकर इस प्रकार उलटा रूप धारण कर लेती है। यह नाटक मार्ग को सरल बनाए।

हे प्रभु ! इतनी कड़ी परीक्षा लेने की सामर्थ्य इस पंचम-काल में बहुत कम है, यह समझ कर कुछ ढील कर दें तो अच्छा हो। मेरे हृदय से सभी धर्मात्माओं के प्रति ऐसी प्रार्थनायें सहज निकलती हैं। तथापि कर्म को टाला तो नहीं जा सकता, समतापूर्वक भोग लेने में ही श्रेय है।

ॐ

[राजमलजी को वर्णीजी का पत्र]

– २ –

वाराणसी
दि०-७-७-८२

भो आत्मार्थी,

अबकी बार आपका पत्र बहुत विलम्ब से प्राप्त हुआ। पत्र पर से उसका कारण ज्ञात हो गया है कि आपकी आँखों में खराबी बढ़ गई है। बच्चे की समस्या भी अभी सुलझी नहीं है। दोनों को दिखाने के लिए आपको बम्बई जाना पड़ा। मैं आपके इस संघर्षमय शांत जीवन को देखकर स्वयं के लिए प्रेरणा प्राप्त करता हूँ। यद्यपि जगत् में सर्वत्र कर्मों की सुनिश्चित व्यवस्था है, परन्तु जो इसे शान्ततापूर्वक स्वीकार कर लेता है वही ज्ञानी है। ज्ञान का सार जीव के इस समतामय-आचरण पर निर्भर करता है, खालिस चर्चाओं पर नही। भगवान् आपको बल दे तथा आपके देखने ही योग्य है। "हे प्रभु ! तुम अपनी प्रभुता को पहचान कर अब खेल तमाशायी बनकर जगत् का तमाशा देखो। इसमें ही कल्याण है। बाह्य-जगत् के साथ अपना कुछ भी प्रयोजन या सम्बन्ध न रह जाए यही निर्ग्रन्थता है, और इसी में नियति तथा पुरुषार्थ की मैत्री समाहित है। भगवान् आपकी भावना को अधिकाधिक उन्नति तथा प्रेरक बनाएँ। सत्यान्वेषण की भावना अत्यन्त दुर्लभ है। इसलिए जैसी भावना आपकी मेरे प्रति है, वैसे ही मुझे भी आपके प्रति होना स्वाभाविक है।"

ॐ

[सुश्री मनोरमा को वर्णीजी के दो पत्र]

लेखनी त्याग से पूर्व अन्तिम आशीर्वाद

– १ –

वाराणसी
१२-११-८२

बेटा मनो,

अर्हन्त का तथा तेरा पत्र मिला। मेरा बच्चा अर्हन्त आयेगा, मैं एक बार पुनः उसे हृदय से लगा सकूँगा। यह कितना सुखद समाचार है। तुझे धन्य है, तेरी गुरु-भक्ति को धन्य है, तेरी प्रभु-प्रीति को धन्य है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि तेरी भावनायें कभी खाली नहीं जा सकतीं। तुझे अवश्य ही प्रभु-मिलन होगा, उनका साक्षात्कार होगा। लीनता की प्राप्ति होगी। प्रभु-कृपा से जो मार्ग तथा दृष्टि तुझे मिली है वह सत्य है परम सत्य है। असत्य के प्रति भी तुझे भली-भाँति कवच किया जा चुका है। फिर कोई कारण नहीं कि प्रभु तुझे न मिलें।

हे बच्चे ! मेरे हृदय से आज शतशः सहस्रशः कोटिशः तथा असंख्य आशीर्वादें उमड़ी पड़ रही हैं अपने दोनों बच्चों के प्रति। भगवान् इस परमार्थ-पथ पर तुम दोनों की सहायता करे, तुम्हें बल प्रदान करें, भावनायें प्रदान करें, तुम्हारा मार्ग प्रशस्त करें। हे बच्चे ! यह शरीर असत्य है और इसकी समष्टि रूप यह जगत् भी असत्य है। सत्य तो केवल एक है और वह हृदय गुहा में स्थित है—वही मैं है और वही तू। वही भगवान् और वही भक्त। वही गुरु और वही शिष्य। वही स्वामी और वही सेवक। वही सागर और वही बिन्दु।

हे बेटा ! तू उसी का स्मरण कर, उसी का चिन्तन कर, उसी की शरण को प्राप्त हो, तेरा कल्याण हो, तेरी उन्नति हो, तू ऊपर उठे, तू परमार्थ की यात्रा करे, तेरे हृदय में ज्योति जगे। हे मेरे हृदय ! तू केवल ध्यान और अध्ययन में ही अपने मूल्यवान् क्षणों का उपयोग कर। एक क्षण भी व्यर्थ न जाने दे। इन दो कार्यों के अतिरिक्त जितने भी क्षण अन्यान्य कार्यों अथवा भावों में व्यतीत होते हैं; वे सब व्यर्थ हैं नष्ट हैं। तू अपने हीरा से जन्म को सार्थक कर।

मैं बाहर जा रहा हूँ। स्वयं जा रहा हूँ ऐसा मुझे प्रतीत नहीं हो रहा है, कोई अदृष्ट-शक्ति मुझे खेंच रही है, मैं नहीं जानता उसे क्या इष्ट है। सम्भवतः इसीलिये मेरा हृदय इस प्रकार उमड़ा पड़ रहा है।

तू किसी प्रकार की चिन्ता मत कीजियो। प्रत्यक्ष से अधिक परोक्ष में तेरे साथ हूँ, निर्भय होकर अपने मार्ग पर आगे बढ़ सत्य साधना कर। अपने परमार्थ में वृद्धि कर। इस लोक में अथवा परलोक में गुरु-शक्ति सदैव तेरा मार्ग दर्शन करेगी। अपने को तथा जगत् की व्यवस्था को तात्त्विक रूप में देख। इसी तत्त्व के चरणों में तुझे समर्पित करता हूँ। इसी के साथ बन्ध कर रहने में तेरा कल्याण है।

तू प्रसन्न रह तू वृद्धि कर, तू परम ज्योति को प्राप्त हो, तुझे भगवल्लीनता प्राप्त हो।

ॐ

– २ –

बेटा मनो,

तेरा भावनापूर्ण पत्र प्राप्त हुआ। हे बेटा ! सत्य कितना गहन गम्भीर तथा गुप्त है, यह बात तुझसे छिपी नहीं है, और इस तथ्य पर भी तेरा श्रद्धान अडिग है कि उसके अतिरिक्त बाहर में जो कुछ दिखाई तथा सुनाई देता है वह सब माया है, धोखा है। बड़े-बड़े ऋषि, मुनि, तपस्वी तथा ज्ञानी भी इसका उल्लंघन करने में समर्थ नहीं हैं। यदि इसमें आकर्षण न होता तो तू ही बता इसे माया कौन कहता ? माया तो माया है। संशय इसका मन्त्री है और कामना इसकी कुटिल दूती। जीवन में पद पद पर उसका जाल बिछा है, शास्त्रज्ञ केवल शब्दों में उसे जानते हैं और शब्दों में ही वर्णन करते हैं।

हे मेरे लाल ! बड़े से बड़ा धनी, बड़े से बड़ा शासक और बड़े से बड़ा ज्ञानी, ये सब इस माया के प्रसार के कारण ही असन्तुष्ट रहते हैं, अपने से अधिक धनी अथवा ज्ञानी को देखकर। इसी प्रकार पारमार्थिक-पथ में कीर्ति-प्रतिष्ठा का आकर्षण अजेय है। ज्ञान, ध्यान, तप, संयम आदि सब इसके फेर में पड़ कर व्यर्थ हो जाते हैं और साधक अपनी इस महती क्षति का अनुभव भी नहीं कर पाता। विपरीत इसके ज्यों-ज्यों प्रतिष्ठा बढ़ती है, उतना-उतना साधक अपने को सिद्ध समझने लगता है, फलस्वरूप अहंकार की वृद्धि हो जाती है।

ये सब बातें तेरे लिये कुछ नई नहीं हैं। हे बच्चे ! जब हृदय में स्थित सत्य से दृष्टि हटा कर तू बाहर की ओर देखता है, तभी इनका उदय होता है। साधक-दशा में ऐसा होना स्वाभाविक है, परन्तु विवेक की परीक्षा इसी में है कि मन की वकालत को तथा इसके चक्कर को अच्छी प्रकार भाँप जायें और इसके चक्कर में न पड़ें। हे बेटा ! सत्य के पथ पर अकेला सत्य है और कुछ नहीं और असत्य के पथ पर यह चित्र-विचित्र अखिल जगत् है। इसकी यह चित्रता विचित्रता ही मन को लालायित करती है।

हे बेटा ! प्रभु ने तुझे दुर्लभतम योग प्रदान किया है। जिसके लिए बड़े-बड़े योगी भी तरसते हैं और साथ ही साथ मार्ग तथा सत्य प्रेरणायें भी तुझे दी हैं। विवेक, वैराग्य, उपरति,

श्रद्धा तथा मुमुक्षत्व तुझे सहज प्राप्त हैं। शम, दम, तितिक्षा तथा समाधान इनमें कुछ कमी है जो साधना के द्वारा दूर होने वाली हैं। साधना बिजली के बटन की भाँति तुरन्त नहीं होती, वृक्ष की भाँति धीरे-धीरे विकसित होती हैं। तू अभी पढ़ाई से निवृत नही हो पाई है, इसी से मैं भी इस विषय में ढील कर रहा हूँ। इस कमी के दूर होने पर अन्तर्प्रकाश जागृत होगा।

निष्काम-सेवा की बात पूछी है, निष्काम-सेवा वही होती है जो बिना किसी संकल्प के सहज रूप से प्राप्त हो। ऐसे अवसर प्रदान करना भगवान् के आधीन है। निष्काम कर्म का कोई सीमित रूप नहीं है और न ही शास्त्रीय। तुझे स्कूल का अथवा घर का जो काम प्राप्त है वह निष्काम है। समाज बेचारी को क्या पता कि निष्काम कर्म किसे कहते हैं? कट्टरपंथी अहंकार व्यक्तियों से बच कर रहना ही अच्छा है भले मन कितना ही वाचाल करे।

अपने को अधिक से अधिक संयमित कर। प्रतिक्षण सावधान रह कर स्वाध्याय तथा ध्यान की साधना को दृढ़ कर। मेरा आशीर्वाद सदैव तेरे साथ है।

ॐ

पिता का पुत्र को पत्र

श्रद्धेय 'भाई जी'[1] है नमस्कार
पत्र मिले दो दिल हुआ आह्लाद
दर्द था आहोजारी थी
तड़प थी इक बेकरारी थी
लिख दिया कुछ कुछ समझ करके
लगा पता कि वह सब नादानी थी
बात थी लम्बी आपने छोटी कर दी
कह कर यह 'पहुँच गया सब ले लिया'
क्यों न शुक्रिया इस स्पष्ट भाषण का
बात खूब कही खूब कही इस सम्बोधन की
जो कुछ कहनी थी कही जा चुकी है अब
अब और क्या है पास बात कहने की
कुछ आप समझे कुछ समझ गया हूँ मैं
बात नहीं है कुछ घनी बढ़ाने की
यह दुनिया है बातें यों ही हुआ करती हैं
हो-होकर ये यों ही खत्म हुआ करती हैं
होती है कोइ दिल की लंग जाती है
फिर-फिर के वही आहों से भर देती है
क्या समझा था क्या निकल आया
नहीं पड़ा मँहगा कुछ इस सबक करके

---

१. श्रद्धेय वर्णीजी का पानीपत में प्रचलित नाम।

लो इस दर्द को मौं अब खत्म करते हैं
जो है जहाँ की उसे वहीं रखते हैं।
जो है अपनी वह ठीक है अपने पास
जो नहीं है अपनी उसे दिल से बिदा करते हैं
दुनिया यह यों ही आनी जानी है
जो है यह आज नहीं रहने वाली है
जो कुछ होना था हो लिया वह है
शेष अब सब इक राम कहानी है
खुशी है बस इस होश मन्द दिल की
खुश रहें आप सब आप की बसती
जो कुछ कहा सुना वह सब क्षमा कर दें
भूला रहा हूँ विगत आप भी विलग कर दें
लिखें क्या है अब आइंदा प्रोग्राम अपना
ताकि हाजिर हो सके पुनः जियारत में

श्रद्धेय वर्णीजी के पिता बाबू जय भगवान जी का उन्हें लिखा गया पत्र

सौजन्य—सुरेश जैन

●

[वर्णीजी का डॉ० कुमारी निर्मला जैन को प्रेषित पत्र]

ॐ

२५-११-७९

मेरे बच्चे

विवेक विज्ञान तथा धैर्य पूर्ण तेरा पत्र पढ़कर अत्यन्त सन्तोष हुआ। बच्चे ! तेरा यह निर्मल शैशव यद्यपि ज्ञानी जनों को अत्यन्त प्रिय है तदपि लौकिक व्यक्ति इसका मूल्य क्या समझ सकते हैं। पशुओं के मार्ग में पड़े मोतियों का क्या आदर हो सकता है। हे बेटा ! जिस महागण के लिए मुनि तरसते हैं वह समता ही इस स्वनाम धन्य यश के शरीर रूप में अवतरित है, इस बात को बिरले ही जानते हैं। परन्तु संसार में यदि सब कुछ अच्छा ही अच्छा हो तो इसे संसार कौन कहे और इससे निवृत्त होने का प्रयत्न कौन करे। फूल के साथ काँटा लगा है। विवेक की परीक्षा इसी में है कि काँटे से बचकर फूल का उपभोग करे। अपने उपासकों की परीक्षा के लिये ही माँ ने इस सुन्दर उपवन को विषमताओं से भर दिया है। विवेकहीन इसे वरवश कण्टकाकीर्ण देखते हैं और विवेकवान सर्वांग सुन्दर।

रत्न की परख जौहरी ही जानते हैं, रथ्या पुरुष नहीं। जौहरियों की संख्या सदा अत्यल्प होती है। यह देखकर रत्न अपने मूल्य को त्याग नहीं देता। तथापि उसे अपने भीतर छिपाये हुए ऊपर से साधारण पत्थर जैसे बना रहता है और उस समय तक उसे प्रगट नहीं होने देता जब तक कि पारखियों की संगति को वह प्राप्त नहीं हो जाता। हे मेरे लाल ! तेरा यह सद्गुण तेरे लिये क्रम-मुक्ति का साधन बनें। माँ तेरे [illegible]रों ओर जुटी हुई असत्य की इन भयावह शक्तियों से

तेरी रक्षा करे। विपरीत वृत्ति वाले व्यक्तियों के प्रति 'माध्यस्थता' धारण करने के लिये गुरुओं का आदेश इसलिये है कि मगरमच्छों से बैर साध कर सागर में वास करना सम्भव नहीं। जीवन की इस छोटी-सी नौका को इस क्षुब्ध महासागर में खेने के लिये बड़ी कुशलता चाहिये। इसीलिये व्यवहार कुशल व्यक्ति ही यहाँ प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं और परमार्थ कुशल व्यक्ति ही यहाँ प्रतिष्ठा को प्राप्त होते हैं और परमार्थ कुशल पीछे फेंक दिये जाते हैं। प्रभु के अनन्य भक्त इससे नहीं घबराते। उत्ताल तरंगों से टक्कर लेते हुए राम नाम की पतवार पकड़े वे आगे बढ़ते जाते हैं। जगत् उसे नहीं जान पाता।

हे प्रभु-प्रिय ! विपरीत तो यहाँ विपरीत हैं ही अविपरीत भी परमार्थतः विपरीत ही हैं, यह समझ कर सम्भल सम्भल पाँव रख। अब तक तू सदा गुरुजनों की गोद में निर्भय रहा, परन्तु अब तुम्हें इस पथ पर चलने के लिये अपने को तैयार करना है। घबराने की बात नहीं। अब भी वह तुझे कवच लिये हुए तेरी सब ओर विद्यमान है जिसने आज तक तेरी रक्षा की है। माध्यस्थ रहो का अभ्यास कर। सबके साथ प्रेम का व्यवहार कर। किसी की निन्दा न स्वयं कर और न ही किसी दूसरे के मुँह से सुन, भले ही वह तेरे लिए कितना भी विपरीत क्यों न हो। मन में सब कुछ समझ परन्तु बाहर में उसे प्रगट न कर। दूसरा भी कदाचित निन्दा करे तो उसे प्रेमपूर्वक समझा कर रोक दे। कैकेयी ने भले अज्ञानवश भगवान के साथ बुराई की परन्तु भगवान् ने स्वप्न में भी उसका बुरा विचारा। सदा उसे अपनी माँ कौशल्या से अधिक सम्मान दिया। हे बच्चे ! ये ही कुछ ऐसी व्यवहार्य बातें है जिन पर जीवन-पथ अवलम्बित हैं। भगवान राम की भाँति सकल दुःखों को समतापुर्वक सहन करने वाला अन्त में जय को प्राप्त होता है।

हे कोमल हृदय ! यद्यपि मैं जानता हूँ कि तेरे जैसे एक ऐसे अबोध शिशु के लिए इस प्रकार के परस्पर विरोधी प्रसंग तथा कुशलतापूर्ण उपदेश जीवन को हलका बनाने की बजाय उसे विकल्पों के जाल में उलझा कर और भी अधिक भारी बना देंगे तदपि तेरे कल्याणार्थ जो शब्द माँ ने इस लेखनी के द्वारा लिखवाये वे ही लिखे गए। यथाशक्ति अपनाने का प्रयत्न कीजिये।

ॐ

वर्णी जी के पत्र उन्हीं की हस्तलिपि में

वर्णी जी के पत्र उन्हीं की हस्तलिपि में

संस्मरण एवं श्रद्धाञ्जलि

सत्यग्राही वर्णी

—विनोबा

सुश्री सुशीला, वर्धा
मैत्री, ब्रह्मविद्या मंदिर, पवनार (वर्धा)

भगवान् महावीर ने कहा है—

"जिसके लिए बाह्य-जगत् में अभिव्यक्त होने का कुछ प्रयोजन शेष नहीं रहता, उसकी वाणी मौन हो जाती है, वे विकल्प शून्य हो जाते हैं।"

मेरी दृष्टि में श्री वर्णी जी की जीवन-साधना का लक्ष्य यह रहा और जीवन-लीला की समाप्ति, स्वेच्छापूर्वक देह विसर्जन द्वारा इसी लक्ष्य की पूर्ति हुई।

ऐसे संत पुरुष के स्मरण में मैं क्या भाव व्यक्त करूँ ? उनके जीवन की सुगंध से मुझे सुवासित होने का भाग्य अवश्य मिला। लेकिन वह सुगंध तो अनुभव करने की होती है। स्वयं फैलती है।

जैन-सिद्धान्तों को आचरण में लाने का उन्होंने भक्तिपूर्वक प्रयास किया। अपनी भक्ति-भावना से, निष्ठा से वे संकुचित नहीं, व्यापक बने। मेरे लिए उनके प्रति मुख्य आकर्षण उनकी समन्वयकारी समता की दृष्टि के लिए रहा। मैंने जैनसिद्धांत स्याद्वाद के संबंध में उनसे प्रश्न पूछा, तो उन्होंने अत्यंत व्यावहारिक रूप में इसका विवेचन प्रस्तुत किया, और पुस्तिका रूप में छप कर उनकी भावभीनी भेंट मुझे मिली, मेरा हृदय कृतज्ञता से भर आया।

पूज्य विनोबाजी के प्रति उनकी नम्रतापूर्ण भक्ति का रस, विनोबाजी के साथ उनकी मुलाकात में, आस्वादन करने का मौका मुझे कई बार मिला। विनोबाजी ने स्वयं 'समण सुत्त' के प्रकाशन को अपने जीवन का सर्वोत्तम समाधान बता कर वर्णीजी का अभिनंदन किया है। महावीर जयंती के दिन 'समण सुत्त' के विमोचन के अवसर पर विनोबाजी के ये उद्‌गार हैं—

"मैं यह कबूल करता हूँ कि मुझ पर गीता का गहरा असर है। उस गीता को छोड़ कर महावीर से बढ़ कर किसी दूसरे का असर मेरे चित्त पर नहीं है। इसका कारण यह है कि महावीर ने जो आज्ञा दी है, वह बाबा को पूर्ण मान्य है। आज्ञा यह कि सत्यग्राही बनो। बाबा को भी व्यक्तिगत सत्याग्रही के नाते गांधीजी ने पेश किया था, लेकिन बाबा जानता था, वह कौन है ? वह सत्याग्रही नहीं, सत्यग्राही है। हर मानव के पास सत्य का अंश होता है, इसलिए मानव जन्म सार्थक होता है। तो सब धर्मों में, सब पंथों में, सब मानवों में सत्य का जो अंश है उसको ग्रहण करना चाहिए। हमको सत्यग्राही बनना चाहिए, यह जो शिक्षा है महावीर की, बाबा पर गीता के बाद उसी का असर है। गीता के बाद कहा, लेकिन जब देखता हूँ तो मुझे दोनों में फर्क ही नहीं दीखता है।"

श्री वर्णीजी की जीवन-यात्रा की दिशा सत्य ग्रहण की थी, और सत्यग्राही का जीवन आदर्श उन्होंने हमारे सामने प्रस्तुत किया। जो दिशा वे बता गये हैं, इस दिशा में यदि अहिंसा माननेवाले, सब एकत्र हो सकें तो अहिंसा-धर्म व्यापक समाज में प्रभावशाली होकर आत्मकल्याण और लोक-कल्याण एक साथ चरितार्थ कर सकेगा।

प्रभु से प्रार्थना है कि इस दिशा में आगे बढ़ने की प्रेरणा व शक्ति दें।—श्री वर्णी जी के चरणों में विनम्र श्रद्धाञ्जलि]।

विनम्र श्रद्धाञ्जलि

डॉ० कस्तूरचन्द्र कासलीवाल
निर्देशक एवं प्रधान सम्पादक श्री महावीर ग्रंथ अकादमी, जयपुर (राज०)

●

पूज्य जिनेन्द्र वर्णीजी का नाम लेते ही उनकी दिवंगत आत्मा के प्रति सहज श्रद्धा के भाव उमड़ पड़ते हैं। जीवन में उनके तीन-चार बार दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। सर्व प्रथम उनके दर्शन भदैना घाट के दिगम्बर जैन मन्दिर मे हुए थे। प्रातःकाल का समय था। वहाँ देखा कि क्षीण काय किन्तु चादर लपेटे हुए एक व्यक्ति ग्रंथों के पन्ने उलटने में इतना अधिक व्यस्त है कि मन्दिर में कौन दर्शनार्थी आता है और जाता है, उनकी ओर उनका किञ्चित् भी ध्यान नहीं जाता। परिचय पूछने पर 'जितेन्द्र वर्णी' का नाम जैसे ही बताया गया, हृदय में एक अपार श्रद्धा उमड़ आयी और उनको इस प्रकार साहित्यिक कार्यों में व्यस्त देख कर अत्यधिक प्रसन्नता हुई। पूज्य वर्णीजी का उस समय 'शांति पथ प्रदर्शन' प्रकाश में आ चुका था। इसके पश्चात् जब देहली में भगवान् महावीर-परिनिर्वाण-शताब्दि महोत्सव पर "समणसुत्तं" को अन्तिम रूप देने के लिये भारत के सभी प्रान्तों से विद्वानों को आमंत्रित किया गया था, तब हुये। 'समणसुत्तं' के संकलन में पूज्य वर्णी जी का महत्त्व पूर्ण योगदान रहा है। इसी अवसर पर उनका अभिनन्दन भी किया गया था। समारोह में विभिन्न विद्वानो एवं स्व० साहू शान्तिप्रसाद जी के द्वारा उनकी साहित्यिक सेवाओं के प्रति जिन मार्मिक एवं हृदयस्पर्शी शब्दों मे कृतज्ञता प्रकट की गयी। उस समय देखा कि वर्णीजी अपनी प्रशंसा सुन कर जमीन में गड़े जा रहे हैं।

एक वर्ष पहले जब मैं और पं० अनूपचन्द जी न्यायतीर्थ अहार जी सिद्धक्षेत्र से यात्रा करते हुए सागर आये तब वहाँ वर्णी आश्रम में पूज्य वर्णीजी के दर्शन करने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। उस समय उनका स्वास्थ्य निरन्तर गिरावट पर था १०-१५ मिनट चर्चा भी हुई। 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' के रचयिता एवं सम्पादक के दर्शन करके मन प्रफुल्लित हो गया और मैं दोनों हाथों से नमन करके उनका आशीर्वाद लेने की इच्छा को नहीं रोक सका।

पूज्य वर्णीजी के अन्तिम दर्शन मार्च '८३ में हुए जब मैं परम पूज्य आचार्य विद्यासागर जी महाराज के दर्शनार्थ सम्मेदशिखर जी मे ईसरी गया था। लेकिन घर में ही उनके दर्शन किये जा सके, क्योंकि उनका स्वास्थ्य काफी गिर चुका था। और वे अपने जीवन की अन्तिम यात्रा पार कर रहे थे।

पूज्य जिनेन्द्र वर्णी का 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' एक ऐसी कृति है जिसकी किसी से तुलना नहीं की जा सकती। यह कोश ग्रंथ जैन सिद्धान्त रूपी सागर का अमूल्य रत्न है, जिसकी उपयोगिता आगामी सैकड़ों वर्षों तक बनी रहेगी और जब पूरब में उसका मूल्यांकन किया जावेगा तो विद्वान् इसे देख कर आश्चर्य करने लगेंगे कि क्या एक व्यक्ति अपने जीवन में इतना महान् कार्य कर सकता है। आज कल श्री जिनेन्द्र वर्णीजी हमारे बीच में नहीं हैं लेकिन उनकी कृतियाँ उनके जीवन की सुरभि चारो ओर फैला रही हैं।

यह जानकर अधिक प्रसन्नता हुई कि बनारस में उनके नाम से श्री जिनेन्द्र वर्णी शोध-संस्थान की स्थापना की जा रही है। यह बहुत ही सुन्दर कार्य है जो उनके नाम एवं कार्य को और भी गतिशीलता प्रदान करेगा। मैं इस अवसर पर पूज्य जिनेन्द्र वर्णीजी के प्रति अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ।

●

पूज्य जिनेन्द्र वर्णी : कुछ संस्मरण

श्री सुबोध कुमार जैन, देवाश्रम आरा

'समण सुत्त' जो 'जैनधर्मसार' से आरम्भ होकर अन्तिम रूप से दिल्ली में आयोजित अखिल-भारतीय-संगीति के द्विदिवसीय अधिवेशन के उपरान्त प्रकाशित हुआ, यह एक अद्भुत घटना थी। मैंनें भी इस संगीति में दिल्ली जाकर भाग लिया था। उस अवसर पर जो लोग भी पूज्य वर्णीजी द्वारा संकलित इस 'जैनधर्म सार' के विषय में, जो भी वाद-विवाद कर रहे थे। परन्तु इस ग्रन्थ के विद्वान् लेखक पूज्य वर्णीजी चुपचाप लोगों की बातों को सुन रहे थे और कुछ न कुछ नोट किये जा रहे थे। मीठी-कड़वी हर प्रकार की बातें कुछ न कुछ ऐसी सभाओं में कही जाती हैं, परन्तु पूज्य वर्णीजी इन सबसे अलग होकर अपने कर्तव्य को पूरा करने में लगे हुए थे।

पूज्य विनोबाजी का आशीर्वाद था। पूज्य मुनि विद्यानन्द जी का नेतृत्व था और पूज्य जिनेन्द्र वर्णीजी की सहनशीलता और उनका श्रम था कि यह ऐतिहासिक कार्यक्रम सानन्द पूर्ण हुआ। अपने अन्तर में वर्णीजी बहुत पहले से ऊँचे थे, परन्तु बाह्य रूप में 'समणसुत्त' ने उनको जैन और जैनेतर समाज के जनमानस में बहुत ऊँचा उठा दिया।

तदुपरान्त 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' ने तो इन्हें ऐसी कीर्ति प्रदान की जो कि इस युग में शायद ही किसी अन्य जैन विद्वान् को प्राप्त हुई हो। इसी ग्रन्थ के दूसरे संस्करण की तैयारी में वर्णीजी लगे हुए थे, जब मैं पिछले वर्ष बनारस में उनसे मिलने के लिए गया। जब-जब मैंने इनके दर्शन किये तब-तब उन्हें मैंने स्वाध्याय में ही लीन पाया। इनके मुखड़े पर बराबर बालसुलभ मुस्कान विराजती थी। उन्होंने यह करके दिखा दिया कि एक अत्यंत अस्वस्थ शरीरवाला व्यक्ति ऐसे कार्य पूर्ण कर सकता है जिसे स्वस्थ से स्वस्थ शरीरवाला भी पूरा करने में सक्षम नहीं हो सकता।

पिछले वर्ष मैं सम्मेदशिखर गया हुआ था और वहाँ मैंने इनको अचानक पूज्य आचार्य विद्या सागरजी महाराज की सभा में बैठे हुए देखा। बाद में चर्चा सुनने में आयी कि पूज्य वर्णीजी आचार्यश्री की छत्र-छाया में समाधि लेने हेतु आये हुए हैं। अवसर पाकर मैंने वर्णीजी से पूछा तो उनके मुखड़े पर वही बालसुलभ मुस्कराहट प्रस्फुटित हुई। फिर उन्होंने जो उत्तर दिया उससे स्पष्ट हो गया कि समाचार में सच्चाई है। मुझे महान् आश्चर्य हुआ कि ऐसी कृशकाया और उस पर इतना वीरतापूर्ण निर्णय ये कैसे ले रहे है? जिसे पूरा करने के लिए अतिशय शक्ति की आवश्यकता है। परन्तु दूसरे ही क्षण मुझे दृष्टिगोचर हुई उनकी सर्वाङ्गपूर्ण-तेजस्विता; दृढ़ निश्चयी होना उनके सम्पूर्ण जीवन का निचोड़ रहा है। मैं तत्काल समझ गया कि ऐसे पराक्रम के लिए शारीरिक शक्ति की उतनी आवश्यकता नहीं है जितनी कि आत्मबल की आवश्यकता है। फिर इसी मेरे सौभाग्यपूर्ण अंतिम दर्शन के उपरान्त महीना बीतते-बीतते यह सम्वाद आरा में प्राप्त हुआ कि पूज्य वर्णीजी समाधि को प्राप्त हो गये।

सचमुच कैसा अद्भुत जीवन! और कैसा अद्भुत मरण! मरण ऐसा कि जिसने सत्यतः मृत्यु को 'महोत्सव' का रूप दे दिया।

धन्य हैं वर्णीजी! और धन्य है उनकी महान् साधना! हमारी शत-शत श्रद्धांजलियाँ उनको अर्पित हैं।

अनन्य साधक

श्री सुरेश जैन, पानीपत

●

जब-जब मैंने वर्णीजी को स्मरण किया, एक आँसू मेरी आँखों में आकर रह गया। टपकता नहीं। टप''''टप'''' । बस।

अक्सर वे अपने बारे में बहुत कम बातें करते थे। परन्तु एक घटना प्राय सुनाते थे—

पानीपत की जैन धर्मशाला में बहुत वर्ष पूर्व कुछ दिनों तक एक साधु नजर आये। उन्हें किसी ने कभी किसी से बोलते नहीं देखा। अधमुंदी आँखों से न जाने कहाँ निहारते रहते। जहाँ-तहाँ पड़े रहते। बहुधा लोग दयावश कुछ भोजन दे जाते। थोड़ा-बहुत खा लेते, शेष वहीं छोड़ देते। ठंड में कोई वस्त्र दे जाता था। यदि वस्त्र खिसक जाता, तो यों ही पड़ा रहता। स्वयं प्रयत्न करके उसे ओढ़ते भी न थे। उस साधु को बच्चे पागल समझकर कंकड़ मार रहे थे, वे साधु तब धीरे से मुस्करा भर दिये। तभी एक बालक का हाथ सहसा थम गया....फिर उन साधु ने करवट बदल ली।

मैंने स्वयं वर्णीजी को कई बार अर्धमुद्रित नेत्रों में मुस्कुराते हुये देखा है।

●

परमपूज्य गुरुदेव

श्रीमती केला देवी जैन, वाराणसी

●

भदैनी स्थित श्री छेदीलाल के दि० जैन मंदिर में श्री जिनेन्द्र वर्णीजी अपनी ज्ञान-ध्यान की साधना में निरत रहते थे। उनके गुणों से और ज्ञान के अगाध-भंडार से मैं बहुत प्रभावित रही। हमें प्रत्येक कठिनाई के समय इन्हीं का मार्गदर्शन और समाधान प्राप्त होता था। समय-समय पर उनसे ज्ञान प्राप्त होता रहता था। धर्म के प्रति श्रद्धा उन्हीं से प्राप्त हुई, जो कुछ भी जानते और करते हैं, सब उन्हीं की देन है। शाम को जब वे मंदिर की छत पर गंगा के किनारे ध्यान में मग्न हो जाते थे, तब उनके मुख की आभा देखते ही बनती थी। लगता था वे अन्तर की गहराई में प्रविष्ट होकर अपूर्व सुख का अनुभव कर रहे हैं। दीर्घकाल तक उनके सत्संग-सान्निध्य और सेवा के मध्य मैं अनेक घटनाओं से प्रभावित रही। वे भविष्य में होने वाली घटनाओं का पूर्वानुमान लगाकर बता देते थे। लगता था वे भविष्यवक्ता हैं। कई वर्ष पूर्व एक बार मेरे पुत्र सुशील को बाबा ने अपने कार्य से ईसरी भेजा। उसके निर्धारित समय पर वापिस न आने पर हम लोग बड़े चिन्तित थे। और जब अपनी चिन्ता उनसे कही, तब वे निश्चिन्त हो बोले, "चिन्ता मत करो, वह सम्मेद शिखर जी की वन्दना करने पर्वत पर गया है, कल दोपहर में आ जायेगा।" उनके इस कथन के बावजूद हम लोग चिन्तित रहे, किन्तु जब सुशील दोपहर में आ गया तो हम लोग सुखद आश्चर्य में डूब गये। और भी अनेक आश्चर्यजनक घटनायें हैं, किन्तु मेरे पास उन्हें व्यक्त करने के लिए शब्द नहीं हैं।

पूज्य बाबा के समाधिकरण के पूरे समय हम लोग ईसरी में ही रहे। उन्हें देखने से लगता था कि उनकी आत्मा में कौन-ऐसी अपूर्व और अपार शक्ति है, जिसके कारण वे इतना कठिन मार्ग अपना कर आत्मकल्याण कर रहे हैं। पूज्य बाबा अब नहीं रहे, किन्तु सदा ऐसा लगता रहता है कि वे अब भी हमारे साथ हैं। कल्याणकारी ऐसे गुरुदेव के चरणों में हम सदा नतमस्तक हैं! ●

आँखें सजल हैं

डॉ० शोभनाथ पाठक,
एम० ए० पी-एच० डी०, साहित्य रत्न, भोपाल (म० प्र०)

●

'यथानाम तथा गुण:' की गरिमा से समलंकृत श्री जिनेन्द्र वर्णी जी पूर्णत: जितेन्द्रिय होते हुए ज्ञान-राशि के वह उन्नत नगाधिराज थे, जिसकी ऊँचाई को आंकना आसान नहीं। कृशकाय होते हुए भी उनके प्रखर व्यक्तित्व का आलोक बरबस ही दर्शनार्थी को वशीभूत कर लेता।

'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' पढ़ने के उपरान्त मेरी आन्तरिक अभिलाषा परम पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के दर्शन की थी। अचानक वह सौभाग्य मुझे दिगम्बर जैन धर्मशाला भोपाल में प्राप्त हुआ, जहाँ श्री वर्णी जी विराजमान थे। मैं जब उनके पास पहुँचा और अपने पी-एच० डी० शोध प्रबन्ध 'भगवान महावीर कथा' का प्रकाशित पुस्तक का द्वितीय संस्करण बताया, तो पूज्य वर्णी जी बेहद प्रसन्न हुए। उन्होंने मुझसे कहा, पाठक जी ! आपका यह शोध कार्य तो बहुत ही अच्छा है, किन्तु अब आप आगे क्या कर रहे है ?

मैंने पूज्य मुनिवर को 'भारतीय वाङ्मय में महावीर' विषय पर डी० लिट् शोध-प्रबन्ध की संक्षिप्त रूपरेखा प्रस्तुत कर दी, और मार्ग-दर्शन चाहा। क्या पूछना था, जैसे प्रकाश-पुञ्ज से किरणें फूटकर समस्त वातावरण को आलोकित कर देती हैं वैसे ही श्री वर्णीजी के मुखारविन्द से और प्रज्ञा-तेज से जो कुछ भी उद्बोधन मुझे मिला, उससे असीम सन्तुष्टि हुई। आज मैं उस स्मृति को संजोये हुए जब यह संस्मरण लिख रहा हूँ, तब रोमांचित, आँखें सजल हुयी जा रही हैं।

कितनी आत्मीयता, कितना स्नेह, कितना आदर, आदरणीय वर्णीजी ने एकाएक उड़ेल दिया, जिसके आभार और आराधना की अनुभूति का यह रंचमात्र छलकाव है।

परमपूज्य वर्णीजी ने अपने अनूठे कोश को दिखाया और उस पर भी काफी चर्चा हुई। पांडित्य की प्रखरता, वाणी की मधुरता, गहन-अध्ययन की गम्भीरता, तपस्या का तेज, तथा समस्त मानवीय महत्ता की समष्टिपूर्ण गरिमा उनके रोम-रोम से फूटकर, मुझे विमुग्ध कर रही थी। मुनिजी के दर्शन पाकर मैं धन्य हो गया।

आज स्मरणमात्र से रोमांच हो रहा है और उनकी प्रेरणा का सम्बल 'भारतीय वाङ्मय में महावीर' डी० लिट् प्रबन्ध की पूर्णता को प्रोत्साहन प्रदान कर रहा है।

परमपूज्य मुनिवर स्व० वर्णीजी के प्रति भाव-विह्वल हो, उनके चरणों में शतशः प्रणाम !

●

परम तत्त्वनिष्ठा के लिए जगत् है नहीं, ज्योति ही ज्योति है।

मैं आनन्दघन हूँ अत: मुझे कुछ बोलना नहीं, सोचना नहीं। मैं मनुष्य नहीं, मैं पूर्ण हूँ, आत्मतत्त्व हूँ, चिदानन्दघन हूँ, पूर्ण था, हूँ, रहूँगा।

—वर्णी वचनामृत

त्यागमूर्ति : मेरे बाबा !

कु० इन्दिरा जैन, रोहतक

पूज्य गुरुवर श्री जिनेन्द्र वर्णी जी मेरे जीवन के प्रेरणा स्रोत रहे हैं। यद्यपि इसका शब्दों में वर्णन नहीं किया जा सकता, फिर भी मैं उनके उपकारों को शब्दों में बाँधने का प्रयत्न कर रही हूँ।

यों तो यह प्राणी बहुत कुछ जानता है, किन्तु यदि उसमें छिपी हुयी सम्भावनाओं को प्रकट करने वाला कोई महापुरुष मिल जाये तो फिर कहना ही क्या ? क्योंकि अपनी दूरवर्तिनीदृष्टि रूपी टॉर्च को हाथ में लेकर वह मार्ग दिखलाता जाता है, जिससे विघ्न रूपी अन्धकार मिटकर विकास रूपी प्रकाश सामने दृष्टिगोचर होता है। ऐसे ही थे मेरे पूज्य बाबा !

श्रद्धेय गुरुवर का व्यक्तित्व ही ऐसा था जो प्रमाद रूपी मृत्यु से ग्रसित प्राणी में उत्साह के जीवन्त प्राण फूँक सके। निराश या निरुत्साहित तो वे कभी किसी को देख ही नहीं सकते थे। शतशः प्रेरणायें देकर बच्चों का पथ-प्रशस्त करना उनका जीवन था, स्वभाव था, मातृतुल्य वात्सल्यपूर्ण हृदय का सहज गुण था। आज भी मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि वे हमारे मध्य में ही हैं, और 'मेरे बच्चे !' का सम्बोधन करके जीवन पथ पर दिन दूनी रात चौगुनी उन्नति की प्रेरणा दे रहे हैं।

पूज्य बाबा साक्षात् त्यागमूर्ति थे। उनके मुखारविन्द से निकले हुये एक-एक शब्द सत्य होते जा रहे हैं। मुझे उनसे अनेक उपदेश मिले—

१. परीक्षा-परिणाम के समय उन्होंने मुझे 'आशा' की अतृप्त प्रकृति का उपदेश दिया—'आशा तो कभी तृप्त होना जानती ही नहीं, उसका काम तो नित्य वृद्धि को प्राप्त होना है। इसलिये जो कुछ तुम्हें प्राप्त हुआ है, उसी में सन्तोष करो, क्योंकि सन्तोष ही सबसे बड़ा धन है।

२. कर्म करते जाओ, फल की इच्छा न करो; क्योंकि एक साथ दो काम असम्भव हैं। कर्म करते समय परम पिता परमेश्वर में अटूट श्रद्धा होनी चाहिये, क्योंकि वही अपने बच्चों का ध्यान रखता है। यदि कर्म पूरी निष्ठा से किया गया है तो उसका फल अवश्य मीठा होगा।

३. 'साद जीवन उच्च विचार' ही उनका ध्येय था। उन्होंने कहा था—'यदि विद्यार्थी सादा जीवन व्यतीत करता है तो उसके विचार अवश्य महान् बनते हैं।

४. 'सेवा' को वे चित्त-शुद्धि का प्रमुख अंग समझते थे। इसीलिये उन्होंने कहा—'माता-पिता व गुरु की सेवा करने से, उनके मुख से निकले हुये आशीर्वाद, मनुष्य को उन्नति के परम शिखर पर पहुँचा देते हैं।'

५. एम० ए० के लिये प्रेरणा व आशीष देते हुए उन्होंने कहा—'असम्भव कार्य को सम्भव बनाना मनुष्य का कार्य है। मनुष्य के लिये कुछ भी असम्भव नहीं।'

ऐसा ही पूज्य श्री जी का व्यक्तित्व था, जिनके जीवनकोश में 'असम्भव' शब्द था ही नहीं।

अन्त में मैं यह कहूँगी कि जो कुछ मुझे उनसे प्रेरणा, उत्साह, बल, आशीष, उपदेश मिला—उसे काल की कालिमा या परिवर्तनशीलता मिटा नहीं सकती। जो कुछ मैं आज हूँ या भविष्य में बनूँगी सब उसी की देन होगी।

गुरुदेव स्वयं माँ सरस्वती के परमोपासक थे, क्यों न मुझे उनके माध्यम से सरस्वती माँ की कृपा मिलती ? जिससे मेरा भव-भवान्तर आलोकित हो सके। यदि उन जैसी महान् आत्मा मेरे जीवन में न आती तो मेरा जीवन कोरे कागज की भाँति शून्य ही रह जाता।

ऐसे सतत प्रेरणास्रोत गुरु वर्णी जी के चरणों में कोटिशः नमन !

विनम्रता

श्री उत्तमचन्द जैन, एम० ए० एल० एल० बी०,
व्याख्याता सर हरि सिंह गौर महाविद्यालय, सागर

●

एक मित्र ने "शांतिपथ-प्रदर्शन" दिया। पढ़ कर ऐसा लगा कब इस ग्रन्थ के लेखक महोदय के प्रत्यक्ष दर्शन करूँ।

१०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी महाराज को नमोऽस्तु करते हुए प्रथम दर्शन हुए नैनागिरि में ऐसी भावपूर्ण 'नमोऽस्तु' प्रथम बार देखी। उनकी अपार विनम्रता अकथनीय ही है।

आचार्य श्री करीब ७ माह से पवित्र क्षेत्र नैनागिरि में एक के बाद एक सल्लेखनाएँ सम्पन्न करा रहे थे। उसी शृंखला में पहुँचे श्री वर्णीजी, परन्तु कुछ देरी से। अतः निर्देश मिला वर्णी भवन मोराजी सागर में स्वास्थ्य लाभ हेतु रुकने का। सुनते ही अति प्रसन्न हुआ कि घर बैठे ही वर्णी जी की वैयावृत्ति करने का सुअवसर मिल गया।

सागर प्रवास के शुभ अवसर पर करीब ३ माह निरन्तर दोनों वक्त वैयावृत्ति कराकर मुझे कृतकृत्य किया। और देखने को मिली अपूर्व विद्वत्ता, अपार सहनशीलता, महान् दृढ़ता एवं पूर्ण समर्पण।

वर्णीजी को तेल से अरुचि (Elergy) थी। परन्तु आचार्य श्री के आदेश से तेल मालिश करवाना भी स्वीकार किया और मुझे ही वह सौभाग्य प्राप्त हुआ। अपने को धन्य मानता था दोनों वक्त उनका तेल मर्दन करके।

ज्यों ही आचार्य श्री सम्मेदशिखर की यात्रा कर ईसरी पहुँचे, वर्णीजी भी जाने को तैयार हुए। बोले-'अब तो तेलमालिश बंद ही रहेगी, यहाँ का पूर्ण तेल यहीं छूट जाय।' अचानक श्री विमल कुमारजी मलैया—प्राकृतिक चिकित्सक आये। बोले—'मिट्टी स्नान से सब तेल यहीं रह जायेगा।' पूरे शरीर में काली मिट्टी लगा दी। वर्णी जी बोले—'इसके छुड़ाने में व्यर्थ पानी न बहाओ! मैं आधी बाल्टी पानी में ही पूर्ण मिट्टी छुड़ा लूँगा।' और ऐसा ही किया उन्होंने। "व्यर्थ पानी न बहे" उनकी यह भावना जागृत थी।

मई ८३ में पुनः दर्शन करने ईसरी गया। वहाँ उन्होंने सल्लेखना ले ली थी। जीवन पर्यंत अन्न न ग्रहण करने का व्रत प्रारम्भ हो गया था। वहाँ से लौटने का बिल्कुल भी मन नहीं था। आने से पूर्व पूज्य वर्णी जी महाराज के दर्शन करने गया। वे बोले—'भाई, ये तो गृहस्थ हैं, इन्हें तो वापिस जाना ही पड़ेगा।' सोचा था पुनः आकर इस महा विभूति के दर्शन करूँगा परन्तु यही दर्शन अंतिम दर्शन था।

●

धारणाओं के उच्च होने पर कोई चीज बड़ी-छोटी नहीं दिखाई देती। तरंगों को नहीं, महासागर को देख रहा हूँ।

जगत् में प्रभु और प्रभु में जगत् दीखता।

सौभाग्यशाली वह है जो बाह्य जगत् से लौटकर अन्दर में डुबकियाँ लगाता है।

—वर्णी वचनामृत

प्रथम गुरु : जिनेन्द्र वर्णी

श्रीमती कान्ती देवी जैन, रोहतक

●

आज पू० जिनेन्द्र वर्णीजी भौतिक देह के रूप में हमारे समक्ष नहीं हैं, फिर भी उनके पंद्रह साल के सान्निध्य का प्रभाव अब भी हम सबके ऊपर है। जो हमारे जीवन के पग-पग पर सहायक सिद्ध होता है। वे जितने श्रम से जिनवाणी का अध्ययन कराते थे, वह अविस्मरणीय है।

वे दिन बहुत याद आते हैं, जब १५ साल पूर्व बाबा (वर्णीजी) बगीची में दो-तीन साल तक मौन रहे। मेरे कहने को बाबा कभी नहीं टालते थे। मुझे महीनों निरन्तराय आहार कराने का सौभाग्य मिलता था। उनका एक ही कहना था कि आहार शुद्ध और साधारण हो। बस एक ही दाल सब्जी हो। हमने इसका पालन उनकी प्रसन्नता के लिए हमेशा किया।

उनका 'बहन' शब्द आज भी कानों में गूँजता है। उन्होंने देवपूजन से लेकर 'भक्तामर', 'मोक्षशास्त्र', 'गीता', 'धवला' के मार्गणा-गुणस्थान सब कुछ हमें हृदयङ्गम कराने की कोशिश की। हम उनके उपदेश सुनने के लिए दौड़े चले जाते थे। यह सब उनके व्यक्तित्व का ही आकर्षण था, उनका धर्म-वात्सल्य ही ऐसा था। उनके व्यक्तित्व का मेरे पुत्र अरहन्त और पुत्री मनोरमा पर ऐसा प्रभाव पड़ा कि दोनों विरक्त हो गये। मेरी पुत्री इन्द्रा ने भी पू० वर्णी जी को पिता तुल्य मान लिया था और प्रत्येक कार्य उनकी आज्ञा से ही करती थी।

वर्णी जी, जैसे ज्ञान, ध्यान तथा समाधि में निष्ठ हुए, ऐसे ही हम भी हों, यही उनके चरणों में विनीत प्रार्थना है। 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।' ●

श्रद्धास्पद जिनेन्द्र वर्णी

श्री रमाकांत जैन, लखनऊ

●

साक्षात् दर्शन का सुयोग न मिलने पर भी क्षु० जिनेन्द्र वर्णी मेरे लिए अपरिचित नहीं थे। मेरे पिता जी (डॉ० ज्योति प्रसाद जी) के वयज्येष्ठ मित्र पानीपत निवासी बा० जय भगवान् वकील के सुपुत्र होने के नाते उनके बारे में जब-तब जिक्र मेरे परिवार में होता आया। बहुत अल्प आयु में ही गार्हस्थिक बन्धनों से मुक्त हो तप-त्यागमय साधक बन जाने की इनकी ख्याति कर्ण-कुहरों में आती रही।

इनका 'समणसुत्तं' देखने को मिला और 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' को लेकर पत्रों में चले विवाद की चर्चा भी सुनने को मिली।

इनके विषय में जो कुछ सुनने में आया उससे यही समझ में आया कि वह सच्चे अर्थों में सन्त थे, एक अच्छे विचारक और शब्दों के पण्डित थे। उन्होंने बाबा गणेश प्रसाद वर्णी की परम्परा का भलीभांति निर्वहन किया और अपना जीवन सार्थक किया। उन्होंने अपने आचरण से यह दिखा दिया कि एक 'जैन साधु' कैसा होना चाहिए।

वह संकीर्ण विचारों के नहीं थे। उनका कहना था; "सत्य या तत्त्व एक ही है उसे राम, कृष्ण, बुद्ध, महावीर, विष्णु किसी भी नाम से कहो। उसके प्रति हृदय में प्रेम जागृत हो जाने पर ज्ञान-भक्ति-योग, निष्काम-कर्म आदि सब सफल हैं और उसके बिना सब निष्फल हैं। हृदय ही उस परम-प्रभु का निवास है।"

यह हर्ष का विषय है कि काशी धाम में श्री जिनेन्द्र वर्णी ने अपने कर्ममय जीवन के लगभग १५ वर्ष व्यतीत किये और वहां के अनेक नर-नारियों को अपने ज्ञान-दीप से आलोकित किया। वहाँ की जैन-समाज उस सन्त-पुरुष की स्मृति में दिगम्बर जैन मन्दिर मैदागिन के प्रांगण में वर्णी-स्वाध्याय-कक्ष का निर्माण करा रही है। इस शुभावसर पर मैं वर्णों (अक्षरों) के रत्नाकर इन जितेन्द्रिय वर्णी के प्रति अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ। ●

सुदृढ़ इच्छा-शक्ति के धनी

श्री रतनलाल सोगानी, मंत्री, दि० जैन मु० मु० क्षु० मंडल, भोपाल

पूज्य स्वर्गीय श्री जिनेन्द्र वर्णी जी अत्यन्त दृढ़ इच्छा-शक्ति के धनी थे। मात्र एक फेफड़े के आधार पर चलने वाली अत्यन्त जर्जर एवं निरन्तर रुग्ण रहने वाली काया के होने पर भी 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' जैसे महान् एवं अद्भुत ग्रन्थ की रचना आपकी अदम्य इच्छा-शक्ति का प्रत्यक्ष-प्रमाण है। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' की रचना पर एक महान् विद्वान् ने टिप्पणी की थी कि यदि २० विद्वान् भी एक साथ बैठक कर अनेक वर्षों तक प्रयत्न करते, तो भी ऐसे महान् चमत्कारिक कोष की रचना शायद संभव न होती। 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' पूज्य वर्णी जी के अद्भुत क्षयोपशम-ज्ञान के साथ ही पूज्य जिनवाणी के प्रति उनकी परिपूर्ण जीवन समर्पित-भावना का प्रतीक है, संपूर्ण जैन-समाज युगों-युगों तक इसके लिए उनका कृतज्ञ रहेगा।

यहाँ के पण्डित श्री राजमल जी के प्रति आपका विशेष स्नेह था. उन्ही के प्रयास से आप यहाँ चातुर्मास के लिए पधारे। इस अवसर पर मुझे निकटता से आपके सान्निध्य का सौभाग्य मिला। श्वास-खाँसी, व ज्वर की तीव्रता में भी आपके शान्त-सौम्य चेहरे पर निरंतर रहने वाली सहज-मुस्कान ने मुझे बहुत प्रभावित किया। ऐसा प्रतीत होता था मानो जड़ व चेतन के भेद-विज्ञान का तत्त्व उनके जीवन के साथ तदाकार हो गया है।

आपकी प्रवचन-शैली मार्मिक व हृदयस्पर्शी थी। आपके सरस प्रवचन सभी जीवों के प्रति करुणा व ममता से ओत-प्रोत थे, और उनमें प्रेरणा थी कि वर्तमान जीवन से उठो-आगे बढ़ो-आत्मिक विकास द्वारा वर्तमान को सार्थक करो। साथ ही आधुनिक वैज्ञानिक-परिवेश में जैन अध्यात्म-तत्त्व को आपकी तार्किक-अभिव्यक्ति ने वर्तमान युवा और शिक्षित वर्ग को विशेष रूप से आकर्षित व प्रभावित किया। पूज्य वर्णी जी अनेक असामान्य आत्मिक-गुणों के स्वामी थे। उनके निधन से समाज की जो महान् क्षति हुई है, वह संभवतः युगों-युगों तक अनुभव की जाती रहेगी। इस अवसर पर मैं पूज्य-श्री को हार्दिक-श्रद्धा से स्मरण करता हुआ उनके पूर्ण आत्मिक-विकास की कामना करता हूँ।

●

एक व्यक्ति इस महासागर की लहर है। प्रवाह आ रहा है जा रहा है। यह सामना का जीवन है। समष्टि में परीक्षाएँ होती हैं। परीक्षा में सफल होना है। जो हो रहा है हमारे आधीन नहीं, दूसरी शक्ति के आधीन है।

—वर्णी वचनामृत

स्मृतियों के झरोखे

श्रीमती सुनीता जैन, इलाहाबाद

●

परम पूज्य गुरुदेव आज हमारे बीच नहीं हैं, परन्तु अपनी वाणी रूपी अमृत-वर्षा से निरन्तर मन-मानस का सिंचन करते से प्रतीत होते हैं। ऐसा सचमुच में नहीं प्रतीत होता कि वे जीवित नहीं हैं। हर समय जब भी उनके विषय में सोचती हूँ, मानस चक्षुओं के सामने वह तेजस्वी परन्तु परम शान्तिमय मूर्ति आ जाती है। ऐसे परम वीतरागी निःस्पृही एवं शांति-मुद्रा के दर्शन का सौभाग्य तो मुझे बाद में मिला, पर उनके लेखनी के द्वारा उनके नाम से परिचित हो चुकी थी। जहाँ तक स्मृतियों के झरोखे से देखती हूँ तो वह दिन याद आता है, सन् ६६-६७ का वर्ष होगा जब मैं मंदिर जी में स्वाध्याय के लिए एक शास्त्र ढूँढ़ रही थी। पुराण-शास्त्र में से मेरे मन को संतुष्टि नहीं मिल पा रही थी, अतः कुछ ऐसा पाना चाहती थी जो बुद्धि गम्य भी हो और अनूठा भी। जो जिज्ञासा को शांत करे। तभी एक मोटी सी लाल जिल्द की बड़ी पुस्तक हाथ लगी, जिसका नाम 'शांति पथ प्रदर्शन' था। उसे ही लेकर पढ़ने बैठी, बीच के दो-चार पृष्ठ यूँ ही उड़ती निगाहों से पढ़े, आनन्द आया फिर ध्यान से एक पेज पढ़ा, लगा कि यह तो अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से तथा तथ्यों को बड़ी ही सरलता से आत्मसात् कराने में समर्थ है। तब जिज्ञासा जागृत हुई कि इतनी अच्छी तरह से इस पुस्तक को जिन्होंने लिखा है, उन विद्वान् का नाम क्या है? इसे देखूँ। फिर तो श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के नाम को ध्यान से पढ़ा। उसी क्षण प्रकाशक का पता भी मन में नोट कर लाई कि ऐसे उत्तम-शास्त्र को सिर्फ पढ़ना है इस दृष्टि से नहीं, बल्कि 'स्वाध्याय' करना है इस दृष्टि से मंगाकर घर में भी पढ़ूँगी। शांति पथ प्रदर्शन पुस्तक आ गई, जिसका मैंने बाद में स्वाध्याय किया और बहुत प्रेरणा ली।

सौभाग्य से इनके दर्शन का भी सुयोग सन् ७०-७१ में मिला। श्री जयकृष्ण जी जैन महाराज जी को रोहतक से लिवाकर वाराणसी जा रहे थे। उनकी मातु श्री (मेरी ननद जी) तब मेरे यहाँ ही थीं अतः वे महाराज जी को लेकर इलाहाबाद ही उतरे। जिस तरह सरल-शांत-सौम्य मूर्ति 'शांति पथ प्रदर्शन' में देखा था, उसी तरह वे प्रथम दृष्टि में ही लगे। बड़ी ही सरलता से उन्होंने आहार लिया। महाराज श्री की शांत और सरल मूर्ति कहीं गहरे तक हृदय को स्पर्श कर जाती थी। जब-जब भी मैं बनारस आती, महाराज श्री के दर्शनों का सौभाग्य अवश्य मिलता। हर बार मुझे उनका आशीर्वाद मिलता रहा। महाराज श्री से एक बार मैंने अनुरोध किया कि मुझे शांति नहीं मिल रही। बहुत अशांत रहता है मन। तब बड़ी सरलता से उन्होंने कागज और एक पेन माँगा। मैंने सोचा शायद वे जाप्य का कोई मंत्र लिखेंगे पर उस पर उन्होंने लिखा—"संतोष ही सबसे बड़ा धन है" और अपना हस्ताक्षर कर दिया। मुझसे बोले कि इसे ऐसे स्थान पर रखो—जहाँ उठते-बैठते-सोते तुम्हारी निगाह पड़ती रहे, और आज यह लिखते हुए मुझे बड़ी सान्त्वना मिल रही है कि गुरुदेव के उस अमृत-वाक्य ने मेरी जीवन-दिशा को बदल दिया। कबीरदास जी की उक्ति याद आती है :

"गुरु गोविन्द दोऊ खड़े काके लागों पाँय, बलिहारी गुरु आपकी गोविन्द दियो बताय।"

आप स्वयं तो संसार-सागर से पार होने वाले थे ही, पर जो भी आपके सम्पर्क में आया उसे भी आपने साधना का सीधा तरीका बताया 'सरलता'। सरल मन में विकार नहीं—जहाँ

विकार नहीं, वहाँ बंध नहीं। अतः शांत बनो ! सरल बनो ! सब जीव समान हैं ! सबसे प्रेम करो ! यही उनका अमूल्य उपदेश था। महाराज श्री विद्या-वारिधि थे। माँ सरस्वती के वे वरद-पुत्र थे। उन्होंने जितनी अमूल्य पुस्तकें, इतनी अल्पावधि में लिखी है, यह सर्व विदित है। 'जैनेन्द्र सिद्धांत कोश' के रूप में वे धर्म प्रेमी व जिज्ञासु लोगों के लिये एक अमूल्य-धरोहर छोड़ गये हैं। जो कुछ भी उन्होंने लिखा, वह धर्म-सेवा, व कर्त्तव्य-भावना से लिखा। जीवन भर रोगों से जूझने पर भी कार्य करने का उत्साह और क्षमता ज्यों की त्यों थी।

आज पू० वर्णी जी हमारे बीच नहीं हैं। आपने अपने शरीर से भी ममत्व छोड़कर (गत वर्ष अप्रैल माह में) आचार्य १०८ श्री विद्यासागर महाराज के पादमूल में सल्लेखना धारण कर ली थी। अंतिम क्षण तक, कठिन तप को तपते हुए शूरवीर की तरह मुख से 'आह' तक न भरी। अंतिम क्षण तक चैतन्य व सजग बने रहे। आपने सल्लेखना धारण कर समाधिमरण द्वारा शरीर त्याग कर यह सिद्ध कर दिया कि वस्तुतः शरीर असार है, और जब धर्म-साधन में यह विघ्न स्वरूप हो तो इसका त्याग ही श्रेयस्कर है।

मैं अन्तिम दिनों में उनके दर्शन का सौभाग्य न पा सकी, जिसकी कचोट मुझे जीवन-भर रहेगी। जब मैं ईसरी पहुँची, तो दो दिन पूर्व ही सब शेष हो चुका था। मात्र साक्षी था वह स्थल, जहाँ पर उनके पार्थिव शरीर का अन्तिम संस्कार किया गया था। ऊँचे पर टँगी हुई उनकी मयूर पिच्छिका, मानो उनके ऊर्ध्वगमन का संकेत दे रही हो। उनकी पवित्र भस्मी को माथे में छुलाकर समाधि पर दो पुष्प चढ़ा, तथा पिच्छिका का दर्शन कर परोक्ष रूप से उस भव्यात्मा के प्रति अपनी प्रणमाञ्जलि अर्पित की। भले ही गुरुदेव का वह नश्वर शरीर नहीं रहा है, पर उनके वाणी की वह अनुगूँज जन-जन के मन-मस्तिष्क में जीवन-पर्यंत बनी रहेगी, जिन्होंने भी उन्हें सुना है, पढ़ा है। तुम्हें मेरा प्रणाम है गुरुदेव— हे जिनेन्द्र वर्णी प्रणाम !

हे तपःपूत तुमको प्रणाम !
हे जिन वर्णी-पावन-सपूत !
शत शत प्रणाम ! शत शत प्रणाम !

●

'श्रेष्ठ गुरु'

संकलन—श्री संजय जैन

●

एक बार डा० नेमीचंद जी (सम्पादक तीर्थंकर, मासिक) ने वर्णी जी से पूछा था कि आप शिशु बनना चाहते हैं या शिष्य ?

वर्णी जी ने कहा—"मुख्यतः शिशु। गुरु मेरी माता बने और मैं उसका शिशु, तो कृतकृत्य हो पाऊँ। यों कहें कि गुरु प्रेम से शिशु जैसा ऊपर उठाये। सिद्धान्त मैं जानता हूँ, सिद्धान्त या उपदेश से नहीं, प्रेम से वह उठाये। यह बात मैंने पूज्य वर्णी जी (स्व० गणेश प्रसाद जी) की आँखों में देखी थी। उनके शब्द नहीं थे, आँखें थीं और प्रेम था। वहाँ मुझे गुरु में जननी की अनुभूति हुई। मैंने कहीं लिखा भी है कि 'उनकी आँखों से मैंने वह पढ़ा, जो शास्त्रों से नहीं पढ़ सका।'

●

अनन्त उपकार

श्री सूरज जैन, गाजियाबाद

●

यह मेरा परम सौभाग्य रहा है कि परम आराध्य श्री गुरुदेव के चरण-कमलों में मुझे स्थान मिला, और उन्होंने मुझे शिष्य रूप में स्वीकार किया। जहाँ तक मेरा स्वयं का सम्बन्ध है, मैं तुच्छ बुद्धि 'उस' असीम के विषय में क्या कह सकता हूँ ? यह तो मेरी धृष्टता ही होगी कि मैं उस असीम को सीमा में बाँधने का निरर्थक प्रयास करूँ। उन्हें समझने के लिए हममें वैसी ही पात्रता होनी चाहिये। गुरु अनुभवात्मक हैं। उन्हें हम बुद्धि से समझने की भूल कर रहे हैं, फिर भी इस समय हमारे पास अन्य कोई साधन नहीं है, इसलिए इसी का प्रयोग हो रहा है। अतः मेरे अनुभवानुसार गुरुदेव साधना की पराकाष्ठा पर पहुँच चुके थे। वे मुझसे कहा करते थे कि—"इस कृश काय में रहकर भी मैं कठोर से कठोर साधना-पद्धति का अनुसरण कर सकता हूँ, और मैं गुप्त रूप से कर भी चुका हूँ। लेकिन ये सब बाह्य-साधनायें तो केवल साधना मात्र हो सकती हैं, मुख्य बात अन्तरङ्ग-साधना की है।" इसलिए उन्होंने सदैव ही स्वाध्याय तथा ध्यान पर बल दिया।

'ध्यान' की प्रथम भूमिका के लिए गुरुदेव कहा करते थे कि निरन्तर स्वयं के अन्दर देखते रहना कि क्या विचार चल रहे हैं, और उनका मन पर क्या प्रभाव पड़ रहा है जिसे वे स्व-अध्ययन (Self Reading) रूप स्वाध्याय कहते थे। इसमें यह प्रयास करना पड़ता है कि हम स्वयं को निरपेक्ष रखें। बस दृष्टा मात्र बने रहें। यह ध्यान में प्रविष्ट होने की सुलभ प्रक्रिया है।

मैं कुछ संस्मरण लिख रहा हूँ और यह बताना चाहता हूँ कि वह दिव्य-आत्मा प्रभु से कैसे जुड़ी हुई थी। भोपाल-चातुर्मास के समय मैं दस दिन उनके सान्निध्य में रहा था। प्रवचनकाल में जिस समय 'समयसार' का व्याख्यान चल रहा था, उस समय वे जो भी दिव्य-बातें बोलते रहते थे, मुझे अनुभवात्मक रूप में उनकी साक्षात् प्रतीति होती रहती थी। मानों परमेश्वर स्वयं उनके रूप में आकर बोध दे रहे हों। वहीं से मुझे यथार्थ बोध होना प्रारम्भ हुआ था।

मैंने यह भी विचित्रता देखी कि उन दिनों गुरुदेव पूर्ण स्वस्थ थे, कफ आदि कोई विकार नहीं था।

दूसरी बात जो अन्तिम समय में उन्होंने मुझसे कही, वह भी विशेष महत्त्व रखती है। गुरुदेव ने कहा—'गुरु के बिना कुछ भी प्राप्त होना असम्भव है, इसलिए गुरु परम आवश्यक है।' अन्तिम समय में उनकी अन्तिम साधना के दर्शनों का लाभ भी मुझे प्राप्त हुआ, और उससे काफी प्रेरणा भी मिली।

श्रद्धेय गुरुदेव श्री वर्णी जी के प्रति हमारी सच्ची श्रद्धाञ्जलि यही होगी कि हम सदैव उनका स्मरण करते हुये उनके बताये हुये मार्ग पर चलकर स्वयं अपना तथा सम्पूर्ण विश्व का कल्याण करने में सहायक हों। ॐ शान्तिः।

●

पूज्य जिनेन्द्र वर्णी की चिकित्सा संस्मरण

वैद्य कपूर चन्द्र विद्यार्थी, दमोह (म० प्र०)

यह मेरा परम सौभाग्य है कि जब कभी भी दमोह शहर में साधु, महात्मा, संत, पुरोहित, पंडित, मौलवी, मौलाना, चाहे वह किसी भी धर्म सम्प्रदाय के क्यों न पधारे हों रुग्णावस्था में मुझे उनकी चिकित्सा करने का सुयोग अनेकों बार प्राप्त हुआ है।

ऐसा ही एक अवसर मुझे पूज्य क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी की सेवा का प्राप्त हुआ। कार्तिकी अष्टाह्निका त्रयोदशी तारीख २९-११-८७ को मैं सिद्ध क्षेत्र कुण्डलगिरि (दमोह, म० प्र०) की वंदना पर था।

वहाँ आचार्य विद्यासागर जी का नैनागिर पहुँचने का संदेश मिला—येन केन प्रकारेण संध्या को ७ बजे श्री नैनागिर जी सिद्ध क्षेत्र पर पहुँचा।

दूसरे दिन आहारचर्या के उपरांत आचार्य श्री विद्यासागर जी से भेंट हुई। उन्होंने पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी की समस्त रोग विषयक जानकारी देकर परिस्थिति से अवगत कराते हुए त न माह की चिकित्सा हेतु मुझे सौंपा।

संध्या हो चुकने पर पूज्य वर्णी जी, बम्बई के सेठ श्री मेहता जी एवं उनकी धर्म पत्नी, श्री अरहन्त जी, बहिन श्रीमती प्रभा देवी जी, मेरे साथ सागर पहुँचे और मोराजी वर्णी-भवन में रात को ठहरे।

उसी समय मैं मुनिसंघ स्वागत समिति के अध्यक्ष श्रीमान् सिंघई जीवन लाल जी से मिला, आचार्य श्री की आज्ञा, पूज्य वर्णी जी की व्यवस्था, आहार चर्या, दिन चर्या, रात्रि चर्या, औषध प्रयोग संबंधी सभी लिखित जानकारी देकर यह कहते हुए दमोह वापिस लौटा कि विशेष परिस्थिति में आप कभी भी बुला सकेंगे। उस समय पू० वर्णी जी की हालत जीर्ण-शीर्ण अवस्था में थी. आहार अल्प मात्रा में था, १—२ रोटी का पाचन कठिनता से हो पाता था, दूध पचता नहीं था, गैस हर क्षण बढ़ती-घटती थी, कफ विकार जोरों पर था. चौबीसों घंटे कफ-खाँसी का दौरा बना रहता था। आवाज धीमी, कभी-कभी स्वर में अत्यंत क्षीणता, बोलने, चलने, बैठने की शक्ति न के बराबर थी। थकने पर सिर नीचा किए बाजौटे पर हाथ टेक कर बैठ जाते थे। अधिकांश समय लेटे लेटे कटता था।

शारीरिक-क्षमता की कमी रहने पर भी पू० वर्णी जी की मानसिक-क्षमता में कोई कमी नहीं नजर आती थी। मानसिक संतुलन सीमित था, विचारधारा धार्मिकभावों से ओत-प्रोत रहती थी।

कफ व खाँसी के दौर ने इतना पीछा कर रखा था कि हर ५ १० मिनट पर थूकने को कफ पात्र की आवश्यकता होती थी। जो सदैव सिरहाने रखा रहता था।

मैंने चिकित्सा हेतु स्वर्ण वसंत मालती, सीतोपलादि चूर्ण, आदि अनेक औषधियों का प्रयोग किया। प्रातः संध्या दोनों समय चंदन व लाक्षादि तैल की मालिश चालू की।

विचार कल्प-चिकित्सा का था. अतएव दो बकरियों की व्यवस्था की गई, जिन्हें चना दाने के साथ वासा पत्र. वरगद पत्र, पीपल पत्र, अश्वगंधादि चूर्ण के साथ दिये, जिसे खाकर बकरी का दूध क्षय नाशक गुणों से पूर्ण होता है और शक्तिप्रद बनता है। २॥) तोला की मात्रा से दूध प्रारंभ किया और शनैः-शनैः मात्रा तीन पाव तक आहार रूप में पहुँची। एक माह के औषध प्रयोग एवं व्यवस्थित परिचर्या से काफी सुधार नजर आने लगा। फलतः पूज्य वर्णी जी

सामायिक को बैठ कर करने लगे और २-३ घंटे ध्यान में लीन होने लगे। तीन-चार बजे रात से ध्यानस्थचर्या में बैठना सरल हो गया।

शरीर की अवस्था को देखते हुए बहिन प्रभा देवी जी ने मुझे, वर्णी जी को ज्यादा मानसिक चिंतन व श्रम न करने की सलाह देने को कहा। मैंने पूज्य वर्णी जी को विनयपूर्वक सावधान किया। सुधार तेजी से हो रहा था, समयानुसार औषधि की मात्रा भी बदलती-बढ़ती जाती थी। परिचारक श्री अरहंत जी, श्री जिनेश जी, श्री महेश जी, बहिन प्रभा देवी जी आदि सभी सजग भावना से वैयावृत्ति में संलग्न थे।

एक माह की परिचर्या के उपरांत एक दिन अकस्मात् व्यवधान खड़े होने का प्राकृतिक-संकेत मिला। जिसने भविष्य उज्ज्वल न देखने की ओर इशारा किया, साथ ही चिकित्सक को अपशकुन से सावधान रहने का संदेश दिया।

मैं नियमित प्रति गुरुवार को साप्ताहिक-चिकित्सा-चर्या का विवरण लेने जाता ही था कि दिनांक २१।१।८३ को मध्याह्न के समय जैसे ही मैं श्री वर्णीजी के निवास पर पहुँचा कि कमरे में विराजमान उलूकराज ने अपने पंख फड़फड़ाते हुये मेरी ओर इकटक दृष्टि से गर्दन उठाकर देखा, मैं भी उसकी ओर देखता हुआ णमोकार-मन्त्र का जाप करता रहा। मेरे दाहिने ओर श्री अर्हंतजी थे, बायें बहिन प्रभा देवी जी थीं, पीछे जिनेश जी थे। प्रभा देवी जी ने मुझे आगे बढ़ने को इशारा किया, मैंने उत्तर देते हुए कहा—बहिन जी, किसी बड़े व्यवधान में पड़ने की ओर इशारा है, चिकित्सा में अनुकूलता मिलने की आशा धूमिल दिखती है, यह चिकित्सा क्षेत्रीय अपशकुन रोगी के लिए व वैद्य के लिए अशुभ सूचक माना जा सकता है एवं असफलता की ओर संकेत करता है।

अन्त में हुआ भी ऐसा ही। कुछ दिनों बाद बकरी के दूध की व्यवस्था अप्रमाणित, अपथ्य कर, अनियमित रूप में बदल गई। जिसके लिए पूज्य वर्णी जी ने प्रायश्चित्त किया, परिचारक अर्हंत जी ने भी प्रायश्चित्त लिया, चिकित्सक के नाते मैंने भी प्रायश्चित्त स्वीकारा।

उपर्युक्त विवरण, व्यवधान, स्वास्थ्य स्थिति, पूज्य वर्णीजी की परिस्थिति सम्बन्धी सारी जानकारी मैंने पूज्य गुरुदेव आचार्य श्री १०८ विद्यासागर जी को स्वयं तारीख १।२।८३ को शिखर जी मधुवन में जाकर दी। गुरु-आज्ञा १५ दिन की अवधि में वर्णी जी को शिखर जी भेजने की हुई, एक माह की औषध का प्रबन्ध करते हुए।

गुरु-आज्ञा ले मैं गुरुवार को सागर पूज्य वर्णी जी से भेंट के निमित्त पहुँचा, तो वर्णी-भवन कार्यालय से ज्ञात किया कि वर्णी जी दमोह मेरे से मिलने के लिए रवाना हो गये हैं, वहाँ से कटनी होते हुए शिखर जी चले जायेंगे।

शाम को सागर से घर लौटने पर पूज्यवर्णी जी के सारे समाचारों से अवगत हुआ। श्री जिनेश जी जो कि पू० वर्णी जी को कटनी लेकर गये थे, दमोह मेरे घर होते हुए लौटे और मेरी अनुपस्थिति में हुई सारी चर्या का वृत्तान्त सुनाया। मैंने भी पूज्य गुरुदेव की आज्ञा सुनाते हुए एक माह की दवा का प्रबन्ध किया।

आचार्य श्री की आज्ञा को शिरोधार्य करने का सौभाग्य एवं पूज्य वर्णी जी की चिकित्सा का संयोग पा मैं अपने को धन्य मानता हूँ एवं सर्वज्ञ प्रभु से प्रार्थना करता हूँ कि पूज्य वर्णी जी की आत्मा को चिर-शान्ति प्राप्त हो। ●

तमसो मा ज्योतिर्गमय

श्री शोभालाल जैन 'शास्त्री' गृहपति, श्रीस्याद्वाद महा वि० वाराणसी

●

श्री परम तपस्वी जिनेन्द्र वर्णी महाराज के निकट रहने का सौभाग्य तो नहीं मिला। लेकिन एक दो बार उनके उपदेशों को सुनने का अवसर अवश्य प्राप्त हुआ। श्री वर्णीजी अध्यात्म-साधना में निरन्तर लीन रहते थे।

वर्णीजी ने जिनवाणी की वीणा बजाने का जो कार्य अपने लौकिक जीवन में किया, और उससे जो रागिनी निकली वह आज भी हम सब के यानी जैन विद्यालय के छात्रों के कानों में गूँज रही है कि तमसो मा ज्योतिर्गमय····ज्योतिर्गमय ·· ज्योतिर्गमय।

यह ज्ञातकर प्रसन्नता हुई कि अध्यात्म सन्त श्री वर्णीजी की 'स्मारिका' निकल रही है। यह जैन समाज वाराणसी का सराहनीय कार्य है। लेकिन जैन विद्या के मनीषी विद्वान् श्री जिनेन्द्र वर्णीजी की स्मारिका निकाल कर हमारी जैन समाज का उत्तरदायित्व समाप्त नहीं हो सकता है। वर्णी-स्मारिका निकालते हुए जैन बन्धुओं को संकल्प करना चाहिए कि उनके उपदेश घर-घर पहुँचाकर सबको लाभ पहुँचायें।

इस स्वर्ण अवसर पर एक जैन विद्यालय का शुभारम्भ करें। जिसमें शाम और सबेरे छोटे-छोटे बच्चों को एक-एक घण्टा जैन धर्म का पाठ्यक्रम पढ़ाया जाय, जिससे आने वाली नई पीढ़ी में जैन-धर्म के प्रति श्रद्धा और रुचि उत्पन्न हो सके। इस पुनीत कार्य में स्याद्वाद महाविद्यालय के छात्र निःशुल्क विद्या के प्रसारार्थ तैयार हैं, तभी वीतराग सर्वज्ञदेव की वाणी को प्रसारित करने वाले श्री जिनेन्द्र वर्णीजी की स्मारिका निकालना सार्थक है, इन्हीं शब्दों के साथ मैं जिनेन्द्र वर्णीजी को श्रद्धा-सुमन समर्पित करता हूँ।

●

भक्ति में भव-भव के मल धुल जाते हैं,
भक्ति से अहंकार नष्ट होता है,
अहंकार नाश से स्वार्थ लीन होता है,
"स्वार्थ" परार्थ बन कर विश्वव्यापी प्रेम बन जाता है।
यह प्रेम ही समता है।
समता में विधि है न निषेध, न इष्ट है न अनिष्ट,
न स्व न पर, न ग्रहण न त्याग,
समता सरसता है सरसता समता है।
यह आत्मकल्याण का सूत्र है।

आत्मकल्याण के लिए निन्दा-प्रशंसा तथा लौकिक चर्चाओं से दूर रहना चाहिए।

—वर्णी वचनामृत

गूढ़ संत

श्रीमती छोटी शकुन्तला, विशारद, वाराणसी

●

श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णीजी वास्तव में एक छिपे हुये सन्त थे। उन्हे पहचानना हर व्यक्ति का समझ से परे है। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ गहरे पानी पैठ' की कहावत उनके ऊपर पूर्णरूपेण चरितार्थ होती है। वे अतस्थल में विचरण करने वाले एक महान् सन्त थे। उनकी एक स्मृति मेरे मानस-पटल पर विद्युत् की भाँति कौंध गयी।

सन् '८१ में कुम्भोज की पहाड़ी पर जब हम लोग दर्शनों के लिये चढ़ रहे थे तभी मेरी बच्ची रुचि ने कहा, 'देखो ! अपने महाराज जी बैठे हैं। मैंने देखा, अरे ! सच वर्णी जी यहाँ हैं और मैं अतिप्रसन्नता से जल्दी जल्दी पहाड़ी पर चढ़ने लगी। वहाँ से उतरकर हम लोगों ने नमस्कार किया, परन्तु वे कुछ न बोले। मैंने सोचा, शायद प्रतिक्रमण-पाठ कर रहे होंगे या सामायिक। हम लोग प्रतीक्षा में खड़े रहे, परन्तु गुरुदेव वैसे ही अपलक-दृष्टि से सामने देखते रहे। कुछ देर बाद मैंने फिर कुछ जोर से नमोऽस्तु कहकर वन्दना की, लेकिन बाबा उसी प्रकार उन्मीलित नेत्रों से सामने देखते रहे। मैंने समझा. बाहुबली भगवान् की भक्ति में लीन हैं, भक्ति-पाठ पूरा हो जायेगा, तब शायद बोलें। इतने में हमारे संग के लोग भी आ चुके थे। करीब २५ व्यक्तियों ने गुरुवर के सामने से गुजरकर सामने निर्मित पंच निर्वाण भूमि आदि के दर्शन किये। कुछ लोगों ने वर्णीजी के बारे में पूछा भी और मैंने उनका परिचय भी दिया. परन्तु बाबा वैसे ही बैठे रहे। कुछ देर बाद मेरे साथ वालों ने मुझे आवाज दी और मैंने भी उन्हें वहीं से जवाब दिया, परन्तु कमाल है कि बाबा ने वह भी नहीं सुना। सूर्यास्त हो चला था, मैंने सोचा चलो सब दर्शन ही कर लिये जायें। मैंने पुनः वन्दन किया, परन्तु वे वैसे ही निर्निमेष दृष्टि से सामने देखते ही रहे। खुली दृष्टि से ऐसा प्रगाढ़ ध्यान मैंने अपने जीवन में पहली बार देखा।

तीर्थयात्रा से हम लोग बनारस लौटे, तब तक वर्णीजी भी बनारस आ चुके थे। मैं दर्शन करने गयी, नमस्कार करके बैठी ही थी कि उन्होंने पूछा—'कर आयी यात्रा, कहाँ-कहाँ गयी थी ? मैंने कुछ दर्शनीय स्थलों के नाम बताते हुए कहा—बाबा ! मैं तो कुम्भोज भी गयी थी, पर उस समय आप सामायिक में बैठ चुके थे। आपका आशीष न मिल पाने से मैं बड़े खिन्न मन से लौटी। बाबा ने चौंकते हुए कहा, 'तू कब गयी थी कुम्भोज ?' मैंने तो तुझे देखा ही नहीं। और वे विस्मय दृष्टि से देखते हुए माथे पर हल्की सी बल डाले मुस्कुराने लगे। मैं मन ही मन सोचने लगी, धन्य हैं ऐसे ज्ञानी जिन्हें बाह्य जगत् का कुछ भी भान नहीं। सब कुछ दृष्टिगोचर होते हुए भी अगोचर हैं—जल से भिन्न कमल की भाँति निर्लिप्त ! अंतर्जगत् में डुबकी लगाकर अध्यात्म के मोती पिरोने वाले वर्णी बाबा की अनुभव गम्य वाणी इसीलिए हमारे हृदय को इतना अधिक स्पर्श करती थी, करती है, करती रहेगी। एसी अद्भुत ज्ञानौषधि पिलाने वाले सत्गुरु वैद्यराज, सरस्वती के वरद पुत्र, सिद्धान्तमर्मज्ञ, मुक्ति वधू के भावी कंत के हम चिर ऋणी रहेंगे। उनकी 'समाधि' स्वयं साधना की गूढ़ता का जीता जागता ज्वलन्त उदाहरण है। ऐसे गूढ़ सन्त के चरणों में पुनः पुनः नमन!

●

जीने की कला : एक चिन्तन

सौ० मंजू पाटनी, अकोला

●

[सन् १९८१ भोपाल वर्षायोग पर जिनेन्द्र वर्णी के प्रवचनों से संकलित]

जीवन एक कला है। जीने की कला सीखना है, इसमें दीनता नहीं होनी चाहिए। मुझे किसी चीज की आकांक्षा नहीं है तो भीख माँगने की क्या आवश्यकता है। किसी के शरण की क्या आवश्यकता है? मेरे जीवन से सभी जीव सुखी हों। चौबीस घण्टे का जीवन बदले बिना जीवन का विकास नहीं हो सकता। जब तक सादा खाना-पीना-पहनना न हो, जीवन का विकास नहीं हो सकता। "Simple living and high thinking" सादा जीवन हो तो ऊँचे विचार होते हैं। क्यों? क्योंकि उसकी आवश्यकता का भार उतर गया है।

जीवन में हम सबसे प्रेम करना सीखें, तो जहाँ प्रेम होगा वहाँ हिंसा हो नहीं सकती। असत्य जहाँ प्रेम होगा वहाँ असत्य हो नहीं सकता। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ चोरी हो नहीं सकती। जहाँ प्रेम होगा, वहाँ अव्रत हो नहीं सकता। जहाँ प्रेम होगा वहाँ परिग्रह-संचय हो नहीं सकता।

मैं अपने चौबीस घंटे के जीवन में देखने और जानने का ढंग बदलूँ। लेकिन भ्रांति इतनी है, संस्कार का इतना प्राबल्य है कि मैं अपना ढंग नहीं बदलता, दूसरे का बदलवा देना चाहता हूँ। और जब दूसरे का बदलवा देना चाहता हूँ, तो यह भूल जाता हूँ कि मैं कहाँ जा रहा हूँ? यह बिमारी तो मैं पहले से लेकर आया हूँ इसी को कहा है अग्रहीत एकान्त! मैं दूसरों को बदल दूँ, प्रतिकूल हैं उन्हें अनुकूल कर दूँ। ये मेरे अनुकूल हो जायें। बचपन में माँ को, बड़ा हुआ तो माता-पिता को, और बड़ा हुआ तो समाज को, हर जगह अनुकूलता प्रतिकूलता की प्रतीति। ये प्रतिकूल हैं, अनुकूल हो जाना चाहिये। मेरा सारा जीवन अनुकूल करते-करते नष्ट हो गया, पर अनुकूल आज तक नहीं हुआ। यही तो गलती है कहाँ जा रहे हो प्रभु! अपने अनुकूल कर लो, सब अनुकूल हो जायेंगे। अपने को बदलने की बात है। परमार्थ अपने को बदलने के लिये है। अपने ऊपर दया करें। अपने को ही समझाये। अपने को ही उपदेश दें। अन्दर से रस निकलते ही सब विकल्प समाप्त हो जायेंगे और इसी का नाम है 'समता'। समस्त विकल्पजालों से जो दूर हुआ, वही साक्षात् अमृतपान करता है। न वहाँ नय है, न निक्षेप है, कुछ नहीं है, समझने की भूमि समाप्त हुई! वहाँ अब समता है, केवल ज्ञान है, केवल ज्योति है, परमार्थ है, चरित्र है—जिसके अन्दर सब कुछ है। इसमें सब आया, अब कुछ कहने की जरूरत नहीं है—समता ही समता है। यही मेरा जीवन होना चाहिए! कितना कुछ कहेंगे! जितना कुछ कहेंगे, सब कल्पना बन जायेगी। मन वकालत करने लगेगा। मन इतना चतुर और कुशल लीडर है कि वह हमको आगे जाने नहीं देगा। अपनी बात हमसे मनवा लेगा। मन ऐसे-ऐसे भुलावे देगा कि हम उसे परख नहीं सकेंगे। वह हमारे ऊपर इतना सुन्दर लिवास उढ़ा देगा कि हम समझेंगे, हाँ-हाँ मैं बदल गया। जो मन को जानता है, वही सबको जानता है। मैंने मन को ही स्व जाना है, विकल्प को ही मैंने ज्ञान माना है। इसमें अन्तर-शक्ति की जागृति के साधन रुक जायेंगे। परन्तु इस चित्त को काबू करना आसान खेल नहीं है, (Theoritically) कह सकते हैं। हाँ बस! चित्त निरोध हुआ, विकल्प नहीं रहे। दो शब्दों के अन्दर हमने कहा, मनोलय हुआ, बस मनोलय हुआ यही तो मुक्ति है। बिलकुल सत्य है, लेकिन मनोलय कैसे हो? प्रश्न तो यहाँ ही है! मन के (Background) में एक बहुत बड़ी शक्ति है; संस्कार पड़े हैं और बराबर उन संस्कारों को रसद मिलती जा रही है, बराबर परिपुष्ट होते चले जा रहे

हैं। ये कैसे दूर हों ? हाँ इसके लिये सारा आचार-शास्त्र रचा गया। इन संस्कारों के अन्दर कितनी शक्ति है ? यह जानने की जरूरत है ! फ्रन्ट के ऊपर तो केवल मन बैठा है लेकिन इसकी पृष्ठभूमि में कितना कुछ है ! फ्रन्ट के ऊपर जो है वह थोड़ी सेना रहती है, लेकिन इसे सेना नहीं माना जा सकता। सेना वह है जो पृष्ठभूमि में है, जहाँ से वह चली आ रही है। संस्कार जहाँ से चले आ रहे हैं। इन्द्रियों के माध्यम से मन के माध्यम चले आ रहे हैं विषय। विषय से राग-द्वेष और कषाय होती है, कषायों के द्वारा फिर हमारा जन्म-मरण होता है। जन्म-मरण से फिर शरीर मिलता है, शरीर से फिर इन्द्रियाँ मिलती हैं, इन्द्रियों से फिर विषय-ग्रहण होता है, विषय-ग्रहण से फिर राग-द्वेष और कषायें होती हैं। इसी प्रकार हमारा चक्र चलता रहता है। कैसे रोकें ?

आचार-शास्त्र की शरण ही एक मात्र प्रमाण है। करना है, सब तरफ करना है। हमारे चारों तरफ से शत्रुओं ने प्रतिबन्ध लगा रखा है। हमारे रोम रोम से संस्कारों का प्रवेश हो रहा है। यह सब कैसे रोका जा सकता है ? सब हो सकता है, इसके लिए ईमानदारी आवश्यक है। हम अपने प्रति ईमानदार हों, केवल अपने प्रति। हम भ्रान्ति में न पड़ें, अपने लिए ही करें और कहीं संतुष्ट न हो जायें, क्योंकि मार्ग लम्बा है। भले ही हम धीरे चलें, पर चलते रहें रुकें नहीं। 'slow but steady' अधीरता से नहीं। धैर्यपूर्वक चलना है, धीरे चलना है, पर चलते रहें, रुकें नहीं, किसी चीज पर संतुष्ट नहीं होना है। बहुत-दूर है हमारा गोल (लक्ष्य)। इसी प्रकार चलना है। हम चलें, अपनी शक्ति के अनुसार चलें, शक्ति को छिपा कर चलें। न शक्ति से अधिक और न शक्ति से कम।

बहुत सारी चीजें पहले-पहले हमें बाहर करनी होंगी, इसीलिये कि उनके माध्यम से इन्द्रियाँ मन को पुष्ट किये जा रही हैं। बुद्धिपूर्वक त्याग ही एक दिन 'जीवन' बन जायेगा। लेकिन कुछ बाहर का छोड़ना मात्र ही नहीं, वह तो एक उपचार है। कुछ छोड़ने के द्वारा हमें कुछ प्राप्त करना है। वह तो एक Negative term है Positive-term तो हमारा जीवन है Negative-term कहेगा ये छोड़ो, चारित्र कहेगा ये छोड़ो लेकिन यह हमारा जीवन नहीं। Negetive तो हम इसलिये कर रहे है कि वह असत्य है, उसके द्वारा हमारे अन्दर असत्य प्रवेश कर रहा है। तो हम केवल प्रतिबन्ध लगा रहे हैं कि असत्य रुक जाये बस। सत्य तो हमारे अन्दर है ही। बाहर से निवृत्ति। अगर दोनों साथ-साथ चलें तो सफलता है, अगर केवल बाहर से निवृत्ति और अन्दर में कुछ नहीं, तब तो वह जीवन निराशा की ओर जायेगा। नैराश्य छा जायेगा। यही होता है जीवन में दैन्य छा जाता है। मैं केवल ज्ञान की तरफ जाता हूँ—यह भी हटो, यह भी हटो—हटाता चला जाता हूँ, हटाता चला जाता हूँ। दिखता है मेरा जीवन तो शून्य सा बन गया है, कुछ है ही नहीं, क्योंकि अन्दर तो कुछ था ही नहीं, बाहर जो था वह हट गया, फिर वह आलम्बन ढूँढता है इधर-उधर कुछ मिले। तो दीनता छा जाती है। गलती हुई न। दोष नहीं प्रभु ! गलती हटा दो भगवन्। ऐसे नहीं कहा था गुरु हमने। क्या त्याग नहीं करना। यह भी नहीं करोगे तो वासनाएँ परिपुष्ट होती ही चली जायेंगी। और मन हमारा बस नहीं चलने देगा। हम अन्दर में हजार प्रयत्न करेंगे, ध्यान करें लेकिन ध्यान नहीं होगा। सब कहते हैं, ध्यान करते हुए ध्यान नहीं होता। पूजा करते हैं, मन बाहर होता है, क्या करे ? तो गुरु बता रहे हैं। क्या करें ? कहने से तो मन रुकता नहीं। मन दो अक्षरों का एक शब्द है और अन्दर भी अणु मात्र प्रमाण है यानि कुछ है नहीं। मच्छर के समान है। तो कुछ ऐसे हो रहा है कि मच्छर बब्बर शेर को काबू किये रखे है।

ऐसी ही कुछ बात हो रही है जीवन में। मच्छर ही है वह। है कुछ नहीं। परन्तु अब तो बहुत वलिष्ठ हो रहा है, इसलिये कि सिंह मूर्छित है। प्रभु! जागिये-जागिये! बाहर से बहुत कुछ करना होगा। मन को काबू करने के लिये जिसने बिधान बताये हैं, वे बाहर से बिषयों से निवृत्ति के लिए हैं। अशुभ से निवृत्ति और शुभ में प्रवृत्ति। पहली Stage यही है। भगवान् के दर्शन करें, पूजा करें, व्रत करें। ये जो कुछ भी प्रवृत्ति या निवृत्ति रूप क्रियायें हैं, आचार-शास्त्र में कही हैं। उनके साथ-साथ मेरे अन्दर में भो कुछ प्राप्ति हो, तो साथ-साथ चलने वाली क्रियाएँ भी सार्थक होती हैं। शब्दों में आचार-शास्त्र हम सभी जान चुके हैं। कौन शत्रु कौन मित्र, कौन संस्कार और कौन मेरा स्वरूप है; यह जानते हुये बराबर चलना है, चलें तो ईमानदारी से। संस्कार आया तो यह आस्रव नहीं है। जितना भी हो, समता के लिये हो। पूजा हो तो समता के लिये, व्रत हो तो समता के लिए। लक्ष्य वही है। सब क्रिया-मालायें उसी में लीन होती चली जायेंगी। प्रारम्भ से ही जो काम करूँ, लक्ष्य टिकाकर समता के ऊपर ही। बाहर का त्याग, समता के लिए। गुरुचरण-शरण, स्वाध्याय, ध्यान, प्रोषधोपवास जो भी करूँ समता के लिये। 'समता' के लिए शब्द नहीं। समता की अभिवृद्धि के लिये प्रयत्न करूँ, कोई इष्ट-अनिष्ट या मेरा-तेरा न लगे मेरी दृष्टि में। यही होगा मेरा सम्यक् आचरण। करें धीरे-धीरे। जितनी लम्बी बीमारी उतना ही इलाज करें, फिर भी बीमारी तो है अनादि की, लेकिन इलाज यदि चाहें तो दो-चार भव में हो ही सकता है।

●

'एकला चलोरे'

श्री विजय सिंह जैन, बी० एस सी०, वाराणसी

●

जीवन में सन्ध्या का आना अपरिहार्य है। फिर भी वही स्मरणीय बन जाता है। जो समाज को कुछ दे जाता है। श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णी जी इस युग के दधीचि थे जिन्होंने समाज एवं धर्म के लिए अपना जीवन सर्मपित किया। उन्होंने अपनी साधना से समाज को भेद-विज्ञान का रहस्य समझाया। हाड़-माँस के शरीर तो जड़ है, चेतना अलग है। इस तरह का नीर-क्षीर विवेकी संत दुर्लभ होता है।

पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी के जीवन में विश्वकवि ठाकुर की पंक्ति—'**एकला चलो रे**' का शान्त स्वर सुनाई पड़ता है। और उससे मिलती रहती है जीवन डगर पर आगे बढ़ते रहने की सतत प्रेरणा! होता है पथ जिससे सुगम सरस मधुमय सा!

बुझी हुयी राख में आँच नहीं मिलती
अनजाने राही को राह नहीं मिलती,
जिन बनने के हौसले सबके मिलते हैं
त्यागी भी मिलते हैं लेकिन त्याग नहीं मिलता है।

●

वर्णी व्यक्तित्व-परिचर्चा (१)

डॉ० फूलचन्द 'प्रेमी' की श्रीमती पुष्पा जैन (पत्नी खच्चू बाबू) से वार्ता

●

प्रश्न : आपने सर्वप्रथम वर्णी जी के दर्शन कब किये ? और आप पर उनका क्या प्रभाव पड़ा ?

उत्तर : १५ वर्ष पूर्व वे बनारस आये और मैदागिन मंदिर में ठहरे। मैंने उनका प्रवचन सुना था। उस समय मुझे जैन-धर्म का कोई ज्ञान नहीं था, क्योंकि मैं वैष्णव सम्प्रदाय की थी। वर्णी जी के प्रवचनों से मुझे जैन-धर्म के प्रति श्रद्धा व रुचि जागृत हुई।

प्रश्न : वर्णी जी के प्रथम दर्शन के बाद आपने उनमें अन्य सन्तों से क्या वैशिष्ट्य पाया ?

उत्तर : उनकी शान्त सौम्य मुद्रा देखकर मन में प्रसन्नता का अनुभव होता था। मैं अन्य सन्तों के भी दर्शन करती थी, किन्तु वर्णी जी के प्रति जो श्रद्धा भाव जागृत हुआ, वह अन्यों के प्रति न जागृत हो सका। वे जो कहते थे या प्रवचन देते थे, उमसे यही लगता था मानों हमारी ही बात, हमारे ही भाव बोल रहे हों।

प्रश्न : आपने उनसे किसी मूल-ग्रन्थ का अध्ययन किया है ?

उत्तर : प्रारम्भ में 'मोक्षशास्त्र' का अध्ययन उन्हीं से किया था। वे श्याम पट्ट पर एक-एक बात समझाकर बताते थे, इससे जटिल विषय स्पष्ट हो जाता था। हम लोग अपनी कॉपी में उसे नोट करते जाते थे।

प्रश्न : वर्णी जी से किन बातों की शिक्षा मिली ?

उत्तर : वर्णी जी शान्ति, समता और प्रेम पर विशेष बल देते थे। उनके वचन अब भी मन में गूँजते हैं और लगता है वर्णी जी जैसा ही शान्त और संयमित जीवन हमारा रहे। उनके पास जो अमृत था, उसकी अनुभूति हमें भी हो।

●

परिचर्चा (२)

●

डॉ० फूलचन्दजी जैन (प्रेमी) और श्री जयकृष्ण जैन (मुन्नी बाबू) की माताजी की बात-चीत

१. डॉ० साहब—आप वर्णी जी के सान्निध्य में कब से रहीं ? क्या अन्तिम समय भी आप उन्हीं के निकट थीं ?

माता जी—१५-१६ वर्ष उनके सान्निध्य में रही। ईसरी में तो सुबह हम लोग उनके पास जाते और शाम तक उनकी सूचना लेने के लिए आस-पास ही बैठे रहते। सल्लेखना-काल में आचार्य श्री हम सबको वर्णी जी के निकट अधिक समय तक नहीं रहने देते थे। वे कहते थे कि—"बनारस वालों के बीच वे अधिक समय तक रहे हैं, अतएव बनारस वालो को उनके निकट अधिक विलम्ब तक नहीं रहना चाहिए। हमारे मन में यही भाव बराबर बना रहता था कि वे सल्लेखना-व्रत न लें, किसी तरह उन्हें बचाया जायँ, जिससे ज्यादा काल तक उनका सान्निध्य बनता

रहें । शायद यही कारण हो कि आचार्य श्री हमें दूर रखना चाहते थे अथवा यह हो कि हमारी उपस्थिति ममत्व वृद्धि का कारण न बन जाये ।

२. डॉ० साहब—इसके पूर्व कभी आपने समाधि-मरण देखा था ? इनके सल्लेखनाव्रत से आपको कैसा लगता था ?

माता जी—वे अपना सब कुछ त्यागकर इतने ऊँचे उठ गये थे, ऐसा हम जानते भी नहीं थे । इन्हीं के उदाहरण से ऐसा जाना कि जीवन को सार्थक बनाने वाला सल्लेखना-व्रत ऐसा होता है ।

३. डॉ० साहब—ऐसी क्या बात थी कि वे बनारस आये और यहीं बस गये ?

माता जी—हमारी समझ में तो यह सब पूर्व-संस्कारों की बात है । इसके साथ ही यह भी विशेष बात थी कि यहाँ उन्होंने ज्ञान-ध्यान की दृष्टि से अनुकूलता देखी और बनारस के लोगों का प्रेम देखा, इसलिए वे यहीं के हो गये । हमने बहुत से सन्त देखे हैं, किन्तु इन्हें पाकर हमें लगा कि इनका जीवन सचमुच ही सन्त जैसा सीधा-सादा है । इन्हें किसी की बातों, किसी की झंझटों से मतलब नहीं था । वे पढ़ते-पढ़ाते, लिखते और पास में आये लोगों को ज्ञान की बातें बताते थे । बस, यही उनकी जीवन-चर्या थी । उन्होने जितना हमारे साथ किया, उसका एक पैसा बराबर भी हमने उनके लिए नही किया, यही हमें प्रतीत होता है । हम लोगों का वर्णी जी के प्रति अत्यधिक ममत्व हो गया था और हम लोग चाहते थे कि उनकी छत्रछाया हमारे ऊपर सदा बनी रहे ।

४. डॉ० साहब—आप कितने दिनों तक समाधि-मरण के काल में वर्णी जी के निकट रहीं ? उस समय उन्हें देखकर आपको कैसा लगता था ?

माता जी—समाधि-मरण की अवधि में दो बार ईसरी गई । मैंने जीवन में प्रथम बार यह समाधि-मरण देखा और मैं अन्तिम समय तक रही । उनमें वही शान्ति, वही समता, वही प्रेममयी दृष्टि देखने को मिली, जो सदा उनमें देखी थी । ऐसा लगता था कि क्या सचमुच कोई इतना हँसते हुए, साहस पूर्वक मृत्यु को गले लगा सकता है ? ऐसी कौन सी अलौकिक शक्ति है, जो ये ऐसा कर पा रहे हैं । उन्हें इस अवस्था में शान्ति और आनन्द में देखकर यही लगता कि उन्हें किसी प्रकार का कष्ट न हो । उनकी सल्लेखना अच्छी तरह सम्पन्न हो । इसके लिए महिलाओं ने णमोकार-मंत्र का पाठ किया था ।

५. **डॉ० साहब**—क्या आपने कभी उन्हें परेशान भी पाया ? यदि हाँ, तो आपने उसे दूर करने का क्या उपाय किया ?

माता जी—उन्हें जब कभी यह प्रतीत होता कि यह शरीर अब लोकोपकार करने में असमर्थ है और इस कारण पृथ्वी पर भार-स्वरूप है तो उन्हें कष्ट होता था । उसे दूर करने के लिये मैं कहती कि महाराज ! आपने तो इससे इतना उपकार किया है कि ऐसे शरीर से कोई कर ही नहीं सकता, आप तो बड़े ज्ञानवान् है ।

६. **डॉ० साहब**—वर्णी जी तो नित्य काफी समय तक ध्यान-साधना और स्वाध्याय करते थे । इतनी कृश-काया के बावजूद उनमे ये सब करते रहने की क्या क्षमता थी ?

माता जी—वर्णी जी कहा करते थे कि पूर्वकृत कर्म जब साथ देते हैं, तब कार्य करने की अपने आप प्रेरणा मिलती रहती है। कभी-कभी देखा गया है कि ७-८ वर्ष की उम्र में भी बच्चों में अद्भूत शक्तियाँ जाग्रत हो जाती हैं। वर्णी जी में भी अद्भुत आध्यात्मिक शक्तियाँ थीं जिसके कारण शरीर क्षीण और रोगी होने पर भी वे निरन्तर ध्यान, स्वाध्याय और लेखन में लगे रहते थे। हम सभी को ज्ञान-दान देते रहते थे।

७. **डॉ० साहब**--उनके जीवन की सबसे अच्छी ऐसी कौन सी घटना है, जिसकी आपके मन पर अमिट छाप पड़ी ?

माता जी—उनके दर्शन मात्र से वैसे तो लगता था कि हमारा जीवन सार्थक हो रहा है। ऐसा भी लगता था कि कोई शक्ति है जो निरन्तर हमें प्राप्त हो रही है। उनके जीवन के अन्तिम समय की घटना—सल्लेखना के विधिवत् पालन ने ही मुझे अत्यधिक प्रभावित किया। मुझे लगा कि क्या सचमुच इतनी कृश काय वाला कोई कठोर-व्रत धारण कर सकता है ? इससे यह भी लगा कि उनके अन्दर ऐसी अद्भुत आध्यात्मिक शक्ति है, जो उन्हें सफलतापूर्वक इस व्रत को करने की क्षमता प्रदान किये हुए है। उस समय उनका रूप ही अद्भुत था। मोह-ममता आदि सभी कुछ छोड़ दिया। यह सत्य है कि जीवन-भर कोई साधना करे और अन्तिम समय में कोई इस तरह मरण न कर पाये तो उसका साधनामय जीवन ही अधूरा रहता है। इस एक घटना से हमें ये लगा कि उन्होंने तो अपना जीवन सार्थक कर दिखाया। अब यही लग रहा है कि हमारा जीवन कैसे ऐसा बने। उनका सान्निध्य जितना नज़दीकी से मिला, उससे हम और भी बहुत कुछ सीख सकते थे, किन्तु हम वैसे नहीं बन सके। फिर भी उनके दर्शन मात्र से ऐसा लगता था कि जीवन इसी में सार्थक है। जीवन में सन्तोष और समता, शान्ति उनके सान्निध्य से ही प्राप्त हो रही है। हमारे जीवन में भी कितने संघर्ष आते, किन्तु उन्हीं से सबका समाधान प्राप्त हो जाता था। वे कहते 'जीवन वही है, जिसमें प्रेम और समता हो।

●

भक्ति में शक्ति

श्री शीलचन्द्र जैन 'फणीन्द्र' श्री स्याद्वाद महाविद्यालय, काशी

●

भक्ति में अपार शक्ति है, इसे भक्त-हृदय ही अनुभव करता है। जबसे मैं महाराज वर्णी जी के सान्निध्य में आया, तब से मुझे उनकी भक्ति से इतनी शक्ति मिली कि विद्याभ्यास का कार्य पूर्ण होता गया। जब भी मैं वर्णी जी के निकट गया, उन्हें निरन्तर सुबह से शाम तक श्रुत-सेवा में तत्पर देखा, इसके बाद वे सामायिक के लिए बैठ जाते। उनकी इन सब आध्यात्मिक-क्रियाओं का मुझ पर बड़ा अमिट प्रभाव पड़ा। मैं प्रयत्न करूँगा कि मैं भी आजीवन साहित्य की सच्ची सेवा कर सकूँ। जिनवाणी के प्रति मेरी रुचि बनी रहे। श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णी जी के जीवन का यह महाफल मुझे भी आंशिक रूप में प्राप्त हो जाय तो मैं अपना सौभाग्य समझूंगा। उनका यह उपदेश रूपी मंत्र मेरे प्राणों में गूंजता रहे "काल भगवान् की उपासना से कुछ भी असम्भव नहीं। एक क्षण भी व्यर्थ न जायें।"।

अपने आश्रितों को सद्गुण देने वाले ऐसे परम तपस्वी को मैं सहस्रबार नमन करता हूँ।

●

अभिनन्दन और वर्णी जी

संकलन : श्री ध्रुव कुमार जैन

●

वर्णी जी के शब्दों में ही,

"अभिनन्दन समारोहों को मैं अच्छा नहीं समझता। भारतीय ज्ञानपीठ ने मेरा अभिनन्दन किया था। तब मैं मुश्किल में पड़ गया। उनका पत्र आया कि अभिनन्दन करना चाहते हैं। मैंने अपनी ओर से पत्र लिखा कि वर्णी को यदि सेवा के लिए बुलायेंगे तो वह आधी रात को भी आयेगा, लेकिन जिस अभिनन्दन के लिए आप उसे चाह रहे हैं, तो शायद है उसमें वह समय पर न भी पहुँच पाये। पूरी स्कीम चुपके-चुपके बनी छप कर तैयार हुई और लक्ष्मी चन्द जी (तत्कालीन मंत्री अब निर्देशक) मेरे पास पहुँच कर कहने लगे कि अब तो तैयारी हो चुकी है। आपकी इच्छा, स्वीकार करें या न करें। हमारा मान आपके हाथ में है। तब मैं क्या करता ? स्वीकार करना पड़ा। अभिनन्दन सब औपचारिक है मैं तो जिनवाणी का शिशु हूँ, अधिक कहें तो आप सेवक मान सकते हैं, मेरे लिए तो यह सब होना ही नहीं चाहिये। इसमें मुझे बड़ी लज्जा महसूस होती है।"

●

वर्णी जी की साहित्य साधना

डॉ० मनमोहन स्वरूप माथुर, पानीपत
हिन्दी विभाग, आई० बी० कालेज, पानीपत (हरियाणा)

●

भारतीय साहित्य में जैन धर्मावलम्बियों का विशिष्ट स्थान है। इसी श्रृंखला में एक जाना-पहचाना नाम है—पानीपत निवासी क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी जी का। वर्णी जी ने अपने जीवन काल में प्रकाशित-अप्रकाशित पंद्रह रचनाओं का निर्माण किया। ये निम्नलिखित हैं—

(क) प्रकाशित कृतियाँ

१. शान्ति पथ प्रदर्शन (१९५९ ई०), २. नय दर्पण (१९६५ ई०), ३. कुन्द-कुन्द दर्शन (१९६६ ई०), ४. कर्म सिद्धान्त (१९६ ई०), ५. जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश (१९७० ई०), ६. सत्य दर्शन (१९७२ ई०), ७. वर्णी दर्शन (१९७४ ई०), ८. जैन-तीर्थ-क्षेत्र मानचित्र (१९७४ ई०), ९. समण सुत्तं (१९७५ ई०), १०. जैन सिद्धान्त शिक्षण (१९७६ ई०), ११. कर्म रहस्य (१९८१ ई०) और १२ पदार्थ विज्ञान (१९८२ ई०)।

(ख) अप्रकाशित कृतियाँ

१३. महायात्रा (मुद्रणाधीन), ४. वैदिक-पुराण-मंथन तथा १५. उपनिषद् संकलन।

इनमें से अधिकांश रचनाएँ दिगम्बर जैन-धर्म-दर्शन से सम्बन्धित हैं। सत्य दर्शन एवं अप्रकाशित रचनाएँ जैनेतर धर्म-दर्शन से सम्बद्ध हैं। 'जैन तीर्थ क्षेत्र मानचित्र' जैन तीर्थों, उनके मार्ग आदि का संकेतक नक्शा है तथा 'वर्णी-दर्शन' नामक रचना में लेखक ने स्व० श्री गणेश प्रसाद जी वर्णी के जीवन परिचय के साथ उनके प्रवचनों का सम्पादन प्रस्तुत किया है।

वर्णी जी के जैन-साहित्य को आकार की दृष्टि से दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—(अ) बृहदाकार रचनाएँ एवं (आ) लघु रचनाएँ। जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश, 'नय-दर्पण' 'समण सुत्तं' प्रथम वर्ग की कृतियाँ हैं। शेष रचनाएँ लघु आकार की हैं। स्थानाभाव के कारण यहाँ हम मात्र बृहद् रचनाओं की ही बात करेंगे।

'नयदर्पण' वर्णी जी की एक महत्त्वपूर्ण जैन दार्शनिक रचना है। इंदौर और अजमेर के दिगम्बर जैन समाज में अनेकान्त निक्षेप, प्रमाण, नय, सम्यक् व मिथ्याज्ञान, द्रव्य, सप्तभंगी, स्याद्वाद, आत्मा, ऋजु सूत्र, शब्द आदि १६ विषयों पर दिये गये प्रवचनों का यह संग्रह है। इस संकलन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वर्णी जी ने सहज उदाहरणों और सरल भाषा द्वारा नय जैसे गम्भीर विषय को जनोपयोगी बना दिया है। ग्रंथ की सम्पूर्ण सामग्री ७७२ पृष्ठों में समाहित है।

जैन संस्कृति श्रमण संस्कृति नाम से भी जानी जाती है। इस संस्कृति को स्पष्ट करने वाली गाथाओं का संग्रह ही 'समण सुत्तं' (श्रमण सूक्तम्) नामक रचना है। इसमें जैन धर्म-दर्शन की सारभूत बातों का चार खण्डों और चौवालीस प्रकरणों में संग्रह किया गया है। ये चार खण्ड हैं—ज्योतिर्मुख, मोक्षमार्ग, तत्त्व दर्शन और स्याद्वाद।

वर्णी जी ने इस ग्रंथ का निर्माण आचार्य विनोबा भावे की इस प्रेरणा के साथ किया कि जिस प्रकार वैदिक धर्म का सार ७०० श्लोकों में 'गीता' में समाहित है, बौद्ध धर्म का सार 'धम्मपद' में आ गया है, वैसे ही जैन धर्म के सभी सम्प्रदायों का, कोई मानक ग्रंथ निर्मित हो। उसी भावना से सम्प्रदायातीत होकर जैन ऋषि-मुनियों की गाथाओं का संकलन इनमें किया गया

और चारों सम्प्रदाय के विद्वानों की संगीति में उसे प्रमाणित कराया गया। इस प्रकार ७५६ गाथाओं में यह 'समण सुत्तं' जैन धर्म का प्रामाणिक ग्रंथ है। धार्मिक महत्त्व के साथ ही उसका साहित्यिक महत्त्व भी है। क्योंकि संग्रहीत गाथाकारों की साहित्यिक रुचि एवं शिल्प का यह ग्रंथ हमें बोध कराता है।

जिनेन्द्र वर्णी जी द्वारा संन्यास धारण करने से आगे तक जो कुछ उन्होंने पढ़ा, अनुभव किया—उन्हीं का संकलन 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' नाम से प्रसिद्ध है। इसका चार भागों में भारतीय ज्ञानपीठ द्वारा सन् १९७० ई० में प्रकाशन हुआ। जैन साहित्य में ही नहीं, सम्पूर्ण कोश साहित्य परम्परा में भी इसका सदैव महत्त्व रहेगा। जैन साहित्य से सम्बन्धित शोधार्थियों के लिए यह आधार ग्रन्थ है। इसमें लेखक ने सकल दिगम्बर जैन साहित्य से सम्बन्धित शब्दावली, सिद्धान्त, भूगोल, इतिहास, पौराणिक व्यक्ति, राजपुरुष, राजवंश, शास्त्रकार आदि का संग्रह किया है। इनकी व्याख्या, शब्द का अर्थ, उसके भेद-प्रभेद, कार्य कारण, भाव, हेयोपादेयता, निश्चय-व्यवहार, उसकी प्रमुखता, शंका-समाधान, समन्वय आदि दृष्टियों से की गई है। संदर्भ को स्पष्ट करने के लिये मूल उद्धरण और उसकी हिन्दी छाया भी प्रस्तुत की है। श्वेताम्बर, हिन्दू आदि धर्मों में भी उस संदर्भ की कोई बात है तो उसका भी समन्वय कोशकार ने किया है। इस प्रकार इन चारों खण्डों में छः हजार शब्दों और २१ हजार विषयों का सांगोपांग विवेचन हुआ है। इस रूप में वर्णी जी ने एक विषय से सम्बन्धित अन्य ग्रंथों में उपलब्ध सम्पूर्ण सामग्री का इसमें दोहन किया है।

इस प्रकार आधुनिक जैन चिन्तकों में क्षुल्लक जिनेन्द्र वर्णी का महत्त्वपूर्ण स्थान है। आपके साहित्य के विवेचन के उपरान्त यह स्पष्ट होता है कि उनके पास एक सुलझी हुई संपादन-शक्ति थी, जिनके द्वारा उन्होंने जैन धर्म से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की मौलिक व्याख्या की। 'समणसुत्तं', ''नयदर्पण' 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' इस दृष्टि से उनका महत्त्वपूर्ण योगदान है।

निःसन्देह वर्णी जी जैन थे। जिनवाणी पर उनका अटूट विश्वास था। फिर भी उनकी रचनाएँ इस ओर स्पष्ट संकेत करती हैं कि वे सम्प्रदाय और रूढ़िवाद से बहुत दूर थे। सत्यदर्शन, महायात्रा, वैदिक पुराण मंथन, उपनिषद् संकलन जैसी रचनाएँ उनके समन्वयवादी व्यक्तित्व को प्रस्तुत करती हैं। अत वर्णी जी को सम्प्रदाय विमुक्त, जैनधर्म को नव दृष्टि देने वाले, गुणों के आगार, महामनस्वी साहित्यकार के रूप में ही स्वीकार करना उपयुक्त होगा। उनका सम्पूर्ण साहित्य उनके इसी व्यक्तित्व को परावर्तित कर रहा है।

●

अकारण निष्काम प्रेम

श्री विमलकुमार गोधा, वाराणसी

जिनके जीवन में जितना कम प्रेम होगा, उनके जीवन में उतनी ही ज्यादा घृणा, विद्वेष, ईर्ष्या, प्रतिस्पर्धा और दुःख होगा। इन सबसे जो आदमी जितना घिरा है उसकी सारी शक्ति रुग्ण और विकृत हो जाती है। और उनके निकास का एक मात्र मार्ग है 'प्रेम पूर्ण' होना।

सवाल मात्र मनुष्यों के साथ ही प्रेम करने का नहीं बल्कि प्रेम पूर्ण होने का है। जब कोई माँ अपने बच्चे को कहती है कि मैं तेरी माँ हूँ, इसलिये प्रेम कर, तब वह बच्चे को गलत शिक्षा दे रही है, क्योंकि जिस प्रेम में 'इसलिये' लगा हुआ है वह प्रेम झूठा है मात्र दिखावा है। क्योंकि वह प्रेम का कारण बता रही है। जब कि प्रेम तो अकारण ही होता है, प्रेम कारण सहित नहीं होता। माँ को तो यह कहना चाहिये कि यह तो तुम्हारे-अपने व्यक्तित्व, भविष्य और आनन्द की बात है कि जो भी तुम्हारे मार्ग में पड़ जाये उससे तुम प्रेम पूर्ण व्यवहार करो।

जहाँ प्रेम होता है वहाँ राग, द्वेष रूपी कषाय नहीं फटकती इस प्रकार प्रेम पूर्ण व्यवहार जीव को स्वयं ही समानता की ओर ले जाता है। और जहाँ समताभाव रमण करता है, वहाँ सम्मान और प्रतिष्ठा अनायास ही कदम चूमते हैं।

ऐसा अकारण/निष्काम प्रेम पू० वर्णी जी का था। उन्होंने अपने जीवन काल में ज्ञान और प्रेम से परिपूर्ण होने का प्रयास किया और सफल रहे। उन्होंने मृत्यु का भी उतने ही प्रेम पूर्ण ढंग से स्वागत किया जितना जीवन का। यदि ऐसा ही हर व्यक्ति प्रयास करे तो कठिन एवं विपरीत परिस्थिति में भी आनन्द पूर्ण रह सकता है।

●

दिशा-बोध

श्री प्रताप सिंह जैन, वाराणसी

जीवन में यदा-कदा ऐसे क्षण आ उपस्थित हो जाते हैं कि जिससे जीवन को दिशा मिल जाती है। दिनांक १९-१०-६८ मेरे लिए एक ऐसा शुभ-दिवस था जब एक महामानव से अल्प क्षणों में बहुत कुछ पा लिया। वे थे पूज्य जिनेन्द्र वर्णी, जिन्होंने जैन-तत्त्व ज्ञान को न केवल सरल-सुबोध भाषा में समझाया अपितु उसे अपने जीवन में जी करके एक आदर्श प्रस्तुत किया है। क्षीण सी काया में वे अथाह-ज्ञान के सागर थे। व्यक्ति जीवन में कोई भी कार्य करता है तो वह मोह, भय, द्वेष व अहं कार के वशीभूत होकर ही करता है, परंतु पू० जिनेन्द्र वर्णी जी ने जो कुछ किया उसमें उपरोक्त चारों में से कोई भी कारण नहीं था। मात्र थी लोकोपकार की भावना। वह कितनी व किस दर्जे की पवित्रात्मा थी, उसका माप हम जैसे लोग नहीं कर सकते।

पू० जिनेन्द्र वर्णी जी ने शुद्ध-तत्त्व को हृदयंगम कर इसी को जीवन का लक्ष्य बनाया और उसी में लीन हो गये। उन्होंने जो बीजमंत्र हमें दिया वह था—

ॐ

शुद्ध-तत्त्व में लीन हो
क्षु० जिनेन्द्र वर्णी
१९-१०-६८

काशी और वर्णी जी

श्री अरुण जैन (अन्नू), बी० काम, वाराणसी

भारत की सांस्कृतिक राजधानी काशी। बाबा विश्वनाथ की नगरी काशी। भगवान् बुद्ध की देशनास्थली काशी। जैन धर्म के चार तीर्थंकरों की जन्मनगरी काशी। परमपावन गंगा जिसकी सहचारिणी रही है। उसी गंगा के तट पर बसा भदैनी घाट। और भदैनी घाट पर ही स्थित तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ का मंदिर। सब वही है वैसा ही है। गंगा आज भी उसे वैसे ही प्रच्छालित कर रही है, स्वच्छ परमपावन कर रही है। कमी है तो उस संत की जिसने इस स्थली पर ज्ञान ज्योति विकसित की, जीवन की सार्थकता प्राप्त की।

वह संत जो शरीर से कृशकाय किन्तु दृढ़ आत्मबल का धनी था, प्रेम की प्रतिमूर्ति रहा, सत्यता की जो स्वयं कसौटी रहा, जिसकी कथनी व करनी में कोई विरोधाभास नहीं था, आत्म-प्रचार से सर्वथा विरत रहने वाला और लेखनी जिसके वर्णन के लिए ओछी पड़ जाती है....

आज से ७-८ वर्ष पूर्व पिता जी ने एक दिन कहा कि जैन धर्म को सरलतम रूप में भगवान् *महावीर के बाद समझाने वाले पूज्य जिनेन्द्र वर्णी हैं तो सहसा विश्वास नहीं हुआ, अतिशयोक्ति* लगी। मन में उनको निकट से जानने को उत्कंठा भी हुई।

भदैनी गया तो देखा एक दुबला-पतला व्यक्ति बैठा है जिसके चारो तरफ तथाकथित संतों जैसे भीड़ नही थी, आत्म प्रचार नहीं था। करीब गया तो देखा श्वेत चादर व लंगोटी लगाये एक दुर्बल व्यक्ति बैठा है जिसके आगे २-४ पुस्तकें रखी हैं व कुछ व्यक्ति। और वह मौन साधक कुछ लिखने में तल्लीन।

उन्हें आभास ही नहीं कि कब उनके पास जाकर बैठ गया। देखा तो देखता ही रह गया। चेहरे पर बालकों सदृश सरलता और सहजता, उनके दर्शन मात्र से ही आत्मिक शांति महसूस हुई।

उनकी पुस्तक शांति पथ प्रदर्शन पढ़ी अच्छी लगी। उनके प्रवचन जो यदा-कदा ही होते थे सुने, लगा कि उनकी बातें सीधे हृदय को छू रही है। लगा कि वे बौद्धिक जगत् के ऊपर हार्दिक जगत् को प्राथमिकता देते रहे।

विनोबा ने जिसे प्यार 'बेवकूफ' कहा वह असीम साहित्य की संरचना अपने छोटे से जीवन काल में कर गया। धन्य है भदैनी की यह भूमि जहाँ इस महामानव ने अपनी साधना के पंद्रह वर्ष बिताये। धन्य है काशी का जैन समाज जिसे इस संत ने जीने की कला सिखाई ही नहीं करके दिखाई। धन्य वह संत पुरुष जिसने मृत्यु का भी उसी तरह वीरता के साथ आलिंगन किया जैसा वे जीवन में योद्धा की तरह लड़े।

हृदय के उद्गार

श्रीमती पुष्पा जैन, वाराणसी

•

आज पूज्य महाराज जी का प्रत्यक्ष साया हम सबके ऊपर से उठ गया है। यकीन नहीं होता कि यह सत्य है, परन्तु सारे जीवन मृत्यु के संघर्ष का तमाशा अपनी आँखों से देखा है, यकीन करना ही पड़ता है।

उनके वात्सल्य का साया हमारे पूरे परिवार पर इतना अधिक था कि उससे उनका विछोह अब बहुत ही कष्ट देता है। रोम-रोम मे उनकी याद बसो है। महाराज श्री कोई साधारण मानव तो थे नहीं, जो हम सर्व साधारण लोगों के आदर-स्नेह के घरौंदे में बँधकर रहते। उन्होंने तो कितने जन्मों का पुण्य संजोया था, तब इस जन्म में आकर इतने महान् बने। इतने कर्मठ बने और ज्योति के रूप में जगत् का मार्ग-दर्शन किया। इस जन्म में भी खूब ज्ञानार्जन किया और उसमें से मूलभूत सार निचोड़कर जनसाधारण तक पहुँचा दिया। प्रेम एवं समता ही उनका मूल मंत्र था। उन्होंने हम सभी को एक नया दृष्टिकोण दिया। पर-अध्ययन में तो सभी दक्ष होते हैं, किन्तु स्व-अध्ययन विरला ही करता है या कराता है। वे बताते थे, स्व-अध्ययन से हम प्रतिक्षण होने वाली भूलों एवं अपने अपराधों का बोध करके सच्चा प्रायश्चित कर सकते हैं। प्रेम की परिधि को विशाल बनाना भी तो उन्होंने ही सिखाया। विचारों पर नियन्त्रण ही सच्चा धर्म है, यह भी बताया। उनकी सरल, शान्त सौम्यमूर्ति मौन रहकर भी प्रतिक्षण उपदेश देती रहती थी। उनके पास थोड़ी देर को ही हम सब जाते थे, पर उनके दर्शन मात्र से ही शान्ति, सन्तोष एवं आत्म-बल मिलता था।

उनका व्यक्तित्व इतना अद्भुत था कि वे इतने महान् होकर भी मान-रहित थे, सरल चित्त थे। उनसे कोई भी जिज्ञासा या भाव कहने में जरा भी संकोच नही लगता था और वे छोटो से छोटी बातों का भी इतने स्नेह के साथ समाधान कर देते थे कि मन सन्तुष्ट व गद्‌गद हो जाता था। उन्होंने तो समय-समय पर बहुत ज्ञान उड़ेला, पर हम लोगों मे कुछ ग्रहण करने या संजोकर रखने की क्षमता ही न थी। 'मोक्ष शास्त्र' व 'गीता' दोनों ही उन्होंने हम लोगों को समान रुचि व श्रद्धा से पढ़ाया था। एक-एक शब्द का अर्थ इतनी गहनता से समझाते थे कि ऐसा भास होने लगता था मानों समस्त शब्द हृदय पर लिख गये हों। पर हम लोगों का इतना अध्ययन, मनन कहाँ था जो यह ज्ञान हृदय में स्थायी रह पाता। भदैनी का मंदिर, जिस जगह पर महाराज जी थे, ऋषि-आश्रम जैसा शान्त लगता था। छत पर बने पत्थर के चबूतरे पर बैठकर वे एकाग्र होकर गंगा की लहरों को देखा करते थे और यही कहते थे कि "ये उठती-गिरती छोटी-बड़ी तरङ्गें ही सृष्टि के लय-विलय का दर्शन कराती हैं। ऊपर से वे जितने सरल, मासूम व बालकवत् दिखते थे, अंतर में उतने ही दृढ़-संकल्पी, संयमी व तपस्वी थे। पूज्य आचार्य जी ने समाधि के दूसरे दिन अपने उपदेश में यह कहकर गर्व का अनुभव किया था कि ऐसी सफल समाधि कम ही होती है। यद्यपि उन्हें इसमें बहुत संशय था कि सल्लेखना जैसा महान् व्रत उन्हें दे तो दिया उनकी दृढ़ता व आग्रह की वजह से, पर उनकी रुग्ण व अस्वस्थ-काया यह महान् व्रत निर्विघ्न पूरा कर पायेगी या नहीं। काफी दिनों तक ईशरी में रहकर हम लोगों ने भी उनकी इस शांतिपूर्ण तपाराधना का अंतिम क्षणों तक दर्शन किया था। उनसे गहरा ममत्व होने की वजह से "यह नियम अभी वे न लें" यह

भाव जरूर मन में आता था, पर उनका दृढ़संकल्प देखकर हम लोग भी हर क्षण उनके शांति व तप की सफलता के लिये ईश्वर से मंगलकामना करते रहते थे। पूज्य महाराज जी ने जिस तरह अपने जीवन-काल में सभी व्रत दृढ़तापूर्वक पूरे किये थे, उसी तरह मृत्यु का वरण भी जिस दृढ़ता एवं शांति से किया, वह अद्भुत दृश्य था। ऐसी निर्लिप्तता, प्रेम, शांति व सौम्यता के भाव अंतिम क्षण में भी उनके चेहरे पर छाये थे। इच्छा होती थी कि यह दर्शन हर क्षण मिलता रहे। यद्यपि उनका शरीर कंकाल मात्र ही रह गया था। वे तो जीत गये जीवन को भी और मृत्यु को भी। वास्तव में उन्होंने अपना 'जिनेन्द्र' नाम सार्थक कर लिया। यह महान् ज्योति जहाँ भी हो, हमें प्रकाश देती रहे व मार्ग-दर्शन करती रहे।

परम पूज्य गुरुवर के चरणों में शत-शत प्रणाम !

●

श्रद्धाप्रसूनाञ्जलिः

विमल कुमार जैन (गोधा) वाराणसी

श्रेष्ठं जैनकुलं विभूष्य जनुषा ज्येष्ठात्मजत्वेन यः, संसारस्य सुखोपभोगविरतो भ्रातॄन् व्यवस्थापयन् ।
स्वाध्यायेन समर्ज्य शान्तिपदवीं श्रीक्षुल्लकत्वं गतस्तस्मै साधु समर्प्यते सुकृतिने श्रद्धाप्रसूनाञ्जलिः ॥
स्याद्वादविद्यालयसंस्थितेन श्रुतं मया तद् वचनामृतं यत् ।
श्रीमज्जिनेन्द्रप्रवरप्रभूणां प्रभावतश्चैव ततो व्यलेखि ॥

समर्पकः
विद्याधर द्विवेदी
सहा० सा० प्राध्यापकः
श्रीस्याद्वादमहाविद्यालस्य

●

पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी के वचनामृत

संकलन—पं० राजमलजी जैन, भोपाल

●

संसारी जीवों को 'संसार-रोग' से रोगी देखो, दोषी मत देखो। रोगी देखने से उनके प्रति हृदय से करुणा उत्पन्न होगी और उनके रोगों का प्रतिकार तथा उपकार करने की भावना सहज रूप से प्रकट होगी। दोषी देखने से उनके प्रति द्वेष-घृणा व तिरस्कार करके नष्ट-भ्रष्ट करने की भावना जागरूक होगी।

अहंकार का द्वार मुख है और हृदय का द्वार आँखें है। अज्ञानी की 'कथनी एवं करनी' में जमीन-असमान का अंतर रहता है। अधर्मता-धर्मता के आंतरिक एवं बाह्य-जीवन को नापने का यह अपूर्व थर्मामीटर है।

आत्मा अपने आप के प्रति 'ईमानदार-प्रामाणिक' हो जावे तो अनंतकाल के अज्ञानजनित दुःखों की संतति का अभाव करने में विलम्ब न हो।

यह संसारी आत्मा धर्मात्मा बनने के लिए परिस्थितियों का रूपांतरण करता है, परन्तु अपनी आंतरिक-मनःस्थिति का रूपांतरण नहीं करता। जख्मी घाव पर सिर्फ पट्टी बदलने से चिर-स्थायी लाभ नहीं होता, बल्कि अंतरंग घाव में योग्य दवा लगाकर पट्टी बदलना ही श्रेयस्कर है। उसी प्रकार आध्यात्मिक-जीवन को बनावटी, दिखावटी, एवं सजावटी न करके आंतरिक-जीवन में हृदय-परिवर्तन से ही सब गुण सहज प्रकट होने लगते हैं।

दृष्टि की विशालता-महानता से—एवं पर्याय की अपूर्णता पामरता, दीनता-हीनता का अनुभव करें, तो मुक्ति के मार्ग में पथ भ्रष्ट न हो।

आत्मा अपने कार्य के साधक कारणों—निमित्तों का उपकार (कर्तव्य रूप से नहीं व्यवहार से) मानने लगे, तो उनके प्रति अपने आप कृतज्ञता—बहुमान एवं विनयशीलता उत्पन्न होगी। अगर अपने कार्य के प्रति उपकार वृद्धि नहीं होगी तो सर्व प्रकार के कारणों साधनों के प्रति उपेक्षा, उद्दंडता एवं हठाग्रहता बलात् प्रगट हो जावेगी।

शब्द भी उसी प्रकार ऐन्द्रिय-जगत् का पदार्थ है, जिस प्रकार की विषय-भोग तथा धन। शब्द का भोग होता है और संभवतः विषय-भोग से अधिक। विषय-भोग की परिधि केवल एक व्यक्ति तक सीमित है; जब कि शब्द-भोग की परिधि हजारों तथा लाखों व्यक्ति के भोग को अपने भीतर समेट लेती है। विषय-भोग से धन का लोभ उत्पन्न होता है, और शब्द-भोग से प्रशंसा सुनने का लोभ; दोनों में कोई अन्तर नहीं। केवल वस्त्र बदल लेने से व्यक्ति नहीं बदलता। लोभ नये वेष में रंगमंच पर आया है। यह बात अंतर्दृष्टि वाला ही जान सकता है। वह जानता है इसलिए बचता है, जो नहीं जानता वह बचता भी नहीं। धन तथा तज्जनित भोग जिस प्रकार व्यक्ति के साथ न जाकर यहीं रह जाता है। उसी प्रकार शब्द तथा तज्जनित प्रशंसा भी व्यक्ति के साथ न जाकर यहीं रह जाती है।

●

समाधि साधना

• •

सल्लेखना : सारदर्शन, पारदर्शन, आत्मदर्शन

श्री जिनेन्द्र वर्णी जी

●

सल्लेखना कहते हैं सत् लेखना अर्थात् अपने शान्त स्वभाव को देखना, या उसे ही अपना जीवन समझते हुये चलना; कषायों को कृश करते हुये चलना।

शान्ति ही जिसका देश हो, शान्ति ही जिसका शरीर हो, शान्ति ही जिसका सर्वस्व हो, उनके लिए इस चमड़े के शरीर का क्या मूल्य ? पड़ा है तो पड़ा रहे, जाये तो जाये।

पड़ा रहने से विशेष लाभ नहीं और जाने से कोई हानि नहीं। साधना पूरी हुई, अब मरने का समय आया है; मरने का नहीं मृत्यु महोत्सव का, साधना की परीक्षा का, समतापूर्वक देह को विदा करने का।

जब शान्ति-समतापूर्वक शरीर पर से अपना लक्ष्य हटाकर अन्तर्ध्यान में लीन होने का अधिकाधिक प्रयत्न करता हुआ शान्ति में खो जाता है, वह सबके प्रति समता धारणकर ज्ञानधारा में प्रवेश कर जाता है, तब न रह जाती है उसे जीने की भावना, न मरने की इच्छा; न जीने के प्रति आकर्षण, न मरने के प्रति भय। शरीर के प्रति न राग न द्वेष।

वेतन देना बन्द कर देता है इसे अर्थात् खाना-पीना छोड़कर अपनी ओर से काष्ठवत् त्याग कर देता है वह इसका।

रहे तो छह महीने रह जाये, जाये तो भले आज चला जाये। न रहने से उसे कोई लाभ, न जाने से उसे कोई हानि।

अलौकिक है यह पुरुषार्थ !

मरणकाल आने पर ही उसमें प्रकट हो यह, ऐसा सम्भव नहीं, क्योंकि मरणकाल में लोगों की बुद्धि प्रायः भ्रष्ट होती देखी गई है। सारे जीवन की साधना पड़ी है इसके गर्भ में। जीवन भर नित्य किये गये कायोत्सर्ग का अभ्यास पड़ा है इसके मूल में।

तात्पर्य यह कि कोई यह समझे कि सारे जीवन तो स्वच्छन्द वर्ते और अन्त समय में समाधि-मरण धारण कर अपना कल्याण कर ले, यह सम्भव नहीं। जीना होता है जीवन-पर्यन्त समाधि-मरण की भावना से उसे। समाधि का अर्थ है मनःसमाधान; समता और मरण का परम अर्थ, देह का सहज त्याग।

क्या अन्तर है आत्महत्या और सल्लेखना में ? ऊपर की क्रियाओं पर से अनुमान लगाने का प्रयत्न न करो, अन्दर की भावनाओं को टटोलो। ऊपर से तो निःसन्देह कुछ आत्महत्या-सरीखा ही लगता है, परन्तु अन्दर में उतरकर देखते हैं तो आकाश-पाताल का अन्तर पाते हैं।

सल्लेखना रत योगी में है सबके प्रति समता और आत्महत्यागत अपराधी में है द्वेष या क्रोधपूर्ति की भावना।

योगी सबको शान्ति प्रदान करके जीता है और अपराधी सबको दाह उपजाकर; योगी के अन्दर है शान्ति का सौम्य सम्वाद और अपराधी के अन्दर है द्वेष की भड़कती ज्वाला, जिसमें स्वयं भड़ाभड़ जल रहा है वह। योगी के मुख-मण्डल पर है मुस्कान और आशा; अपराधी के मुख पर है

क्रोध और निराशा; इसलिए नियम से, योगी के आगे आने वाला जीवन तो होता है शान्तिपूर्ण और अपराधी का क्रोध तथा द्वेषपूर्ण।

योगी तो आगे भी पुनः शान्ति की साधना के प्रति ही झुकता है और अपराधी क्रोध के वशीभूत अपराधों के प्रति झुकता है।

योगी के आगे-आगे के जीवनों में बराबर शान्ति की वृद्धि होती है और अपराधी के आगे आने वाले जीवनों में क्रोध की।

योगी अपने प्रत्येक जीवन में शरीर को सेवक बनाकर अन्त समय में सल्लेखना द्वारा उसका त्याग करता हुआ प्रकाश की ओर चला जाता है, और अपराधी अपने प्रत्येक जीवन में उसका दास बनकर अन्धकार की ओर चला जाता है।

दो या चार जीवनों के पश्चात् ही योगी की साधना तो पूर्णता को स्पर्श कर लेती है, अर्थात् वह पूर्ण शान्त या मुक्त हो जाता है; परन्तु अपराधी कषाय और चिन्ताओं के सागर रूप इस संसार में सदा गोते खाता रहता है।

सल्लेखना वस्तुतः शान्ति के उपासक की आदर्श मृत्यु है, एक सच्चे वीर का महान् पराक्रम है। इससे पहले कि शरीर उसे जवाब दे वह स्वयं उसे समतापूर्वक जवाब दे देता है, और अपनी शान्ति की रक्षा में सावधान रहता हुआ उसी में विलीन हो जाता है। ['शान्ति पथ प्रदर्शन से'] ●

—संकलित डॉ० कु० निर्मला जैन, वाराणसी

"पवित्रता का अर्थ कोरा विषय निग्रह करना ही नहीं है, बल्कि विचारों में भी शुचिता लाना है।"

वर्णी प्रवचन (क्षमा वाणी पर्व, १९८२) संकलन कुन्ती जैन, दोहा

मृत्युञ्जयी गुरुदेव

डॉ० कु० निर्मला जैन,
दर्शन विभागाध्यक्ष, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

परम श्रद्धेय गुरुदेव को अब तक अनेकानेक रूपों में देखा था, किन्तु उनका यह मृत्युञ्जयी रूप भी अपने आपमें विलक्षण व कल्पनातीत रहा ! कल्पनातीत इसलिए था कि हम क्षुद्र-जनों की विचार-परिधि से वह अगोचर था, और विलक्षण इसलिये था कि अपनी दुर्बलतम-काया, किन्तु सबलतम-आत्मा से अन्तर्मुखी साधना के द्वारा अपने में इस रूप को प्रकट किया था। यहाँ **जिनेन्द्र वर्णी** जी के आत्मपुरुषार्थ की गरिमा स्वत: प्रकट होती है।

मृत्यु के जिन अस्फुट पद-चापों से प्राणीमात्र त्रसित रहते हैं, वहीं आत्मज्ञानी डटकर उसका मुकाबला करते हैं।[१] ऐसे महाज्ञानियों की श्रेणी में मेरे पूज्य गुरुदेव ध्रुवतारे की भाँति सदैव जगमगाते रहेंगे और मोक्षपथगामियों को मूकभाषा में संदेश देते रहेंगे कि—हे भोले प्राणियों ! मृत्यु का भय छोड़कर अमरत्व प्राप्त करो।

अब प्रश्न यह है कि उन्हें मृत्यु का भय क्यों न लगा ? इसका प्रथम उत्तर है उनकी अपनी तात्त्विक-दृष्टि,[२] अर्थात् वे अपने आपको चेतन्य-तत्त्व रूप में अनुभव करते थे, शरीर रूप में नहीं। उनका यह वचन, स्वयं प्रमाण है—'बाबा पवित्र-तत्त्व है, शरीर नहीं।' आचार्य श्री से—'सब ओर तत्त्व ही तत्त्व है, शरीर दीखता ही नहीं।'

दूसरा उत्तर है—'जीवन' के प्रति उनका व्यापक दृष्टिकोण। वे 'जीवन' को स्थूल दैहिक-सत्त्वों के अन्दर प्रवहमान चैतन्यधारा के रूप में अवलोकन करते थे, अर्थात् इन स्थूल-पर्यायों को समुद्र के उपरितलवर्तिनी तरङ्गोवत् और जीवन को तदन्तर प्रवहमान शान्त-शीतल-धारावत् ! वे इस चैतन्यधारा से एकमेक हो गये थे। 'जीवन' की परिभाषा उनकी दृष्टि में इतनी गहरी और सूक्ष्म अनुभवगम्य थी। वे इसे कुछ वर्षों की परिधि में आबद्ध नहीं देखते थे,[३] अत: उनके लिये 'मृत्यु' जीवन रूपी नाट्यशाला में पट-परिवर्तन मात्र रही।[४]

---

१. 'शान्ति का उपासक दृढ़तया निश्चय कर बैठा है कि वह चैतन्य है, निर्बाध है, अमूर्तिक है, ज्ञानपुञ्ज है, शान्ति का स्वामी है और कोई भी उसके इन गुणों में बाधा डालने को समर्थ नहीं। इसलिये उसमें एक निर्भीकता सी उत्पन्न हो जाती है, कोई अलौकिक साहस जागृत हो जाता है।'

—शा० प० प्र०।१२२

२. 'वह पदार्थों को उनके असली रूप में देखता है........लोक मे दीखने वाले जड़ के सुन्दर-असुन्दर रूपों मे जड़त्व का और चेतन के मनुष्य, पशु, धनवान्-निर्धन, स्वस्थ-रोगी आदि रूपों में केवल चेतनत्व का ही उसे भान होता है। बाहर के इन रूपों की उसकी दृष्टि में कोई सत्ता नहीं, क्योंकि जो अब है कल नहीं, उसकी क्या सत्ता ?'—वही।१२४

३. 'वह इस कुछ थोड़े से वर्षों मात्र के जीवन में अपने को सीमित करके नहीं देखता, भूतकाल में अनादि से चले आये और भविष्यत् काल में अनन्तकाल तक चले जाने वाले सम्पूर्ण जीवनों तक रूपों को फैलाकर एक अखण्ड-जीवन के रूप में देखने लगता है, इसलिए मृत्यु उसकी दृष्टि में खेल हो जाती है।

४. 'इस शरीर के त्याग का नाम वह 'मृत्यु' समझता ही नहीं....मृत्यु उसकी दृष्टि में रूप-परिवर्तन-मात्र है, विनाश नहीं।'

'जीवन' और 'मृत्यु' के सम्बन्ध में उनकी दूसरी परिभाषा है—संकल्प-विकल्प ही 'मृत्यु' है और 'जीवन' है शान्ति।[1] जीवन और मृत्यु को अपने अन्दर ही अनुभव करने वाले शान्त-स्वभावी गुरुदेव भला मृत्यु से क्यों भयभीत होते ?

तीसरा उत्तर है उनकी निर्भयता का-लक्ष्य के प्रति निश्चल दृष्टि हो जाना। उनका एक ही लक्ष्य था निर्बाध-अगाध शान्ति।[2]

यह थी सल्लेखना-महाव्रत ग्रहण की ठोस अनुभवात्मक पृष्ठभूमि और इस महाव्रत का साफल्य का रहस्य ! वस्तुतः वे अन्दर के प्रकाश से प्रकाशित और अन्तर के आनन्द से आनन्दित थे, वहाँ मृत्यु-भय कषाय रूप आत्मघात, आत्महनन या मृत्युमयी मूर्च्छा हो भी कैसे ? समस्त जीवन व्यापिनी साधना की यह सल्लेखना-व्रत रूपी कसौटी भी बड़ी अद्भुत थी, जिस पर पूज्य गुरुदेव पूर्णतः खरे उतरे !

सल्लेखना का सूत्रपात :

श्रद्धेय वर्णी जी के हृदय में समाधि-मरण की भावना काफी पहले ही जन्म ले चुकी थी। सन् १९७० के श्वास-रोग के प्रकोपवश वे अपनी क्षुल्लक अवस्था में ही इसे साकार करना चाहते थे, किन्तु समाज के प्रेमपूर्ण सुझाव पर श्रुतदेवी की अधूरी आराधना के कारण वह साकार न हो सकी। सन् १९७६, वाराणसी में पुनः वह कब्ज व श्वास-रोग के कारण मौन भाव से अन्दर ही अन्दर पनपी व निरन्तर उपवास के कारण प्रकाश में आयी, किन्तु उस समय परम श्रद्धेय १०८ आचार्य समन्तभद्र (कोल्हापुर) जी का एवं पूज्य विनोबा जी का लिखित वात्सल्यपूर्ण आदेश प्राप्त करके बाध्य होकर उन्हें नत होना पड़ा।

फलतः सन् १९७० से २० अप्रैल १९८३ तक वेश-त्याग के फलस्वरूप श्रुत-माता के अर्थ निन्दा-विषको अमृतवत् पीकर देह धारण किये हुए उस महामनीषी ने जो निःस्वार्थ भाव से लोकोपकार किया, उसका ऋण चुकाया नहीं जा सकता ! उसका उपकार भुलाया नहीं जा सकता ! अन्यथा १९७० में ही वह अनबुझ दीप बुझ जाता ! उस अध्यात्म-प्रदीप वर्णी जी के अथक परिश्रम से सन् १९७० से लेकर 'जैनेन्द्र-सिद्धान्त कोश' के चारों भाग, 'समणसुत्तं,' 'वर्णी दर्शन,' 'पदार्थ विज्ञान,' 'सर्वधर्म संग्रह'-२ भाग (भारतीय धर्मों तथा उनकी साधना पद्धतियों के मूल सूत्रों का सुसम्पादित संकलन), 'बृहद् उपनिषद् संग्रह'–२ भाग (१२९ उपनिषदों का कलापूर्ण सम्पादन) आदि कितने ही ग्रन्थरत्न लिखे गये, प्रकाशित हुए, अभी कुछ अप्रकाशित हैं। पुनर्मुद्रण के लिये 'कोश' का संशोधन एवं उसके पंचमभाग का प्रणयन ही सन्' ८२ अक्टूबर में पूर्ण हुआ—यह सारा कार्य अधूरा रह जाता !

---

१. ......'उन संकल्प-विकल्पों को मृत्यु समझता है, जो क्षण-क्षण में आकर उसे बाधित करने का प्रयत्न करते हैं। उसका जीवन शरीर नहीं, शान्ति है।'—वही।१२२

२. 'आगे बढ़ो शान्ति की ओर। मृत्यु आ जाय पर्वाह नहीं, इससे पहले जहाँ तक हो सके आगे बढ़ो। मृत्यु के पश्चात् अगले जीवन में पुनः वही पुरुषार्थ चालू करो........लोगों की सहानुभूति शरीर के साथ है, उसकी शान्ति के साथ नहीं, अतः उनके कहने पर अपना मार्ग नहीं छोड़ना।'—वही।१२२-१२३

श्रद्धेय गुरुदेव की पूर्व संकल्पित वही भावना सन् १९८० में पूज्य आचार्य विद्यासागर जी के चरणों में मुक्तागिरि में प्रार्थित हुई। सन् १९८१ में आप आचार्य श्री के दर्शनार्थ जबलपुर पहुँचे। नवम्बर सन् १९८२ में आचार्य श्री के सान्निध्य में आप नैनागिरि पहुँचे और विनम्र निवेदन किया-"प्रभु, मैंने जीवन में सभी कार्य पूर्ण कर लिये हैं, अब एक ही कार्य शेष रह गया है 'सल्लेखना'। अतः मुझे आप शरण दीजिये ताकि आपके चरणों में मेरी सल्लेखना अच्छी तरह हो सके।" इसके पश्चात् आप आचार्य श्री का आशीष एवं आदेश प्राप्त करके लगभग तीन माह स्वास्थ्य लाभ हेतु सागर (वर्णी मोराजी भवन) में रहे। तत्पश्चात् फरवरी' ८३ के अन्त में वाराणसी होते हुये सम्मेदशिखर जी से पादमूल-ईशरी (उदासीन-आश्रम) में आचार्य श्री के सान्निध्य में पहुँचे।

सल्लेखना महाव्रती का निवास एवं परिवेश :

सल्लेखना काल में गुरुदेव पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी 'गणेश प्रसाद वर्णी स्तूप' के दाहिनी ओर कक्ष में साधना-रत थे, जिसके बाहर अङ्कित था '**समाधि-मंदिर**', 'समाधये प्रयतितव्यम्'। प्रवेश-द्वार के ऊपर लिखित था—'बिना आज्ञा के प्रवेश-निषिद्ध।' उसके तीन ओर बाँसों की बाड़ें लगी थीं, जिससे साधना में विक्षेप न पहुँचे। उनके कक्ष के अन्दर मुनिजन सामायिक स्वाध्याय में रत रहते थे, ऐलक गण एवं ब्रह्मचारी उक्त साधना के अतिरिक्त परिचर्या में। आचार्य श्री के द्वारा श्रावकों को बाहर से ही दर्शन करने का आदेश था। बाँस के एक छोर पर समाधि की मंगलकामना से जप करने व शान्ति-व्यवस्था बनी रहने के उद्देश्य से जप-मालायें टँगी हुई थीं। अक्षरशः इस आदेश का पालन हुआ मैंने भी किया। यदि परिचर्यार्थ कोई श्रावक जाना ही चाहता था तो उसे स्वच्छ श्वेत व सादे वेश में ही जाने की आज्ञा थी, ताकि समाधि-मन्दिर की सात्त्विकता व शान्ति अक्षुण्ण बनी रहे।

'परिवेश' गुरुदेव के पुण्य-योग से पूर्णतः धर्ममय था। एक ओर था पावन तीर्थराज का दर्शन! वर्णीजी प्रतिदिन प्रातः मुनियों एवं ऐलकगणों के साथ कभी 'वर्णी-स्वाध्याय भवन' के निकट से, कभी दि० जैन मन्दिर के पार्श्वभाग से तीर्थंकर पार्श्वप्रभु की टोंक का दर्शन कर त्रिवार साष्टांग नमन करते थे, जो उन्हें परमलक्ष्य की ओर जाने का स्पष्ट किन्तु मौन संकेत देती थी। अपने इस धर्ममय परिवेश का आह्वान करने में जिनेन्द्र वर्णीजी के द्वारा आचार्य विद्यासागर जी के श्रमण-संघ का चयन भी बड़ा अनोखा था, उनकी प्रकृति के अनुरूप था। आचार्य संघ के प्रशंसक-वर्णीजी के द्वारा की गयी यह अनुनय अक्षरशः सत्य सिद्ध हुई—'आप बाहर की सँभाल कीजियेगा, अन्तर तो मैं सँभाल लूँगा।' वस्तुतः उन्होंने जिस सजगता एवं सहजता से अन्तरङ्ग की सँभाल की, आचार्य श्री ने भी बाह्याभ्यन्तर की सँभाल करने का कराने में कोई कसर न छोड़ी। यह मणि-काञ्चन संयोग भी अपूर्व ही रहा। आचार्य श्री का अपने शिष्यों के प्रति यह आदेश भी कम महत्त्व नहीं रखता—'अपने-अपने आवश्यकों में से कम करके पूरा समय क्रमशः यहाँ दो। समता से अच्छे से अच्छा काम होता है।'

सल्लेखना—काल में आचार्य जी के विशाल मुनि संघ के अलावा सल्लेखना-सन्देश पाकर दूर-दूर से मुनिजन, ऐलक, क्षुल्लक भी पधारे थे। दूर व निकट के काफी संख्या में श्रावक लोग भी धर्म-लाभ लेने हेतु वहाँ अन्तिम समय तक रहे। वाराणसी की श्रद्धालु समाज भी अन्तिम समय तक अपने श्रद्धास्पद वर्णी जी के निकट रही। प्रत्येक श्रावक भी साधक जैसा धर्म-रत दिखायी देता

था। महिलाओं ने णमोकार मन्त्र का १२ घन्टे तक अखण्ड पाठ किया। प्रातः ८ बजे आचार्य श्री के द्वारा शंका-समाधान व दोपहर को २ बजे उनके या मुनियों के प्रवचन होते थे, जिसने वातावरण को धर्ममय बनाने में बड़ा योग किया।

सल्लेखना—महाव्रत की साधना :

साधनानुरागी श्रद्धेय गुरुदेव ने १२ अप्रैल सन् १९८३ को प्रातः आचार्यचरणों में नत होकर यह पुनीत व्रत उनसे ग्रहण किया था और बड़ी दृढ़ता एवं उत्साह से उसके पालन में तत्पर हो गये। पूर्व जीवन में किये गये व्रतों के अभ्यास ने मानों उनकी समाधि-साधना की नींव को खूब सुदृढ़ बना रखा था। मुनि योगसागर जी को कहना पड़ा—'आप बड़ा पुरुषार्थकर रहे हैं, आपकी बड़ी साधना है।'

१. क्रम-क्रम से आहार-त्याग :

१२ अप्रैल १९८३ को उन्होंने आजीवन अन्न का त्याग कर दिया। यों मार्च माह में भी मैंने देखा कि काफी कम मात्रा में पेय पदार्थ (दाल या सब्जी का पानी, काढ़ा मात्र), अथवा एक छोटी चम्मच अन्न लेते थे। संभवतः व्रत लेने में पूर्व इसी की वह गुप्त-साधना हो, क्योंकि आचार्य श्री ने २५ मई को यह स्पष्ट कहा था कि 'पहले से न वर्णी जी ने किसी को बताया, न मैंने ही; क्योंकि जब रिजल्ट निकलेगा तो सबको विदित ही हो जायेगा।'

१३-१४ अप्रैल—छेने का पानी व बेल का रस लिया। यह आहार शारीरिक प्रकृति के अनुकूल न होने के कारण उन्होंने लौकी व परवल में से एक सब्जी तथा मुनक्के का पानी रख लिया।

१५ अप्रैल—घी, दूध का भी त्यागकर केवल एक उबली सब्जी तथा मुनक्के का जलाहार लिया।

१६ से १९ अप्रैल तक कसी हुई उबली लौकी की सब्जी और मुनक्के का जलाहार लिया।

२० अप्रैल—परवल का त्यागकर पेय रूप में ही लौकी व मुनक्के का जलाहार ग्रहण किया।

२१ अप्रैल—उपवास किया। २२ अप्रैल को लौकी का जल लिया। मुनक्के के जल को त्यागने की आज्ञा माँगी, किन्तु कारणवश आचार्य जी ने निषेध किया।

२३ से २५ अप्रैल—लौकी व मुनक्के का जलाहार। २६ अप्रैल से मुनक्के के जल की मात्रा कम कर दी, लौकी के जल के बाद सादा जल भी लिया।

२७ अप्रैल—उपवास, २८ अप्रैल को मुनक्के के जल की मात्रा कम करके लौकी का व सादा जल लिया।

२९ अप्रैल—उपावास, ३० अप्रैल को प्रातः ९.३० बजे मुनक्के का जल का त्याग करके लौकी का व सादा जल लिया।

१ मई—उपवास, इसी दिन लौकी के जल को त्यागने की आज्ञा माँगी, किन्तु आचार्य श्री ने कहा—'अभी कुछ ठहरिये।'

२ मई—लौकी का व सादा जल, ३ मई—लौकी का जल, ४-५ मई को उपवास।

६ से १५ मई—पूर्ववत् क्रमशः लौकी का जलाहार व एक उपवास का क्रम रखा।

१६ मई— लौकी के जल की मात्रा कम करके सादा जल लिया। १७ मई उपवास।

१८ मई—लौकी के जल का सर्वथा त्याग। सादा जल लिया। १९ मई—उपवास।

२० मई—सादा जलाहार, २१ मई—उपवास, २२ मई—अन्तिम अत्यल्प सादा जलाहार।

२३ मई—जल का आजीवन त्याग।

आचार्य जी के शब्दों में—'यह नहीं कि अभी आयु है तो जल रख लिया, जल भी छोड़ा तो छोड़ दिया।'

२२.५.८३ सायं

इस प्रकार मई माह की भीषण गर्मी में एक दिन के अन्तराल से जलाहार ग्रहण कर आपने देह के प्रति जिस निःस्पृहता का परिचय दिया, वह आज के युग में बेजोड़ है।

२. **परिग्रह त्याग** :

अन्तरङ्ग एवं बाह्य परिग्रह से विरत रहने में सदा जागरूक गुरुदेव के पास बाह्य-परिग्रह तो नाम-मात्र का था। बनावटी दाँत, चौकी, इत्यादि अनावश्यक परिग्रह का उन्होंने त्याग कर दिया था। अतः धरती थी उनकी शय्या, जिस पर कुश की चटाई उनके व्यवहारिक-संस्तर के रूप में थी, आत्मा बनी थी तात्त्विक-संस्तर। वर्णी जी के बाह्य-परिग्रह-त्याग के स्पष्ट द्योतक देखिये, आचार्य श्री के उद्‌बोधक वचन--

"वर्णी जी को देखिये—परिग्रह सारा छोड़ दिया है, एक ही चद्दर रखी है।" [प्रवचन में]

अन्तरङ्ग—परिग्रह त्याग के व्यापक अवलोकन कीजिये गुप्तिसागर जी के मार्मिक वचन- 'वर्णी जी को देखिये—इनकी कषाय इतनी तनु हो गयी है कि कुछ मालूम ही नहीं पड़ती। हम लोग चौबीस घण्टे रहते है, बराबर देखते हैं, किन्तु कही किसी कषाय की झलक ही नहीं मिलती।'

३. **ईशरी में ही पुनर्दीक्षा पर्व** :

१२ अप्रैल से मृत्यु-महोत्सव तो चल ही रहा था कि प्रातः बीच में ही २१ अप्रैल, बृहस्पति-वार, पुष्य-नक्षत्र, १९८३ को दीक्षा-पर्व आ गया। प्रातः ७.३० बजे गुरुदेव ने केशलोंच कर समस्त संघ एवं श्रावकों की उपस्थिति में १०८ आचार्य श्री विद्यासागर जी से ही क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। उस दिन उपवास भी था। आपका शुभ नाम '१०५ क्षुल्लक सिद्धान्त सागर' रखा गया। तदुपरान्त आप ऐलकों, ब्रह्मचारियों के साथ पीछी कमण्डलु लेकर पैदल ही मंदिर एवं टोंक के दर्शनार्थ गये, वापस आये। दोपहर को बैठकर सामायिक की, प्रवचन सुना। शाम को आचार्यभक्ति के लिये ऐलकों के साथ ऊपर पहुँचे। उन्हें देखकर आचार्य जी ने कहा—अरे! आप यहाँ? उनके निकट जाकर विनम्रता की प्रतिमूर्ति वर्णी जी ने त्रियोग से तीन बार नमोऽस्तु किया। तदुपरान्त अन्य मुनिगणों एवं ऐलकों को भी क्रम पूर्वक वन्दन किया। कुछ देर बाद विनम्र भाव से स्वा-ध्याय के लिये चर्चित ग्रन्थ के विषय में परामर्श दिया। फिर नीचे आकर सामायिक में आत्ममग्न हो गये। गुरुदेव कितने आत्मबल को जुटाकर साधन-पथ में डग बढ़ा रहे थे, वह देखते ही बनता था। आचार्य श्री के शब्दों में—'वर्णी जी का स्वास्थ्य देखकर केशलोंच के लिये आदेश देने का मुझे

साहस नहीं था। किन्तु मैंने सोचा कि विकल्प हुआ है तो पूरा हो जाना चाहिये। धीरे-धीरे सब ठीक हो गया।'

४. मौन-व्रत याचना :

वर्षों के मौन व्रताभ्यासी श्रद्धेय वर्णी जी ने अन्तर मे अधिकाधिक समाहित हो जाने की भावना से सल्लेखना-व्रत के प्रारम्भ से ही आचार्य श्री से मौन-व्रत की प्रार्थना की। किन्तु आचार्य श्री ने युवा मुनि संघ की हितकांक्षा को दृष्टि में रखकर उन्हें मौन रहने का आदेश नहीं दिया, क्योंकि अनेक दुर्लभ-अनुभूतियों को ग्रहण करने का वह अमूल्य अवसर था। सामान्य-श्रावक जिस नियन्त्रित-परिधि से बहुत दूर था, फिर भी उनकी मौन-मुद्रा नित्य नूतन संदेश देती थी। भले ही वे मौन-व्रत न ले सके, किन्तु तत्त्व की ओर उन्मुख गुरुदेव अन्तरङ्ग में सहज मौन होते जा रहे थे। उपयोगमयी दृष्टि अंन्तर में लीन होती जा रही थी। यह मैंने पूरे सल्लेखना काल में वहाँ रहकर अच्छी तरह अनुभव किया।

५. साक्षीभावापन्न दृष्टि :

सल्लेखना के अवसर पर मैंने यह भी सतत अनुभव किया कि जीवन पर्यन्त साक्षीभाव के अभ्यासी गुरुदेव दृष्ट-जगत् से ऊपर उठने के लिए अथवा उसमें रहते हुए भी निर्लिप्त होने के लिये अधिकाधिक साक्षीभाव में निष्ठ होते जा रहे थे। वाराणसी का चिर-परिचित जनसंकुल मानों उनके परिचय में ही न आया हो। परिचित-अपरिचित सबके प्रति समदृष्टि। दैहिक एवं आन्तरिक प्रत्येक क्रिया के प्रति साक्षीभाव। यहाँ तक कि आहार लेने में भी वे साक्षीभावापन्न थे। अंतरङ्ग में जागरूक थे। प्रबुद्ध थे।

कभी ध्यान में तन्मय बैठे हैं तो बैठे ही हैं। आँखें कभी निमीलित हैं तो कभी उन्मीलित, परन्तु दृष्टि सदैव अन्तर में ही जमी हुयी—कौन आया, प्रणाम कर गया, उपयोग ही नहीं गया। शरीर की सेवा हो रही है तो हो रही है, एक व्यक्ति कर रहा है या ८-१० अनेक व्यक्ति। कोई श्रावक कर रहा है या साधु (यों साधु जनों की विनय का ध्यान तो रखते थे)। मक्खियाँ सिर या मुंह पर चल रही हैं तो चलती रहें, उन्हें उड़ाने का कोई विकल्प ही नहीं, ऐलक जी अपना कर्त्तव्य समझकर भले ही उड़ा देते थे। इस साक्षीभाव का ही फल था कि उन्होंने निर्लिप्त भाव से मृत्यु को भी जीत लिया और अपने रूप में ही समा गये बिल्कुल जागृत। सबने साधना से तपे तपी को देखा, अनुभव किया, सराहा। आचार्य श्री के शब्दों में—'सिद्धान्त सागर जी को देखो—'रात में जब खाँसी उठ जाती है तो उसे देखते ही रहते हैं, कर्म का फल विचार करते हैं, उपयोग में स्थिर रहते हैं, यही तो मोक्ष पुरुषार्थ है।'

६ विनीत हृदय से शास्त्र श्रवण :

जिनवाणी के विश्रुत आराधक गुरुदेव प्रातः एवं मध्याह्न काल में आचार्य श्री से शास्त्र श्रवण करने जाते थे। बाद में आचार्य श्री उनके निकट ही प्रातः ८ बजे स्तोत्रादि अथवा महामन्त्र सुनाया करते थे। १ बजे के करीब दो मुनि उन्हें समयसार की गाथाओं का पाठ एवं अर्थ सुनाते थे। २ बजे आचार्य श्री समय 'समयसार' पर प्रवचन देते थे उनके कक्ष में ही। प्रायः गुरुदेव शास्त्र-शंकाओं का उपयुक्त समाधान भी देते थे, जिन्हें सुनकर साधु एवं श्रावक मंत्रमुग्ध हो जाते थे। यह ध्यान देने योग्य है कि शास्त्र-श्रवण करते समय आप यथासंभव विनय का पूरा-पूरा

ध्यान रखकर बैठे ही रहते थे। शरीर अत्यधिक क्षीण हो जाने पर कभी-कभी हाथ जोड़कर लेट जाते थे।

७. गुरु-विनय के प्रति सतत-जागरूकता :

गुरुदेव की गुरुभक्ति भी अनुकरणीय थी। सल्लेखना के अवसर पर विशेष रूप से उनका विनय-गुण दर्शनीय रहा। जिन्होंने अपने कृश शरीर की पर्वाह न करके इतना कठोर सल्लेना-व्रत लेकर और उत्साह पूर्ण निष्ठा के साथ उसका पालन कर गुरु के मान को बढ़ाया, उससे बढ़कर क्या भक्ति हो सकती है। देखिये वार्ताप्रसङ्ग—

मुनि योग सागर जी : साता तो है ?

वर्णी जी : सब आचार्य श्री का प्रताप है।

मुनि जी वे तो निमित्त हैं, साधना तो आप ही कर रहे हैं।

वर्णी जी : सब उनकी कृपा से ठीक हो रहा है, साधना तो है ही, किन्तु ऐसे बोलने में अहंकार की पुष्टि होती है।

आचार्य श्री जब भी उनके निकट आकर बैठते, वर्णी जी श्रद्धापूर्वक तीन बार नमोऽस्तु करके चरणों का स्पर्श कर बड़ी विनय से आँखों में लगाते थे। हर वस्तु के त्याग की आज्ञा बड़ी विनय से हाथ जोड़कर माँगते थे। और जब तक आचार्य श्री उनके सामने बैठे रहते, तब तक वर्णी जी हाथ जोड़े ही रहते थे। रोम-रोम से अनेक विनय गुण प्रकट होता था। संभवतः इतनी विनयशीलता मुझे अन्य किसी साधु में देखने को नहीं मिली। किसी भी साधु के आते ही यदि वर्णी जी बैठे रहते तो उठकर विनय से आसन ग्रहण करने की प्रार्थना करते, शरीर दुर्बल हो जाने पर यदि लेटे रहते तो बैठकर विनय से वन्दन करते और यथा-संभव बैठे रहने का ही प्रयास करते थे। साधुजनों के जाने के समय पीछी लेकर भक्ति से हर-एक साधु को वन्दन करना कभी न भूले। यहाँ तक कि अन्तिम दिन भी विनय का यह अनुपम हार्द दृश्य प्रातः खिड़की से देखने को मिला। उनकी अटूट श्रद्धायुक्त सरलता देखते ही बनती थी। हरेक श्रद्धालु का मन उनकी विनम्रता के सम्मुख नत था। आचार्य श्री, मुनिजन स्वयं उनके इस अपूर्व भक्ति-वैभव को देखकर गद्गद होते थे और वात्सल्य पूर्ण दृष्टि से उन्हें निहारते ही रहते थे।

उनकी विनय का वर्णन जितना किया जाय थोड़ा ही है। दो-दो उपवासों के बाद चर्या के समय आचार्य श्री वर्णी जी को पहले आहार लेने के लिये कहते थे, किन्तु सन्तोषी समरसी गुरुदेव ने ऐसे अवसर पर भी विनय-गुण से अपने हृदय को सजाये रखा। संघ व संघेतर सब साधुओं के चर्यार्थ जाने के पश्चात् ही आप मन्दिर से निकलते, अन्यथा तब तक वहीं बैठे रहते थे। जो ऐलकगण उन्हें सहारा देकर आहार के लिये ले जाते थे एवं आहार के समय शान्ति बनाये रखने का ध्यान रखते थे, श्रद्धेय वर्णी जी जलाहार के पश्चात् तुरत विनयपूर्वक हाथ जोड़कर आहारार्थ जाने का मौन सङ्केत करते थे। इस कार्य में क्षणमात्र का भी विलम्ब कभी देखने को नहीं मिला। जब किन्हीं साधु जी का स्वास्थ्य खराब हो जाता तो उनके अनुकूल सुझाव देते थे। ऐसे अनेकों उदाहरण हैं, जिनसे उनकी विनयशीलता का सहज परिचय मिला। यों उनकी विनयशीलता को देखने का अवसर वाराणसी में भी मुझे मिल चुका था। परन्तु सल्लेखना के अवसर पर प्रतिदिन ही यह अपूर्व शिक्षाप्रद दृश्य दृष्टिगोचर होता था।

८. क्रमशः शारीरिक दौर्बल्य किन्तु चेतना की प्रखरता :

पहले तो गुरुदेव देवदर्शन, प्रवचन आदि के लिए पैदल चले जाते थे, किन्तु मार्च '८३ (ईशरी) में बुखार व श्वास रोग के बढ़ने से क्षीणता आ गयी थी। (आहार की अल्पता का निर्देश भी पहले किया जा चुका है।) किन्तु आत्मिक-स्वास्थ्य किससे ओझल था ? धीरे-धीरे शरीर की क्षीणता बढ़ती गयी, उन्हें कुर्सी से देवदर्शन, टोंकदर्शन व आहारार्थ ले जाया जाता था। काफी बाद में तलघर (मन्दिर के नीचे के कक्ष) से जाने-आने के समय उन्हें चटाई में सिले टाट में बैठाकर ले जाया जाता था, जिसमें उनका दर्शन तो होता ही रहता था। सेवकों की संख्या कम न थी, वह भी परिचर्यार्थ सदैव तत्पर। अन्तिम आहारार्थ उन्हें १०५ दयासागर ऐलक जी बैठी हुई मुद्रा में गोद में ले गये थे। वे सबको विरद हस्त से आशीष देते हुए यथास्थान पहुँच जाते थे।

इस प्रकार उनका शरीर भले ही शिथिल होता जा रहा था, किन्तु इन्द्रियों की चेतना-शक्ति अन्तिम क्षण तक ज्यों कि त्यों बनी रही। न श्रवण-शक्ति में कोई कमी आयी, क्योंकि आचार्य श्री कभी-कभी इतने मंद रूप में उनसे बात करते थे कि कुछ दूर खड़े हम लोग नहीं सुन पाते थे, जब कि वे सुन लेते थे। अन्तिम क्षण महामंत्र सुनते रहने की उन्होंने आचार्य श्री को मौन स्वीकृति दी। नेत्र-शक्ति भी तेज युक्त बनी रही। आचार्य श्री उनसे पूछा भी करते थे और सुना था कि कभी-कभी कुछ पढ़वाकर भी देखते थे। प्रारम्भ में वे स्वयं ही शास्त्र में 'एकत्व सप्तति' व महावीराष्टकादि का पाठ पढ़ते थे।

उनकी संवेदन शील घ्राणेन्द्रिय का यही उदाहरण पर्याप्त है जब कि अन्तिम क्षण के कुछ समय पूर्व उन्होंने अरहन्त से कहा था—'लालटेन हटा दे मुझे गन्ध आ रही है।' इससे उनकी वाक्शक्ति का भी अच्छा परिचय मिल जाता है। मानसिक शक्ति भी पूर्ण चेतनाशील थी, क्योंकि प्रवचन के समय अथवा शास्त्र-चर्चा के समय आचार्य श्री से गंभीर ऐतिहासिक और कर्मकाण्ड के विषय में चर्चा होती थी। इतना स्पष्ट और सुन्दर समाधान प्रस्तुत करते थे कि लगता ही न था कि उपवासों से उनकी चेतना आवेष्टित या कुण्ठित हुई।

अन्तिम समय में प्रायः सबकी चेतना क्षीण हो जाती है, स्मृति लुप्त हो जाती है। मैंने आचार्य श्री से तथा अन्य मुनियों से सुना भी था कि शारीरिक शक्ति क्षीण होने पर मानसिक व ऐन्द्रिक शक्तियाँ भी जवाब देने लगती हैं। ऐसा सल्लेखना-व्रती को प्रायः अनुभव होता है। परन्तु गुरुदेव ने इस प्रसङ्ग में भी अपनी विलक्षण चेतनाशक्ति का परिचय दिया। इसके भी अनेकों उदाहरण मानसलोक में सजीव हैं।

९. स्फूर्तियुक्त बाह्य चेष्टाओं से समाधि का अनुमान :

गुरुदेव अपनी चैतन्यशक्ति से इतने अभिन्न हो गये थे कि उनकी किसी भी चेष्टा से किसी को यह अनुमान नहीं लग पा रहा था कि उनकी आयु का अन्तिम क्षण कौन सा है ? आचार्य श्री पूछते—'कोई कठिनाई तो नहीं है' तो वे प्रायः यही उत्तर देते कि 'कुछ कठिनाई नहीं है। मैं बैठे-बैठे थकान महसूस करता हूँ तो तुरत लेट जाता हूँ, अन्यथा खाँसी उठने पर दबेगी नहीं।' २४ मई को लगभग ८ बजे बन्द आँखों को एकाएक खोलकर उन्होंने देखा, लगता था आँखों से अपूर्व चेतन्य की धारा फूट पड़ी है—जिसे देखकर एक महिला सहसा बोल उठी—'अभी तो चेष्टा अच्छी है, क्या लेते हैं ?' गया जी की एक वृद्धा महिला, जो प्रायः यह कहा करती थी—'इनकी

जैसी समाधि तो मैंने किसी की देखी ही नहीं, गणेश प्रसाद वर्णीजी की भी ऐसी समाधि नहीं देखी थी।' अन्य भी अनेकों समाधियों की चर्चा उससे सुनने को मिलती थी। ऐसी स्थिति में मुझे अपने गुरुदेव की समाधि के प्रति सहज बहुमान होता था। मेरे जीवन में यह प्रथम साथ ही सर्वोत्तम सल्लेखना का अवसर था। मैं जिज्ञासा के तौर पर कभी-कभी ओम् सागर जी से पूछा करती थी कि कितने दिन लगेंगे, अन्य बहनों को भी पूछते हुये सुना, परन्तु कोई समाधान नहीं मिल पाता था। चद्दर में लिपटा उनका दुर्बलतम शरीर तो दृष्टिगोचर नहीं हो पाता था। मैं सोचती थी कि ये व्रत अवश्य कर रहे हैं परन्तु चेतनायुक्त तेज-मण्डित मुख से एवं तर्क पूर्ण शास्त्रीय समाधानों से मन शीघ्र ही विश्वस्त नहीं हो पाता था कि इनकी चेतना अब पार्थिव शरीर को तज देगी।

१०. अन्तिम दिन तक साधना के प्रति अप्रमत्त :

साधना के प्रति तीव्र लगनशील अप्रमत्त योगी गुरुदेव के सल्लेखना-व्रत की यह भी उल्लेखनीय विशेषता थी कि वे हर पल अन्तर में जागृत रहे। आत्मा की अनन्यशरणता मे क्षुधा-तृषा, गीष्मता, श्वास-रोग व कफ प्रकृति जैसी शारीरिक-व्याधियों की छाया भी उनकी अप्रमत्त-आत्मा का स्पर्श न कर पायी। देखिये, आचार्य श्री के मार्मिक वचन इस प्रसङ्ग मे—

'सिद्धान्त सागरजी को देखो—घण्टों-घण्टों ध्यान में बैठे रहते हैं। एक समय जल लेते हैं, लेकिन चेहरा कमल सा खिला रहता है जैसे दो वक्त भोजन किया हो। चर्या करते है। साधुओं की संगति में रहते हैं। सल्लेखना-व्रत ले लिया है, सन्तोष-समता आ गयी है। लाखों वर्षों तक जीऊँ या मृत्यु आज ही आ जावे, न जीने की इच्छा है न मरने की चाह। असीम धैर्य प्रकट हो गया है—यह है आत्मा का दृढ़ श्रद्धान, आत्म-बल। आगे क्या होगा? इसकी चिन्ता नही है।'

बाईस अप्रैल से आचार्य श्री के २४ घण्टे के नैकट्य में उन्होंने साधना की। अन्तिम दिनों में लेटे हुये ही पीछी लेकर दैनिक साधना का कार्य पाठ इत्यादि मौनपूर्वक करना वे कभी न भूले। इसी प्रकार दोपहर सायंकाल को भी आचार्य जी के निकट चटाई पर लेटे हुये बड़ी निष्ठा से आचार्य-भक्ति आदि करते थे। फिर वहीं बैठे या लेटे हुये यथायोग्य अवसरों पर सब मुनियों को क्रमशः नमोऽस्तु-नमोऽस्तु भी करते थे। आचार्य श्री के शब्दों में—"सिद्धान्त सागरजी के तो चौबीस घण्टे ही सामायिक में बीत रहे हैं।"

ध्यान-सुजन का प्रभाव कितना अद्भुत था कि जहाँ 'परिषह' परिषह रूप में नहीं भासित हुये। उन्होंने उन्हें कितनी समता से जीता कि उनकी रेखामात्र भी उनके मुँह पर प्रकट न हो सकी। धन्य है उनकी तपाराधना!

हार्द मन्दाकिनी में स्नात गुरुदेव की परमशान्त मुद्रा :

अन्तर की परम तृप्ति चेहरे पर छलक रही थी। उसकी परम शान्ति शान्त-स्वभाव का परिचय दे रही है। मुख पर तैरती पावनता निष्कषायता का द्योतन कर रही थी। आँखों में अपूर्व आत्म-निमग्नता की आभा थी और उससे झाँक रही थी शिशुवत् सरलता! जब दर्शकों को उनके देह-दर्पण से आत्मा का शान्त-स्वभाव स्पष्ट झलक रहा था, तो उसके साक्षात् अनुभव रस का पान तो वे स्वयं कर ही रहे थे। तप का तेज, त्याग की गरिमा बता रहा था उनका रोम-रोम! वे मौन थे परन्तु भाव-जगत् में प्रविष्ट होकर भाव-जगत् का, भावमय प्रभु का मूक उपदेश दे रहे थे। पढ़ने वालों ने पढ़ा भी।

सल्लेखना के अन्तिम चरण :

आखिर २४ मई १९८३, वैशाख शुक्ला त्रयोदशी मङ्गलवार का दिन आ ही गया जब गुरुदेव शाश्वतता पर दृष्टि जमाये नश्वरता से पूरी तरह मुंह मोड़ने को उद्यत थे। प्रातः लगभग छः बजे आचार्य श्री बाहर से उठकर अन्दर उनके कक्ष में पहुँचे, उनके पीछे सकल मुनिबृन्द भी। गुरुदेव ने उन्हें पीछी उठाकर लेटे हुये प्रणाम किया। आचार्य श्री उनके निकट ही चटाई पर बैठकर बोले; 'अच्छा उपादान तैयार करना है, हाँ! आप तो अन्दर हैं, हम बाहर हैं।' वर्णीजी आँखें खोले हुये ध्यान से सुन रहे थे, उसी समय आचार्य श्री ने उनके मस्तक का स्पर्श करके देखा। उनके जाते समय गुरुदेव ने उनके चरणों का लेटे-लेटे ही स्पर्श करके मस्तक पर लगा लिया। फिर नेत्र बन्द करके अपने में तल्लीन हो गये। यह सब दृश्य हम लोग बाहर खिड़की से देख रहे थे।

इसके बाद मैं सात बजे रोज के नियत समय पर गुरुदेव के निकट 'महावीराष्टक' सुनाने आयी। पहले वे 'एकत्वसप्तति' लगभग ८० श्लोक एवं 'महावीराष्टक' सुनते थे। बाद में ४० श्लोक मात्र, एवं 'महावीराष्टक' सुनते थे। तदुपरान्त 'महावीराष्टक' ही सुनते थे। ये पाठ वे प्रतिदिन ठीक ७ बजे आँखें बन्द करके भक्तिपूर्वक हाथ जोड़े हुये सुनते थे। सौभाग्य से उनकी इस पारमार्थिक परिचर्या का अवसर मुझे २३ मई तक मिला, किन्तु अन्तिम दिन यह अवसर नहीं मिल सका। इसका कारण यह था कि उस दिन आचार्य श्री नित्य की अपेक्षा एक घण्टे पूर्व ही उनके निकट बैठकर णमोकार मन्त्र सुना रहे थे। पहले तो मुझे कारण नहीं समझ पड़ा, फिर अरहन्त ने बताया कि 'अभी महाराजजी ने उसे आचार्य श्री के निकट यह कहकर भेजा था कि उनकी चेतना खिंच रही है, उन्हें बुला लाओ।' यद्यपि अरहन्त ने उनके निकट जाकर ये शब्द नहीं कहे थे, केवल बुलाने के लिये कहा था। कुछ देर तक णमोकार-मंत्र सुनाने के बाद वे चौकी पर बाहर बैठ गये। थोड़ी देर स्वाध्याय करने के पश्चात् वे ऊपर चले गये और नीचे का जंगला कारणवश बन्द कर दिया गया। ऊपर की खिड़की से कुछ दर्शकों ने देखा कि उनके ललाट पर सफेद गीली पट्टी रखी गयी है। मैंने भी फिर उन्हें इसी स्थिति में देखा, आँखें खुली हैं, करवट से लेटे हुये हैं किन्तु चेष्टाशील दिखलायी पड़े।

लगभग साढ़े नौ बजे आचार्य श्री ऊपर से आये और तलघर में उन्हें ले जाने की तैयारी होने लगी। टाट के साथ सिली हुयी चटाई पर वर्णीजी लेटी हुयी अवस्था में थे, उन्हें धूप से बचाने के लिये कुछ ऊपर से चटाई डाली गयी थी। छ-सात व्यक्ति उस चटाई के बन्धनों को पकड़कर उन्हें ले जा रहे थे। दर्शक लोग पीछे-पीछे चले जा रहे थे, जिनमें मैं भी थी। मैंने देखा—उनके नेत्र खुले हैं, वे पूर्ण चैतन्य-अवस्था में थे। उन्होंने देखा सबको, फिर चित्त अन्यत्र ध्यानावस्थित कर लिया। तलघर के द्वार तक पहुँचाकर मैं वापस लौट आयी, वे ही इस जीवन के मेरे अन्तिम गुरु-दर्शन थे। तलघर में उनके पहुँच जाने के बाद सुना था कि आचार्य श्री से उनकी तत्त्वचर्चा भी हुयी थी।

इसके पश्चात् मुनियों के आहारार्थ हम लोग तत्पर हो गये। मैंने अपनी माताजी से कहा कि 'आज मुझे महाराज (वर्णी) जी के चेहरे पर कुछ निर्जीवता सी दिखायी पड़ी, यों चेतना पूरी थी।' किन्तु मेरे जीवन में ऐसा अवसर प्रथम ही था, इसलिये विशेष विचार न करके आचार्य श्री को पड़गाहकर चौके में ले गयी। खूब भक्ति से उन्हें आहार दिया। सब मुनियों के भी आहार

हुये। सब दर्शकों के साथ आचार्य श्री को ऊपर उनके कक्ष में पहुँचाने गयी, वहाँ कुछ देर बैठी भी थी। फिर आचार्य श्री ने सब श्रावकों को भेजा। लौटकर मैंने अन्य चौकों में जहाँ आहार शेष होने वाला था, जाकर आहार दिया और अपने निवास पर लौट आयी। लगभग १५ मिनट मैं वहाँ थी, कि एकाएक वहाँ आकर एक व्यक्ति जोर से आवाज देकर कह रहा था कि—'वर्णीजी की समाधि का अन्तिम समय चल रहा है।' यह शब्द सुनते ही मैं अन्य कई श्रावकों के साथ जैसे-तैसे तलघर के पास पहुँची। दूर से देखा—तलघर के द्वार पर पहले से ही काफी भीड़ जमी हुयी णमोकार मंत्र का जोर-जोर से उच्चारण कर रही है। मैं भी उसमें सम्मिलित होकर साश्चर्य किन्तु सोत्साह मंत्र पाठ करने लगी। यह भी देखा कि कुछ व्यक्ति उन्हें निमीलित नेत्र, दिगम्बर वेश एवं पद्मासन मुद्रा में बैठाये हुये ही द्वार से बाहर ला रहे हैं। उन्हें एक चौकी पर दर्शनार्थ विराजमान कर दिया। मैं बड़े गौर से देख रही थी कि गुरुदेव के शरीर पर कहीं कोई स्पन्दन का चिह्न नहीं है, सब शान्त हो चुका है। किन्तु एक बात मेरी स्मृति में अमिट है कि उनकी मुख-मुद्रा गम्भीर ध्यान चिह्न से चिह्नित थी। ऐसा लगता था मानों अब भी जीवन्त बैठे हुए प्रशान्तभाव से सामायिक कर रहे हों। अन्तिम क्षण तक परिचर्या में रत बाबूलाल ब्रह्मचारी जी ने कहा भी था कि 'महाराज कब तक सामायिक करते रहेंगे।'

उनकी समाधि के समय उपस्थित थे आचार्य श्री जिन्हें आहार से लौटने के पश्चात् किसी ऐलक जी ने ऊपर जाकर वर्णी जी की स्थिति के विषय में बताया था। सुना था कि परिचयार्थ रुके हुये ऐलक जी को वर्णी जी ने ही ऊपर भेजा था। सूचना देकर वे आहारार्थ चले गये, अरहन्त उन्हें पड़गाहकर ले गया था, इससे यह मालूम पड़ता है कि ऐलक जी उनकी अन्तिम स्थिति से अवगत नहीं हुये थे। ऐलक जी का अन्तराय हो जाने से अरहन्त जल्दी लौट आया और आश्चर्य से कह रहा था कि अभी कुछ समय पूर्व मैं इनके पास ही था, तब तक कोई बात न थी। मुझे तेल की महक के कारण लालटेन हटाने को भी कहा था। इससे यह विदित होता है कि वर्णी जी पूर्ण चैतन्यमयी अवस्था में ही थे।

आचार्य श्री के साथ ही साथ धीरे-धीरे मुनि समुदाय, ऐलकगण, क्षुल्लकगण सभी साधु समुदाय वहाँ पहुँच गया। इसके पश्चात् मैंने ओम् सागर मुनि महाराज से जो कुछ सुना वह वर्णित कर रही हूँ—'आचार्य श्री ने उनके निकट पहुँचकर उन्हें पद्मासन से बैठाया, उनके सिर का स्पर्श कर देखा। वे निराधार बैठ गये बिना किसी का सहारा लिए। आचार्य श्री एवं सब मुनि णमोकार मंत्र सुनाने लगे। आचार्य जी ने उनसे पूछा, आप णमोकार मंत्र सुन रहे है क्या ? मैं सुना रहा हूँ, तो वर्णी जी ने आँख खोलकर उनकी ओर देखा। वस्त्र-त्याग की पूछने के बाद वस्त्र भी त्याग दिये। आचार्य श्री ने उन्हें फिर पीछी दी तो कुछ हाथ बढ़ाकर उन्होंने पीछी ले ली और नमोऽस्तु किया। इसके पश्चात् आचार्य श्री ने उन्हें णमोकार-मंत्र उच्चारण करने को कहा तो उन्होंने मन्द स्वर में ओ३म् का दो तीन बार उच्चारण किया और इसके पश्चात् उन्होंने अपने पार्थिव शरीर का त्याग कर दिया।'

मैंने उनसे पूछा—'उन्हें अन्तिम समय कोई कष्ट तो नहीं हुआ, क्योंकि शास्त्रों में 'मृत्यु' के कष्टों का वर्णन है।'

ओम् सागर जी—'नहीं, कोई कष्ट नहीं हुआ। यह दृश्य देखकर हमारा भी संकल्प दृढ़ होता है। साधना में दृढ़ता आती है। बड़े-बड़े मुनि भी इस कठोर-व्रत का पालन करने में अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, इनकी साधना अच्छी है।'

मैं : 'मृत्यु के कोई चिह्न तो शरीर पर प्रकट नहीं थे, जैसा कि आप बता रहे थे।'

ओम् सागर जी— नहीं, ऐसा कुछ नहीं था। वे उत्तम स्थिति में अच्छी गति में गये।'

इस प्रकार २४ मई को दिन के ग्यारह बजे गुरुदेव अपने परम-स्वभाव में लीन हो गये।

उनकी अन्तिम शांत मुद्रा को देखकर आचार्य श्री ने कहा : 'ऐसे भव्य जीव कुछ ही और भवों में मुक्ति के अनन्त सुख के भाजन बनते हैं।'[1]

मृत्युमहोत्सव की इति श्री :

एक दिन मैंने गुरुदेव से कहा था कि आपके व्रत के विषय में पहले से कोई सूचना नहीं थी, तो उन्होंने बड़ा हृदयस्पर्शी उत्साहपूर्ण उत्तर दिया—'यह मृत्युमहोत्सव है, बाबा बहुत ऊँचे जा रहा है।' सचमुच उनका यह मृत्युमहोत्सव महोत्सव ही था। यह तो वहाँ उपस्थित व्यक्ति ही जान सकता था। उनके समाधि का काल बड़ी शान्ति से उनकी आहार की तैयारी, स्तोत्रपाठ सुनाने, मुनिजनों को आहार देने, उनके प्रवचनों में गुरुदेव की आत्मबल युक्त वाणी सुनने आदि में व्यतीत हुआ। यह था उनका जीवनकालीन मृत्यु-महोत्सव। देह-त्याग के पश्चात् इस उत्सव का क्या रूप था वह भी स्मरणीय है—

लगभग ३ घण्टे, ११ बजे से २ बजे तक एक ओर उनके (शरीर के) निकट महामंत्र का पाठ सस्वर हो रहा था। स्वयं गुरुदेव की जन्मदात्री माता एवं उनकी पालिका चाची जी भी उत्साह से कीर्तन कर रही थीं। कोई भी शोकाकुल नहीं था, उनकी इस तप-त्यागमयी मृत्यु को लखकर! दूसरी ओर उनके विमान की तैयारी हुई। उन्हें विमान में आसीन किया गया, पहले ब्रह्मचारियों ने हाथ लगाया और चल पड़ा उनका विमान सोये हुओं को जगाने, प्रबोध देने के अर्थ। महोत्सव के मंगल-सूचक वाद्यों से आकाश गूँज उठा। आगे-आगे उनकी परिचर्या में सतत संलग्न त्यागमूर्ति ऐलक समूह चला। उसके पीछे गुरुदेव का विमान और उनके पीछे-दायें-बायें था अपार श्रावक समुदाय! 'सिद्धान्त सागर की जय' 'सिद्धान्त सागर की जय' ध्वनि के साथ मिश्रित महामंत्र का जोर-जोर से पाठ सभी उत्साह से कर रहे थे। उनकी तपोमयी पद्मासनस्थ देह पर पीले अक्षत श्रावकगण दूर-दूर से चढ़ा रहे थे। जुलूस दो ढाई बजे की तेज धूप में मंगल गीत, गुरुदेव का यशःगीत गाता चला जा रहा था। सड़कें गर्मी से तप्त थीं, लेकिन उनके धर्म-प्रभाव से पदयात्रियों को कोई कष्ट ही नहीं लग रहा था। लगभग ३ बजे उदासीन आश्रम में उनका विमान श्रद्धालुओं के साथ लौटा।

'वर्णी स्तूप' से बायीं ओर उनका समाधि-स्थल। एक चौकी पर उनका पार्थिव शरीर आसीन किया गया। उनके मस्तक एवं हृदयस्थल पर 'स्वस्तिक' ब्रह्मचारी जी ने बनाया। उनका पूजन हुआ। आरती के पश्चात् शरीर को अंतिम संस्कारार्थ रखा गया। चन्दन की लकड़ियों एवं भक्ति से चढ़ाये गये नारिकेलों से उनका शरीर आच्छादित हो गया। भीड़ इतनी अपार थी कि नियन्त्रण करना कठिन हो गया। इस बीच उनकी तपाग्नि की अर्चा करने पार्थिव-अग्नि भी

---

१. 'मुक्ति के बीज'—कल्याणमल झांझरी, कलकत्ता।

प्रकट होकर आकाश को छूने लगी। धीरे-धीरे उनका पार्थिव अस्तित्व भी लीन होने लगा परमाणुओं के रूप में। सारा वातावरण जीवन की नश्वरता के साथ उसकी अमूल्यता का संदेश दे रहा था। सायंकाल श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णी जी के श्रद्धाञ्जलि समर्पित करने हेतु सभा हुई।

[२४-५-८३]

समाधि के अनुपम आदर्श :

इस पञ्चम काल में गुरुदेव समाधि के अनुपम आदर्श रूप में स्मरणीय रहेंगे। आचार्य श्री के शब्दों में सल्लेखना-व्रती का माहात्म्य सुनिये—

'जीवन्त तीर्थ तो यही हैं—ये चेतन हैं, जब कि परम्परागत तीर्थस्थल अचेतन हैं।'

२५ मई १९८३ को आचार्य श्री सहित सभी मुनियों आदि का उपवास था। मध्याह्न के समय पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी की समाधि पर आचार्य श्री का मार्मिक प्रवचन हुआ। समाधि की अनुपमता के द्योतक उनके कुछ शब्द सुनिये—

'इतनी आशा नहीं थी जितनी कि सफलता मिली, क्योंकि उनका कृशकाय था। मैं तो तीन वर्ष से टालता जा रहा था, इनके कृशकाय को देखकर। यदि कहीं बिगड़ जाय सल्लेखना तो यह ऐसा विद्यालय है कि फिर एडमीशन ही नहीं होगा, लेकिन अच्छी से अच्छी सफलता मिली। मैंने बहुत सल्लेखना देखी है, लेकिन आचार्य शान्तिसागर जी के बाद ऐसी सल्लेखना विरले ही होती है। मुझे विश्वास है कि उन्होंने उत्तम से उत्तम गति पाई होगी। इस भव से तो मोक्ष संभव नहीं, पंचम काल है। हाँ! अब से एक-दो भव में वे अवश्य मोक्ष प्राप्त करें—ऐसी भावना है। मेरी भी ऐसी सल्लेखना हो।'

इस आदर्श की छाप प्रत्येक साधु, श्रावक के मानस पर अमिट बन गई। एक नव दीक्षित युवा ब्रह्मचारी जी तो गुरुदेव के 'शान्ति-पथ प्रदर्शन' को पढ़कर ही इस मोक्ष-मार्ग में आये और श्रद्धाञ्जलि के समय ही उन्होंने अन्त में सल्लेखना धारण करने का दृढ़ संकल्प ले लिया—यह था उसी आदर्श का प्रभाव! अन्य श्रावकों ने भी अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार उनकी समाधि-स्मृति में व्रत लिए। इस प्रकार वे 'मृत्युञ्जयी जिनेन्द्र वर्णी' के रूप में अमर हो गये। सल्लेखना-महाव्रत की साधना जिसका तपोमय मार्ग था।

यह साधना थी साधक की, मोक्ष-मग में जाने की।
यह आराधना थी वर्णी की, शान्ति-शौख्य पाने की॥
यह त्याग था, निःस्पृह-जिनेन्द्र का गीत गाता।
यह तप था, उस तपसी का सिखाता मर्म तप का॥
यह जीवन था लघु, किन्तु गाता विस्तृत गाथा।
यह देता है दर्शन, समता-प्रिय गुरु वर्णी को॥

उनका प्रशस्त कार्य

"श्री जिनेन्द्र वर्णीजी ने समाधिमरण अङ्गीकार कर आत्मभाव का विकास किया। उन्होंने सल्लेखना जैसे कठिन और महाव्रत को स्वीकार कर एक अपूर्व दिव्यभावना प्रकट की। उनकी रचनायें समाज को सदैव ज्ञानदीप्ति प्रदान करती रहेंगी। उनका "जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश" तो एक लेंड मार्क है, एक महान् रचना है। 'समणसुत्तं' के संकलन में उनका महाचेतनाशील उदारयोग सद्भावपूर्ण वातावरण तैयार करने में सफल रहा है, साम्प्रदायिक एकता के पथ को इसी प्रकार तो प्रशस्त किया जाता है।"

—डॉ० निज़ामुद्दीन, एम० ए०, पी-एच्० डी०
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, इस्लामियाँ कॉलेज,
श्रीनगर (कश्मीर)

•

Homage to Pujya Jinendra Varniji

—by Dr. D. S. Kothari

The name of Pujya Varaniji would always remain associated with "Samana Suttam" which is widely recognized as one of the most important and far reaching contiibutions to Jain Literature ever made. It became possible on the occasion of the 2,500th Nirvana Celebration of Bhagwan Mahavir largely if not entirely because of the deep scholarship and tireless efforts of Varaniji. His unique Services to Jainism and to the cause of "Ahimsha" would continue to be a source of great strength and inspiration for generation to come.

The greatest tribute we could pay to the memory of Varaniji and such persons are very rare at all times, would be to effectively promote the spread of "Samana Suttam" and its message so profoundly relevant today in the Atomic age.

I was fortunate to meet Varaniji on the occasion of the honour done to him by the Vaishali Institute, and that memory of an extra-ordinary erudite person, totally dedicated to cause of "Ahimsha." I shall always continue to cherish.

•

आत्मचिन्तन की मुद्रा में वर्णी जी

वर्णी जी अति अशक्तावस्था मे देवदर्शन को जाते हुए

आचार्यश्री के प्रति विनयावनत वर्णी जी

आचार्यश्री विद्यासागर जी से सल्लेखना व्रत लेते हुए श्री जिनेन्द्र वर्णी

देवदर्शन करते हुए वर्णी जी

वर्णी जी आहार हेतु जाते हुए

शरीर असमर्थ किन्तु आत्मा दृढ़

वर्णी जी आहार ग्रहण करते हुए

ईसरो में श्रद्धालु भक्तगण सेवारत

वात्सल्य-मूर्ति वर्णी जी

वर्णी-साहित्य
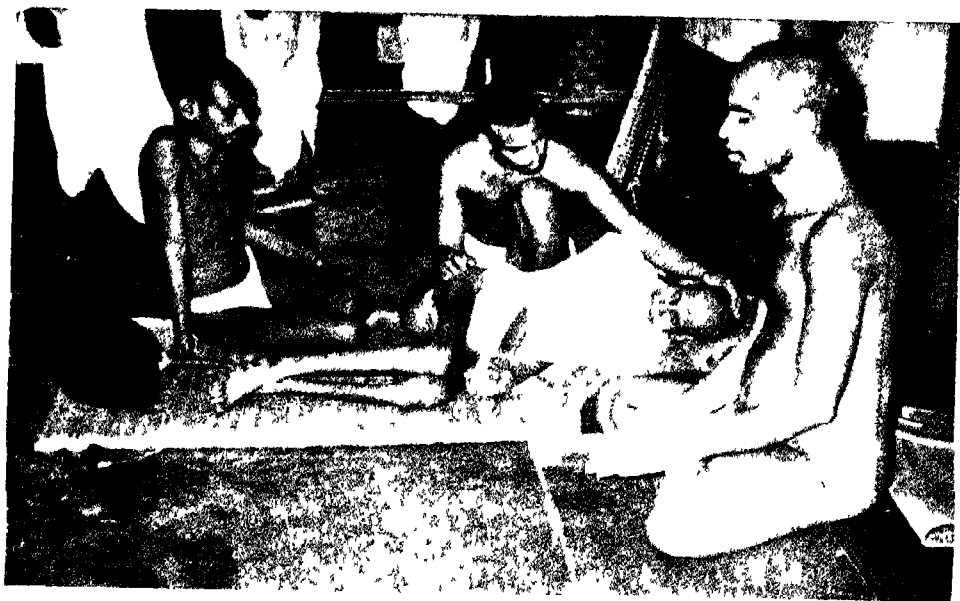
समाधि साधना के सहयोगी ऐलक द्वय एवं आचार्यश्री

आचार्यश्री: संघ के साथ प्रतिक्रमण कराते हुए

समाधिमरण के पश्चात् वर्णी जी का पार्थिव शरीर

वर्णी जी का पार्थिव-शरीर एवं वाराणसी के श्रद्धालु भक्तगण

काव्याञ्जलि

• •

प्रभु जिनेन्द्र की पावन वाणी, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा

श्री राजमल पवैया, भोपाल

●

प्रभु जिनेन्द्र की पावन वाणी, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा।
सुनकर समता भाव जगा है, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा ॥
रागद्वेष मोहादि विकारों के स्वरूप को पहचाना,
द्रव्यों की स्वतंत्र सत्ता को, जिन प्रवचन सुनकर माना,
कर्मबंध का कारण है, मिथ्या तम का ताना बाना,
अविरति योग प्रमाद कषाय आस्रव को भी हमने जाना,
साम्यभाव रस वर्षा पाई, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा।
प्रभु जिनेन्द्र की पावन वाणी, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा ॥१॥

चातुर्मास पूर्ण करके, प्रस्थान कर रहे वर्णी जी,
मोक्ष मार्ग के पथ पर ही, अभियान कर रहे वर्णी जी,
जिन आगम का शुभ अनुपम, गुणगान कर रहे वर्णी जी,
जन-जन में जिनवाणी का, बहुमान भर रहे वर्णी जी,
ज्ञान सूर्य की किरण मिली है, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा।
प्रभु जिनेन्द्र की पावन वाणी श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा ॥२॥

कैसे विदा करें हम तुमको, समझ नहीं कुछ आता है,
आज विदाई समारोह भी, छोटा सा दिखलाता है,
उपकारों का बदला हम से, नहीं चुकाया जाता है,
श्रद्धांजलि अर्पित करने का, भाव हृदय में आता है,
जिनवाणी का तरु विकसित हो, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा।
प्रभु जिनेन्द्र की पावन वाणी, श्री जिनेद्र वर्णी द्वारा ॥३॥

जिन वाणी के नये-नये ग्रंथों की रचना आप करें,
समता की अविरल धारा से, भव-भव का संताप हरें,
शत वर्षों तक जीवित रहकर, निजस्वभाव का जाप करें,
हम सब उपदेशों पर चलकर, अपने मन का पाप हरें,
जिन शासन की महिमा फैले, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा।
प्रभु जिनेन्द्र की पावन वाणी, श्री जिनेन्द्र वर्णी द्वारा ॥४॥

और

वर्णी जी से यही विनय है, अब प्रवचन आरंभ करें।
अगले वर्ष पुनः पधार कर, चातुर्मास प्रारंभ करें ॥

●

विनयाञ्जलि

श्री गुलाब चन्द्र जैन वैद्य, ढाना

●

[१]

हे विद्या वाचस्पति ! हे जिन वाणी के आराधक !
अप्रमत्त योगी क्षमता समता के शुचि संवाहक।
श्री जेनेन्द्र सिद्धान्त कोश के उद्भट रचनाकार,
युगों-युगों तक भूल न पायेंगे असीम-उपकार।

[२]

जैन एकता का जो बीज विनोबा जी ने बोया,
समणसुत्त जैन गीता का तुमने रूप संजोया।
तथा अन्य साहित्य सृजन के श्लाघनीय आधार,
हे साधक ! हे शान्ति दूत ! हे गरिमा के भण्डार !

[३]

जीर्ण देह जब बाधक दिखी धर्म साधना में,
तब समाधि से देह त्याग श्रेयस्कर समझा मन में।
पार्श्वनाथ के पादमूल सम्मेदशिखर में जाकर,
मिले समाधि साधना हित आचार्य सु विद्यासागर।

[४]

फिर चौबीस मई तेरासी का पावन दिन आया,
स्वर्ग-मुक्ति पथगामी बनकर छोड़ी नश्वर-काया।
अमर रहेगी तव कर्मठता निस्पृह देहागार,
हे निष्काम मनीषी ! आत्म - विजेता करुणागार !

[५]

यद्यपि कर्मोदय से पाई रुजा कान्त ही देह,
किन्तु आत्मसाधक को कैसे हो काया पर नेह ?
अतः संयमी बनकर त्यागा तुमने मोह विकार,
प्रस्तुत है तव चरणों में यह विनयाञ्जलि साभार।

●

श्रद्धा-सुमन

डॉ० शोभनाथ पाठक एम० ए० पी०-एच० डी०, भोपाल

●

वर्णी जी की वरीयता, हम गाते नहीं अघाते हैं।
श्रद्धाञ्जलि का श्रद्धासुमन, समर्पित सतत चढ़ाते हैं।

जीवन भर तप-त्याग-तपस्या, जिनवाणी के गायक थे।
महावीर के महाव्रतों से, युग-पोषक, उन्नायक थे।
आगम-अंग-उपाङ्ग आदि की अति अगाध अतुलित थाती।
वर्णी जी की वाणी प्रतिपल, सुधा-सिक्त रस बरसाती॥
ऐसी दिव्य विभूति विछोहित, अविरल अश्रु बहाते हैं।
वर्णी जी की वरीयता, हम गाते नहीं अघाते हैं।

कर्मठता, सौम्यता-सहजता-प्रज्ञा-प्रखर-ज्ञान दाता।
श्री जैनेन्द्र कोश के कर्ता, का विछोह, उर अकुलाता॥
'समणसुत्त' युग सन्त प्रभावित, ज्ञान राशि के नगाधिराज।
कितनी अखर रही आकुलता, उस अभाव की पूर्ति न आज॥
श्री जिनेन्द्रजी की जय-जय से, हम असीम सुख पाते हैं।
श्रद्धाञ्जलि का श्रद्धासुमन-समर्पित सतत चढ़ाते हैं॥

काशी पर जो कृपावान थे, पन्द्रह वर्ष व्यतीत किये।
पांच-व्रतों का रत्न बांट कर, जन-जन का कल्याण किये।
"मैदागिन" भी महक उठी है, अब स्वाध्याय कक्ष पाकर।
अतः 'स्मरणांजलि' समर्पित, उद्घाटन के अवसर पर।
२४ मई ८३ का दिन, देह त्याग हुलसाते हैं।
वर्णी जी की वरीयता, हम गाते नहीं अघाते हैं॥

●

शत-शत नमन

श्री कुमार प्रदीप, पानीपत

●

वर्णीजी को
जिन्होंने—
शब्द-शब्द
सागर रचा है
बूँद-बूँद
सागर मथा है

वर्णी को शब्द
और शब्दों को वाणी दी है
जिन्होंने—
अर्थों का जीवन
और जीवन को नये अर्थ दिये हैं
मेरा शत-शत नमन !

●

दुर्बल काया सबल आत्मबल

श्री ज्ञानचन्द्र 'ज्ञानेन्द्र', ढाना,

●

दुर्बल काया में सबल आत्मबल
बोलो आतम-रस घोली।
जिसने भी शुचि श्रवण किया
अपनी मैली करनी धोली ॥

था अस्थि पिंजरा जर्जर तन
में लिये 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष'।
मन-वचन-काय को संयत कर
चारित्र-ज्ञान का किया घोष ॥

रख दिया 'समन सुत्तं' जैसे
गागर में सागर को समेट।
प्रचलित पन्थों के ग्रन्थों में
जो वर्णित संगति से लपेट ॥

दरशाया सत्पथ चरम लक्ष्य में
जो भी अन्य भुलावा था।
उन निर्देशों संकेतों को
सन्त विनोबा ने अपनाया था ॥

सम्मेद शिखर पर स्वयं
श्री विद्यासागर से विधि चाही।
शास्त्रीय सल्लेखना सा धनका
चल पड़े मोक्ष-पथ के राही ॥

भविकों को भव-सागर तरने
जो दिशा दिखाई आचरणी।
युग-युग तक याद रखेगा युग
तुमको जय हे ! जिनेन्द्र वर्णी ॥

●

अञ्जलि

श्री नेमीचन्द जैन, स्याद्वाद महाविद्यालय, वाराणसी

●

सततसाधक, कर्मयोगी, प्रेमप्रतिमूर्ति, काशी में,
पूज्य 'जिनेन्द्र वर्णीजी', शान्ति-पथ के प्रदर्शक थे।
ये 'स्मरणाञ्जलि' सबको, त्याग-तप के सुसाधन में,
करे समता, मिले समता, पूज्य वर्णी के दर्शन में ॥
महर्षि के सुदर्शन में ॥

सतत जिनवाणी आराधन, देह ममता को तज करके।
ग्रहण सल्लेखना कीनी, गुरु 'विद्या-सु-सागर' से ॥
तपोनिधि के सुचरणों में ॥

मई चौबीस तेरासी ईसवी सन् रहा सुन लो,
कि समता के सुसाधक को, समाधि में था जब देखा।
अनोखी सौम्यता देखी प्रेमप्रतिमूर्ति कर्मठता,
सजगता और निस्पृहता मिली जो थे, वहाँ जो भी ॥
ये 'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोश' है बहिरा इन बिन जान।
'समणसुत्त' का प्रणयन करके वर्णी हुए महान ॥
'शान्ति पथ प्रदर्शन' उनका 'कर्म सिद्धान्त' महान।
'कर्म रहस्य' 'नय-दर्पण' प्रणयन 'सत्यदर्शन का ज्ञान ॥
ये 'पदार्थ विज्ञान' है देखो, 'वर्णी दर्शन' जान।
और अभी 'वैदिक पुराण-का-मंथन' करो सुज्ञान ॥
'उपनिषद्-संकलन' है उनका 'महायात्रा' का यान।
सत्साहित्य के निकट में, आकर करो सुआतम ज्ञान ॥

●

श्रद्धांजलि हमारी

हास्यकवि हजारीलाल 'काका', सकरार

●

तन से त्यागने वाले सल्लेखना व्रतधारी,
ऐसे श्री जिनेन्द्र वर्णी को, श्रद्धांजलि हमारी,
जीवन भर की सतत साधना अन्त समय फलती है,
बिना आँच खाये साँचे में धातु नहीं गलती है,
मोक्ष मार्ग पर त्याग-तपस्या की गाड़ी चलती है,
बिना आचरण के बातों से मुक्ति नहीं मिलती है,
जिनने जग के आकर्षण को हरदम ठोकर मारी,
ऐसे श्री जिनेन्द्र वर्णी को श्रद्धांजलि हमारी,
शांति दूत बन करके ही जो इस जग में आये थे,
जिन वाणी में डुबकी लेकर कई रत्न लाये थे,
जैन एकता का प्रतीक ही दिया **समणसुत्तं'** है,
'जैनेन्द्र सिद्धान्त कोष' से भाषा हुई सुगम है,
'कर्म रहस्य', **'नयचक्र'** बताते जग की स्थिति सारी,
ऐसे श्री जिनेन्द्र वर्णी को श्रद्धांजलि हमारी,
मार्ग प्रशस्त करेंगी ये वर्णी जी की रचनायें,
जैनधर्म की ये थाती हैं इनको गले लगायें,
ऐसे सन्त पुरुष की स्मृति अब इस भाँति मनायें,
इनके उपदेशों पर चलकर जीवन सफल बनायें,
तभी सफल होगी 'काका' ये स्मरणांजलि विचारी,
ऐसे श्री जिनेन्द्र वर्णी को श्रद्धांजलि हमारी,

●

जय-जय 'जिनेन्द्र' वर्णी जी

श्री कामता प्रसाद जैन, वाराणसी

●

ज्ञान का मणि-दीप 'वह',
जलता रहा, जलता रहेगा।
त्याग - मय - जीवन - कथा
इतिहास युग-युग तक कहेगा ॥१॥

क्षीण - सी कृश-काय में,
अध्यात्म का भंडार अनुपम।
सत्य-साधक, आत्म-चिन्तक,
स्नेह - विनय अपूर्व - संगम
मौन, मुखरित-दिव्य-वाणी,
सुधा-रस, जन-जन चखेगा ॥२॥

धर्म-प्राण, महा-विरागी,
जिन-जगत - आलोक - नूतन।
था परम सौभाग्य अपना,
हुआ तव-साक्षात्-दर्शन ॥
सौम्य-रूप सदा तुम्हारा,
हृदय-पट-अंकित रहेगा ॥३॥

'शान्ति-पथ का प्रदर्शन' रच,
सुगम-पथ जग को सुझाया।
जैन-दर्शन को नवीन,
कृतित्व से जिसने सजाया ॥
उस महा-साधक-विचारक,
का जगत वंदन करेगा ॥४॥

जयति जय हो, जय तुम्हारी,
जय सदैव 'जिनेन्द्र वर्णी'।
धवल-यश से सदा, अविकल,
रहे गुंजित गगन-धरणी ॥
दिये 'रत्न' अमूल्य जिनका,
जिन-जगत अर्चन करेगा ॥५॥

●

युग-पुरुष

श्री प्रताप सिंह जैन, मैनेजर, बनारस स्टेट बैंक सीतापुर

हे तपस्वी ! तप तुम्हारा, सूर्य सम देदीप्य था।
हे मनस्वी ! मन तुम्हारा, चन्द्र सम आलोक्य था ।।
तुमने जगाया मानवों को, सो रहा सदियों से था।
तुमने बताया आत्म पथ, भूला रहा सदियों से था ।।
ध्येय-चिंतन, तत्त्व-चिंतन, लक्ष्य था तुमने बनाया।
रुक सके क्या चरण तेरे, जीव को अमृत पिलाया ।।
भौतिक जगत की कालिमा, तप-तेज से शरमा रही।
कमलवत् तुम खिल रहे वैराग्यता छलका रही ।।
फूल सा कोमल हृदय, वाणी बनी अमृतमयी।
नेत्र में थी सरलता, वो देह थी चन्दनमयी ।।
चिन्तन-मनन और अध्ययन, शृंगार था तुमने बनाया।
समय ठहरे, तुम न ठहरे, गर्व को तुमने भुलाया ।।
समय की इस दृढ़ शिला पर, लेख ऐसा लिख दिया है।
मिट नहीं सकता कभी, पथ भी प्रकाशित कर दिया है ।।
दीप ले हम ढूँढ आये, तुमसा मिला ना युग पुरुष।
पर्याय थे तुम जैन के, वर्णी बने तुम युग पुरुष ।।
धन्य है वो माँ तपस्विनि, जिसने जना वह युग पुरुष।
झुक रहे मस्तक हमारे, धन्य तुम थे युग पुरुष ।।

●

मेरे गुरु

श्रीमती मिर्जा जैन, वाराणसी

समता के पुजारी थे गुरुवर,
निज रस में डूबे रहते थे।
एकान्त के वासी थे गुरुवर,
अन्तर में समाये रहते थे ।।
गुरु ! गुण के तुम भंडारी थे,
शान्ति के नाथ ! पुजारी थे।
कितने महान तुम थे गुरुवर,
कोई न तुम्हें पहचान सका ।।
वाणी को उनकी अमल करूँ,
जीवन को अपने सफल करूँ।
उनकी जीवन-चर्या का मैं,
किन शब्दों में गुणगान करूँ ।।

●

गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे

कु० मनोरमा एम० ए०, शोधछात्रा रोहतक

●

पावन पुनीत प्रज्वलित प्रकृष्ट, अध्यात्मपथ के प्रभाकर !
प्रेम-मूर्ति शान्तिपथिक तुम, जन-जन के सहयोगी थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

सत्य प्रणायक समतामूर्ति, सबल ज्ञान के दिवाकर !
सत्य खोज में कर्मयोग में, समरस के संभोगी थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

कृश तन, दृढ़ मन, व्रतपन प्रवीण, वर्णी वर्णों के रत्नाकर !
ज्ञान-भक्ति और कर्मयोग के, तुम कर्मठ तपयोगी थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

निश्छल-निर्मल-निर्मम-निस्पृह, स्याद्वाद के प्रभाकर !
बालक जवान वृद्ध स्त्री पुरुष, सब हृदयों के संयोगी थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

करुणा-निधान समता प्रकाश, मुक्ति पथ के तुम दिवाकर !
सत्य-सरल-कोमल-वच से, जन-हृदयों के सहयोगी थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

सज्जीवन दाता मार्ग प्रदाता, शिष्य हृदयों के उजियागर !
कोमल-कठोर प्रेमी-निस्पृह, नवजीवन के सहयोगी थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

रोग-युक्त भवरोग-मुक्त, तुम कर्म रहित थे कर्माकर,
देह-युक्त पर देह-मुक्त थे, मुक्ति पथ के उद्योगी थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

सिद्धान्तकोश, वर्णीदर्शन, नयचक्र, शान्तिपथ रचनाकर !
कर्मरहस्य, समणसुत्तं, सद्दर्शन के प्रयोगी थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

आचार्य समन्त विद्यासागर, विनोबा के परम स्नेहाकर !
मनोरम अर्हन्त सूरज सुरेश, निर्मल रत्न मनमोही थे।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

निज दर्शन से पद स्पर्शन से, वच श्रवणन से कृतार्थकर !
'मनोरम' मन की श्रद्धाञ्जलि, तव चरणन से संयोगी है।
गुरुवर तुम अद्भुत योगी थे ॥

●

सादर समर्पित

श्रीमती रंजना जैन, एम० एफ० ए०, लखनऊ

●

चरणों में तेरे श्रद्धा के सुमन
चढ़ाऊँ तो कैसे, किस तरह,
अपनी तूलिका से ?
नहीं....नहीं....
तूलिका तो बनाती है दायरे सीमित
सीमित रेखा और रंग
परन्तु....जो,
अवर्णनीय है, अतुलनीय है
तेरा हृदय, प्यार का अथाह सागर
तूलिका में बाँधू तो कैसे ?

ये तूलिका थी अंधेरे में अब तक
न विचार न प्रकाश....
रचनाएँ थीं अनेकों, पर,
न थे रंग, न चमक
चरणों में तेरे जब शरण गही
मैंने भी जीवन पाया, और,
तूलिका ने मेरी....
नई ज्योति, एक नया रास्ता

पुत्री समझ जब तेरा
वरद-हस्त ऊपर आया
एक प्रकाश....नवीन प्रकाश
हृदय-स्थल में जलता पाया,
फिर उठी तूलिका,
कुछ बने चित्र....
वो तेरी कृपा, तेरा आशीष
और तेरा ही स्नेह
इक छोटी सी कलाकार,
इक छोटी सी तूलिका,
हैरान है, परेशान है,
प्यार की स्नेहिल मूरत।
अंधियारे के प्रजवलित दीप !
चरणों में तेरे
श्रद्धा के सुमन
चढ़ाऊँ तो किस तरह ?

●

अजेय प्रहरी

डॉ० रजनी जैन (रत्ना), वाराणसी

●

हे आत्मालय के जिन
हे सिद्धाकाश के प्रखर प्रभाकर
हे दिव्य वाणी के ओंकार रूप
मानवता की प्रतिमूर्ति
प्रेम, समता, सत्य, अहिंसा के अजेय प्रहरी
यावज्जीवन जिनवाणी के आराधक
हे भदैनी घाट के साधक
काशी के गौरव जिनेन्द्र वर्णी
आपकी कीर्ति कुसुम की गंध से
दसो दिशाएँ महक उठीं
आपके यश:गान की स्वर लहरी से
धरती और अम्बर गूंज उठा
आपकी गरिमा की पावन जल धारा
पूर्व से पश्चिम
उत्तर से दक्षिण
युग-युगों तक
अनवरत प्रवाहित होती रहेगी
हे जैन सिद्धान्त शब्द रत्नाकर के
झिलमिल बिन्दु
प्रवर महिमामण्डित सिद्धान्त सागर
समाधि की स्वर्णिम बेला में
उस निराकार ओझल गुरुवर के
चरण-कमल के पावन तट पर
अर्पित है
मेरा मस्तक
हे कलयुग की चित् ज्योति
तुम्हें कोटिशः वन्दन

●

एक पुनीत संस्मरण

श्री सुरेश गार्गीय, पानीपत

●

आत्म बल था,
या थी प्रभु इच्छा !
एक क्षीण सी काया
कोई एक क्षण आया
न जाने कैसे ?
वाणी के चरणों में,
लोट गई बेहोश
मुख रहा खामोश
काया ढलती गयी
लेखनी चलती गई
न थी रात, न हुआ प्रभात
बढ़ता गया पन्नों का संघात
किसे आयेगा विश्वास
पर जिसने देखा
उससे पूछो
था कोई दिव्य उल्लास !
काया ढलती गई
लेखनी चलती गई
कोश बन गया
पर कैसे ?
क्या इस क्षीण काया से ?
प्रश्न बना रहा
पर विश्वास करना पड़ा
मस्तक नत है
वाणी-सुत के
पावन चरणों में।

●

सुगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर !

श्रीमती शकुन्तला जैन, वाराणसी

●

समता सागर धर्मकेसरी वीर।
सगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर ॥ टेक ॥
पूज्य वर्णीजी शान्ति-निधान, तत्त्वद्रष्टा सिद्धान्त-सुजान।
प्रवचनों में नित्य इसी का गान, सुनत भवि करें सत्य श्रद्धान ॥
रूढ़िवाद से दूर आत्मबल धीर।
सुगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर ॥१॥
राजे रत्नत्रय त्रय छत्र, कवच दशलक्षण धर्म पवित्र।
कर में स्याद्वाद् सा अस्त्र, फिर क्यों विजय न हो सर्वत्र ॥
सहते पर होते न रञ्च दिलगीर।
सुगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर ॥२॥
नभ से विशाल निर्लिप्त तथा निष्पक्ष, रागद्वेषगत समता समक्ष।
सुनय-सापेक्ष समन्वय वक्ष, सत्यशासन के सेनाध्यक्ष ॥
सुदर्शन चक्र ज्ञान शमशीर।
सुगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर ॥३॥
प्रकाशन-भार कोश का धार, पधारे काशी नगर मँझार।
भाग्यवश आये तारक द्वार, सुनकर उमड़ पड़ा उद्‌गार ॥
धन्य वह घड़ी खुली तकदीर।
सुगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर ॥४॥
देख भक्तों का परम हुलास, और अनन्तर की कोई प्यास।
कृपावश जगा तुरत विश्वास, स्व-पर-हित करूँ यहाँ आवास ॥
क्षमा की साक्षात् तस्वीर
सुगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर ॥५॥
बालवत सरल प्रेम व्यवहार, धर्म का मर्म शास्त्र का सार।
थी उपदेशामृत सुखकर, मुग्ध हो नाच उठे नर-नार ॥
लगी भक्तों की भारी भीर।
सुगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर ॥६॥
महा सौभाग्य उदय आया, सरल छवि सौम्य दर्श पाया।
प्रेम का उदधि उमड़ धाया, अपूर्व रस नस-नस में छाया ॥
'शकुन' की मिटी भवान्तर-पीर।
सुगुरु वर्णी जिनेन्द्र गम्भीर ॥७॥

●

मेरे बाबा

कु० साधना जैन, वाराणसी

मेरे पूजनीय !
क्या नाम दूँ मैं तुम्हें ?
बाबा कहूँ गुरुवर—
या
प्रेम का वात्सल्य भरा सागर ?
सब लोग,
तुम पर कुछ न कुछ लिख रहे हैं
लेकिन,
मैं—
तेरे स्नेह को कैसे बाँधू शब्दों में ?
जब
कभी तेरे पास
मैं
काफी दिनों बाद जाती थी
तब
तेरी
वो
प्यार भरी मार,
तेरी कहानियाँ,
जो मैं बचपन में सुना करती थी
मुझे
आज भी याद हैं !
सच !
विश्वास नहीं होता
कि—
अब तुम कभी नहीं मारोगे।
या
तेरे स्नेह का हाथ मेरे सर पर नहीं होगा !
लेकिन,
मुझे विश्वास है
तुम
आओगे और दोगे
मुझे वात्सल्य भरा प्यार।
बाबा !
तुम स्वप्न में ही आना
लेकिन,
जरूर आना।

शत-शत बार नमन !

कु० कुन्ती जैन, दमोह

मेरे मन के
सूर्य तुम, उस सूरज की
छवि
निहारते हुये,
प्रतीत हुआ
जैसे—
सूर्य अपने में
बिम्ब को देख रहा हो।
तुम्हारे
चेहरे का तेज
मुझे देता है,
हर बार हर क्षण
हर पल, एक
नयी अनुभूति।
जहाँ,
कहता है
तुम नहीं हो
और मेरा
मन
कहता है—
तुम
यहीं कहीं हो।
जब तक
संसार है
तब तक
तुम हो
या
कह नहीं सकती
कब तक………।
आज
अपने आगार में
तुम्हें
शत-शत बार
नमन !

महा संत वर्णी महान्

श्री प्रेमचंद्र जैन विद्यार्थी, दमोह

पानीपत की धरणी पर।
वर्णीजी का अवतार हुआ
पद-रज को छू गौतमतिय-सा
मानवता का उद्धार हुआ।

× × ×

क्षण-भंगुर जीवन से जिनको
किंचित् अभिमान नहीं आया।
जिनके चरणों पर शीश झुका
झुक गई विश्वव्यापी माया।

× × ×

जिनके आदर्शों पर चल कर
मानव को पथ-निर्वाण मिला।
जिनके आशीषों से पीड़ित
शोषित जन को कल्याण मिला।

× × ×

दानी ज्ञानी ओ महा संत!
भव-सागर की नौका समान।
शत शत प्रणाम ओ वीतराग!
ओ महा संत! वर्णी महान्॥

●

श्रमण

वैद्य कपूर चन्द्र विद्यार्थी, दमोह

तुम थे श्रमण सांस्कृतिक प्रहरी, सम्यक् दर्शनधारी।
शोध बोध के ज्ञाता ध्याता, महाव्रती अधिकारी॥१॥
जीर्ण-शीर्ण काया को पाकर, भी तुम अथक रहे हो।
निज दायित्व पूर्ण करने को, कोटिन कष्ट सहे हो॥२॥
वज्र-साधना चर्या लख कर, काल बली भी हारा।
सफल किया "जैनेन्द्र कोष" रच, विघ्नों को ललकारा॥३॥
तुम थे काल-जयी सेनानी, धर्मस्थल के नंदन।
अर्पित, श्रद्धांजलि चरणों में, कोटि कोटिशः वन्दन॥४॥

●

● ●

तुम्हें नमन है

श्रीमती सुधा अग्रवाल, वाराणसी

वर्णी !
तुम्हारा वर्णन
क्या करें हम ?
जो स्वयं वर्णित है—
अपने कर्तृत्वों से।
क्या शब्दों में बाँधकर
तुम्हारी महत्ता को सीमित कर दूँ ?
भी नहीं चाहता।
अथवा सूर्य को
मिट्टी के दिये का प्रकाश दिखलाकर
अपना उपहास कराऊँ ?
मैं नहीं चाहता।

मेरा तो
सिर्फ नमन है
तुम्हारे चरणों में
नित्य ही बारम्बार
वैसे ही
जैसे कि
उदित हुए सूर्य को
लोग रोज नमन करते हैं
जीवन में प्रकाश पाने के लिये
वैसे ही हम सबका
तुम्हें नमन है—
तुम्हारा गुण अपनाने के लिये।

●

गुरु महिमा

श्रीमती कमला जैन, वाराणसी

गुरुदेव तुम्हारे वचनों को, भवि जीव ही तड़फा करते हैं।
गुरु बोधी प्रगटाने को, अन्तर में पुकारा करते हैं ॥१॥
गुरुदेव दया करके भी, काशी न आते।
अध्यात्म सुधासार कहीं, कौन पिलाते ॥२॥
लाख चौरासी भटके हुए हैरान
गुरुदेव दया करके जो मारग न बनाते ॥३॥
गर तुम्हारा सहारा मिलता रहे, इस जग से किनारा हो जाये।
भव-भव के बन्ध छुड़ाने को गुरु चरणों से प्रीति लगाते हैं ॥४॥

करुणादानी

निधि देके गये, कुछ लेके गये, समझा के गये हैं मेरे गुरु ॥टेक॥
करुणादानी गुरु आये थे, जीवन की कहानी सुनाये थे।
एक राह नई दिखला के गये, समझा के गये.... ॥
गुरु गंगा-ज्ञान बहायी थी, बहती अन्तस्थल आयी थी।
इक क्षण डूबो बतलाके गये, समझाके गये ॥
शान्ति का कूप बताया था, अन्तर में है समझाया था।
उसकी अब डोर थमा के गये, समझाके गये.... ॥
दर्शन की शिष्या अभिलाषी, पाऊँ पद गुरु मैं अविनाशी।
मुझे वचन तुम्हारा याद रहे, समझाके गये.... ॥

●

भावांजलि

ब्र० लक्ष्मी जैन, ब्राह्मी विद्यालय, सागर

जग को तुमने वह आज दिया,
जो दे सकता है एक यति।
पर तुमको खोकर विश्व आज,
हो गया विकल बेकार मति ॥१॥

जब तुम यश - गाथा छोड़ गये,
क्षण-भंगुर तन की छोड़ चाह।
पेशल बल गया हृदय मेरा,
फिर मुख से निकली करुण आह ॥२॥

कलयुग में सतयुग की झलकें,
वर्णी जी तुमने दिखलायीं।
इस तरह तुम्हारी देख लगन,
मानव की आँखें खुल आयीं ॥३॥

स्वार्थ-त्याग की, धर्म-ज्ञान की,
तन-मन से कीनी सेवा है।
जैन-संस्कृति हुई विकसित,
तुमसे मिली मिष्ट मेवा है ॥४॥

आधि-व्याधि से पीड़ित तेरी,
मूर्ति गई पर "कीर्ति" अमर है।
काल-सिन्धु में 'नाम' भी जावे,
पर वर्णी तेरा "काम" अमर है ॥५॥

●

भावाञ्जलियां

"मेरे मन में वर्णी जी के लिए बड़ा स्नेह और आदर है।"

—श्री यशपाल जैन, देहली

"श्रद्धेय श्री जिनेन्द्र वर्णी जी ज्ञान और वैराग्य के ज्वलंत उदाहरण थे। उन्होंने यह सार्थक करके दिखलाया कि—

जीना मरना एक है, जिनको जरा भी ज्ञान है।
यह इधर का मर्तबा है, वह उधर की शान है॥"

[वर्णी जी की वी० डी० ओ० फिल्म भी बनी है, जिसमें उनकी सल्लेखना को जीवन्त देखा जा सकता है।]

—श्री कैलाश चन्द्र जैन, देहली

पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी से मैं दो बार मिला। पहली बार दि०–२२–७–१९७८ को पानीपत में उनके दर्शन हुए थे। मेरे लिए उनका जीवन-सन्देश था—"एकाग्र मन से पढ़ना चाहिए, सुनना चाहिए और मनन करना चाहिए, उसका अधिकाधिक परिपचन करना चाहिये।"

—श्री ओम प्रकाश त्रिखा, पट्टी कल्याणा

पू० वर्णी जी मेरी श्रद्धा के आगार में एक सुरक्षित स्थान प्राप्त करते हैं। मेरा जीवन उन्हीं की कृति—'वर्णी-दर्शन' से आरम्भ हुआ है, यही मेरा गौरव है। उनके लिए परोक्ष नमन !

—श्री किशन जैन, सागर

'वर्णी जी का 'सेवाभाव' मेरे जीवन में गहरी छाप छोड़ गया, जब उन्होंने मेरे मना करते रहने पर भी मेरे घुटने में हुये फोड़े पर विधिवत् पट्टी बाँधी। सल्लेखना के समय ईसरी में मुझे उनके अंतिम दर्शन का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। उनके अनेकों गुण मुझे प्रेरणा देते रहते हैं। ऐसे करुणापूर्ण भव-वैद्य को शत-शत नमन !'

—श्री बाबूलाल जैन, वाराणसी

"कर्म एवं ज्ञान की भाँति भक्ति के क्षेत्र में भी पूज्य श्री जिनेन्द्र वर्णी जी बेमिशाल थे। वाराणसी के भक्ति-समारोहों में जब भी मैं उन्हें भजन सुनाता, वे बड़े तन्मय होकर सुनते थे। जब भी मैं दर्शनार्थ भ नी जाता तो मुझे संगीत-साधना में ऊँचे उठने का परामर्श देते थे। मुझे लगता है कि उनके बिना मेरी संगीत-साधना अधूरी है—कहाँ हैं ऐसे प्रभुनिष्ठ तन्मय श्रोता ? खैर उनके पुनीत वात्सल्य पूर्ण आशीष से मैं संगीत को माध्यम बना कर परमतत्त्व से जुड़ जाऊँ ऐसी भावना है। ऐसे गुरुवर के चरणों में मेरा मस्तक विनत है।"

—श्री अमर सिंह जैन, बी० ए०, वाराणसी

"परम श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णी जी का जीवन मेरी दृष्टि में जीवन में आये तूफानों से टक्कर लेने के लिये पर्याप्त था। संकल्प-शक्ति ही जिस जीवन की नींव थी, वही था उसका शिखर ! 'संकल्प' ही उनकी आत्मा का वह अलौकिक तेज था—जो जीवन-पथ की विषम-धाराओं को चीरता हुआ मार्ग प्रशस्त करता रहा। उनके व्यक्तित्व का दिग्दर्शन कराने के लिये ये पंक्तियाँ ही पर्याप्त हैं—

'जब नाव जल में छोड़ दी
तूफान ही में मोड़ दी
दे दो चुनौती सिन्धु को
फिर पार क्या मझधार क्या ?

यही था उनका जीवन ! और यही था उनका संकल्पमय उपदेश। ऐसे दृढ़ श्रद्धानी भारत-भू के अञ्चल में विरले ही होते हैं। उन्हें मेरा कोटि-कोटि वन्दन !"

—श्रीमती पुष्पा जैन, व्याख्याता (हिन्दी, राजनीति-शास्त्र)
भारतीय गर्ल्स इन्टर कॉलेज, मेरठ

"विलक्षण वन्दन ! विलक्षण स्वरूप ! विलक्षण कृतिमय ! विलक्षण मरणधारक ! तुझे नमन ! शत-शत प्रणमन !"

—श्रीमती निर्दोष जैन, एम० ए०, बी० एड०, संगीत-प्रवीण
प्रधानाचार्या—जोगमाया रस्तोगी बालिका विद्यालय, वाराणसी

"वर्णी जी का व्यक्तित्व ऐसा था कि उन्हें देखकर स्वभावतः ही श्रद्धा उमड़ पड़ती थी और उस श्रद्धा दीप-शिखा से हम बहनों ने बहुत कुछ प्रकाश पाया ! ऐसी परोक्ष फिर भी प्रत्यक्ष—श्रद्धा-मन्दिर में समासीन सरल-सौम्य दिव्यमूर्ति को मेरा प्रतिपल नमन !"

—श्रीमती शालिनी जैन, एम० ए०, वाराणसी

"परम करुणादानी, चैतन्य-विभूति, समता और प्रेम की प्रतिमूर्ति श्रद्धेय जिनेन्द्र वर्णी जी की अमृत वाणी तत्त्व को बताने वाली, सत्य-असत्य का विवेक कराने वाली एवं चैतन्य की महिमा में डुबाने वाली थी। उस समाधिस्थ पूज्य गुरुदेव के चरणों में भक्तिपूर्वक कोटिशः वन्दन !"

—श्रीमती विद्या देवी जैन, वाराणसी

स्मरणाञ्जलि

मेरा तो मन करता था बस उनके पास चुपचाप बैठे रहो और उनकी मूकवाणी जीवन से शान्ति का सन्देश सुनते रहो। उनका जीवन ही ऐसा था जो अनकहे ही सब कुछ कह देता था।

पूज्यवर्णी जी ज्ञान का ऐसा अथाह सागर थे, जो न कभी छलकता और न कभी गरजता, किन्तु उसमें जिज्ञासु मन अपने अनुरूप सभी कुछ पा लेता। चाहे वेद हो या कुरान, गीता हो या रामायण, बाइबिल हो या जैन आगम सभी से उनकी ज्ञान-प्रसादी बटती रहती थी।

श्रीमती कश्मीरो देवी जैन

"मेरे हृदय में भक्ति है, पर व्यक्ति की शक्ति नहीं। उन्होंने मुझे जीवन की विषम-परिस्थितियों में उपदेश देकर उबारा, बल दिया। सामाजिक-रूढ़ियों को तिलाञ्जलि देकर धर्म-पथ पर अडिग बढ़ते रहने की सलाह दी। उनके ही प्रताप से मैं आज अंतर्बल से बलान्वित हूँ। सन् '६८ में उनके उपदेश सुनने का मुझे अमूल्य अवसर मिला ही; शिक्षण का भी बराबर क्रम बना रहता था। जिसमें मैंने नियमित रूप से धर्मलाभ लेने की कोशिश की। 'जैन सिद्धान्त शिक्षण', 'नय-दर्पण', 'तत्त्वार्थसूत्र' आदि अनेक ग्रन्थ पढ़े। जीने की कला, समता, प्रेम उनके अमूल्य अनोखे उपदेश थे हम गृहस्थ जैनों के लिये, जिन्हें भुलाया नहीं जा सकता। सल्लेखना के अंतिम उपदेशात्मक अवसर का भी मुझे अच्छा सुयोग मिला। ऐसे गुरु के चरणों में मेरा पुनः पुनः नमनः !"

—श्रीमती प्रेमा जैन, वाराणसी

करुणासागर वर्णी

श्री नानकचन्द जैन, वाराणसी

महाराज श्री से मेरा सम्पर्क उनके भदैनी प्रवास के समय ही हुआ। उनसे उनकी सेवा के समय बातचीत होती रहती थी। धार्मिक चर्चा में भी जीवन सम्बन्धी बातें अधिक होती थीं, आचरण पर अधिक बल देते थे। वे स्वयं भी इतने नियमित और संयमी थे। जो मुझे बहुत भाता था उनकी कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं था। जैसा लिखते व बोलते थे ठीक वैसा ही उनका आचरण भी था। दिखावट से बिल्कुल दूर रहते थे।

मुझे सबसे अधिक प्रभावित किया था एक घटना ने मार्च ७६ में एक दुर्घटना में मेरी कूल्हे की हड्डी टूट गई अस्पताल में भर्ती किया गया, सभी लोग दुःखी व चिंतित थे महाराज जी को भी पत्र द्वारा इसकी सूचना दी गई उनका आशीर्वाद पाने के लिए। मेरा आपरेशन नहीं किया गया लेकिन कष्ट बहुत था। इस घटना के लगभग ८-१० दिन बाद मुन्नी बाबू महाराज जी के पास से ईसरी से लौटे तो महाराज जी द्वारा भेजा गया आशीर्वाद रूप एक सन्तरा और पत्र मुझे अस्पताल में ही प्राप्त हुआ। उसी रात मुझे स्वप्न में महाराज जी के दर्शन हुए। महाराज ने मेरा हालचाल पूछा और बोले, "बाबूजी आप तनिक भी चिन्ता न करें, मैं आपके पैर को अभी ठीक किये देता हूँ" और उन्होंने तुरन्त अपनी पेटी में से चाकू आदि निकाला और मेरे पैर को चीरकर हड्डी को ठीक प्रकार से जोड़कर सुई तागे से सिल दिया और आशीर्वाद दिया कि तुम्हारा पैर ठीक हो गया। मेरी नींद खुल गई, पीड़ा लगभग समाप्त हो गई थी। पत्नी को जगाया, उपरोक्त स्वप्न को कथा उसे भी बताई यद्यपि यह स्वप्न था किन्तु प्रयत्क्षवत् सत्य, उसमें कहीं भी कृत्रिमता नहीं थी। मुझे रोना आ गया वैराग्य मूर्ति वर्णी जी को मेरे लिए यह करना पड़ा। मैं खूब रोया, दूसरे दिन बराबर रोता रहा।

महाराज श्री पुस्तकों में गीता से और सन्तों में आचार्य समन्त भद्रजी महाराज (बाहुबली) से विशेष रूप से प्रभावित थे। बिनोबा का भी विशेष आदर करते थे। वे तो किसी भी ग्रन्थ को हेय दृष्टि से नहीं देखते थे। एक बार पुराण पढ़ते समय उसके कुछ अंशों पर मेरे आपत्ति करने पर उन्होंने लेखक की दृष्टि को समझाया था। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में आचार्यश्री विद्यासागर जी के सम्पर्क में आने पर वर्णी जी उन्हीं के होकर रह गये।

वर्णी जी प्रायः मौन रहा करते थे। अकारण किसी से बातचीत करना उन्हें पसन्द नहीं था। जो कर सकते थे वहीं बोलते थे। इस विषय में एक घटना का और वर्णन करूं। सन् ७६ के अन्त में श्वांस के रोग व बुखार ने विकराल रूप धारण कर लिया था उपचार से कोई लाभ नहीं हो पा रहा था। वर्णी जी महाराज को यह आभास हो गया था कि डॉक्टरों का क्या मन है तथा शारीरिक स्थिति क्या है अतः उन्होंने धीरे-धीरे आहार त्याग करना आरम्भ कर दिया बिना किसी को कुछ बताये और साथ ही मौन हो गये। धीरे-धीरे सिर्फ पानी लेने लगे हम लोगों ने इसे सल्लेखना का रूप ही समझा। अतः विनोबा जी और आचार्य समन्त भद्र के यहाँ खबर भिजवायी। दोनों जगह से प्रतिनिधि आये वर्णी जी के परिवार के लोग भी आये, सारा समाज एकत्रित था, सभी ने उनसे उस ओर न जाने के लिए प्रार्थना की (इस बीच यह बतला दूँ कि उपवास करने से महाराज का शरीर स्वस्थ होने लगा था। ज्वर, श्वांस दोनों ठीक हो गये थे) महाराज बोले मेरा शरीर मेरा साथ नहीं देता, मैं इसको अच्छा से अच्छा वेतन देता हूँ (भोजन के रूप में) तो मेरा भी यह अधिकार है कि मैं इससे काम लूँ अतः मैंने इसका वेतन बन्द कर दिया मैं कोई दूसरा

सेवक (शरीर) लूँगा जो आज्ञाकारी हो। लेकिन आचार्य जी के आदेश के आगे नतमस्तक हूँ। मेरा और किसी प्रकार का हठ अथवा आग्रह नहीं है।

और अन्त में एक घटना और बताऊँ वर्णी जी के ईशरी प्रवास के समय एक अजीब दृश्य देखने को मिलता था। आश्रम में जो मन्दिर है उसके एक ओर के वृक्षों पर कौए बैठते थे और दूसरी ओर के वृक्षों पर बगुले बैठते थे। मन्दिर के दोनों ओर गड्ढे थे वर्णी जी अपने दूध में से थोड़ा दूध रोटी गड्ढे में डाल देते थे। कौए अपने ओर के गड्ढे में से दूध पीते थे, बगुले अपनी ओर में से। कोई किसी के क्षेत्र में हस्तक्षेप नहीं करता था। यह क्रम नित्य का था। महाराज जी के ईसरी छोड़ देने पर उन पक्षियों ने भी आना छोड़ दिया। गत वर्ष जब महाराज जी सल्लेखना के उद्देश्य से ईशरी पहुँचे तो धीरे-धीरे बगुले फिर आने आरम्भ हो गये, कौए नहीं लौटे थे। २४ मई महाराज के समाधि के दिन लगभग २००-२५० बगुले वहाँ थे। २३ मई से ही उन्होंने अपनी नियमित उड़ान जो दाना पानी के लिए करते थे, छोड़ दी थी। २३ मई से गर्दन नीची करके वृक्षों पर बैठ गये थे, महाराज जी के महाप्रयाण के दिन एक भी बगुला कहीं नहीं गया, भूखे-प्यासे अपने स्थानों पर बैठे रहे। शव-दाह के समय जब अग्नि-शिखा बहुत ऊँची उठ रही थी तब भी बगुले वहाँ से नहीं उड़े। दूसरे दिन सबरे तक ७-८ बगुलों ने शरीर त्याग दिया था। हर घंटे दो घंटे के बाद एक बगुला जमीन पर गिर पड़ता था। घटना विचित्र एवं आश्चर्यजनक है किन्तु सत्य है।

आज वह महामानव हमारे बीच नहीं है। हमारी शायद यह संस्कृति सी बन गई है कि जो चीज हमें उपलब्ध हो उसे हम अनदेखा कर देते हैं। हम उन्हें अपने पास नहीं रख सके लेकिन जितना भी रहे, वह हमारा पुण्य था। ●

☐ गुरुदेव का दर्शन मुझे अनेक जन्मों के पुण्य फल से प्राप्त हुआ था। उन्हीं के चरणों में मन को एकान्त विश्राम मिला। उन्होंने धर्म का असली स्वरूप समझाया और बताया था "मोक्ष बाहर नहीं, अन्दर है—अन्दर ही उसे खोज" महाराज जी ऊर्ध्व लोक में जहाँ भी हों, उनको प्रतिदिन मेरा कोटिश नमस्कार। भव-भव में मेरी गुरु भक्ति बनी रहे यही कामना है।

श्रीमती भगवान देवी जैन, वाराणसी

☐ परम श्रद्धेय महान् कर्मयोगी श्री जिनेंद्र वर्णी जी के विषय में लिखना सूर्य को दीपक दिखाना है। ज्ञान की किरणें उनके जीवन के प्रत्येक कार्यों में प्रस्फुटित होती थीं। सारा जीवन आत्मिक साधना एवं समाज के लिए धर्म का सरल विवेचन समझाते बीता। ऐसे महान् संत के चरणों में शत-शत वन्दन करते हुये मैं स्वयं को एवं इस लेखनी को धन्य समझता हूँ।

श्री अनिल कुमार जैन, वाराणसी

☐ पूज्य जिनेन्द्र वर्णी के व्यक्तित्व में ऐसा आकर्षण था कि जो उनके सम्पर्क में आता उनका प्रशंसक बन जाता। काशी ही नहीं, ईसरी में भी हम लोगों ने उनका दर्शन किया एवं उनकी सल्लेखना व्रत से अत्यन्त प्रभावित हुए। आचार्य श्री विद्यासागर जी से सल्लेखना ग्रहण कर जिस सुन्दर ढंग से उन्होंने अपने जीवन में उतारा वह उनके व्यक्तित्व को बहुत ऊँचा उठा देता है।

शांति पथ के जहाँ वे उपासक थे वहीं निस्पृहता, त्याग, साहित्य साधना उनमें कूट कूट कर भरी थी। प्रवचन उनके इतने सीधे एवं सरल होते थे कि हृदय की अतल गहराइयों तक पहुँच जाते थे। प्रचार एवं आत्म प्रशंसा से वर्णी जी बहुत दूर रहते थे।

हम लोग भाग्यवान रहे कि इस सल्लेखना व्रत को सुफल होते हमने अपनी आखों से देखा है। ऐसे संत को हमारा भक्तिपूर्वक नमन्।

श्री चन्द्रभान जैन, वाराणसी

अन्तिम-दर्शन

ईसरी में पार्थिव शरीर यात्रा २४-५-८३

पूज्य वर्णी जी का महाप्रयाण